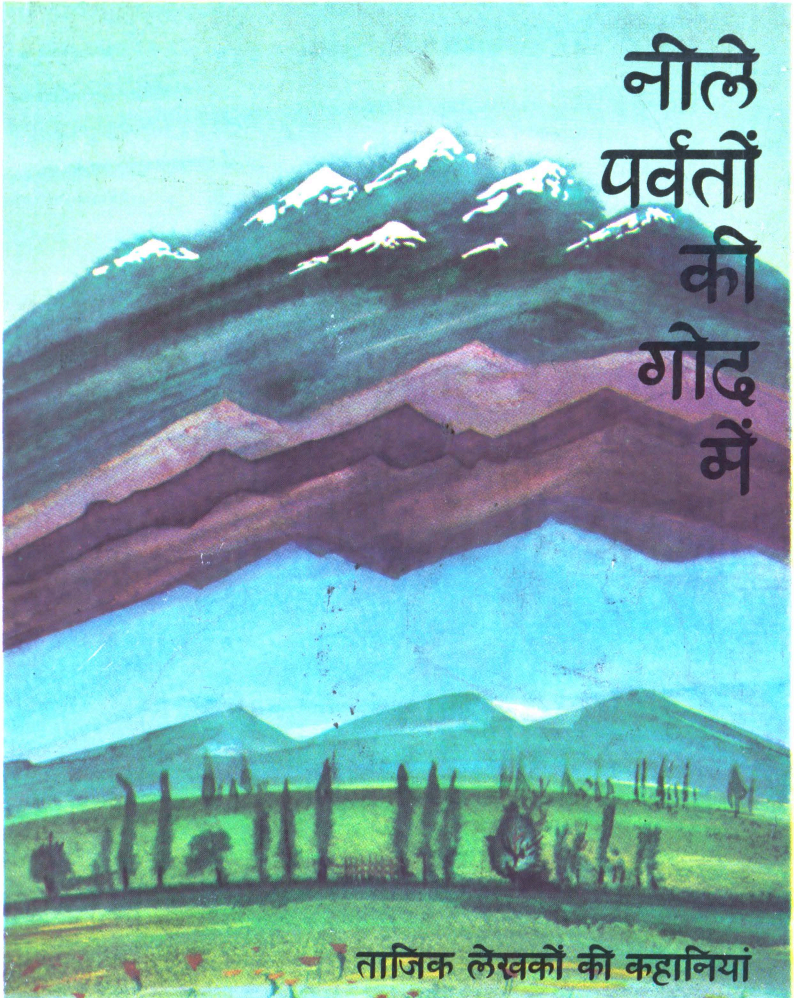
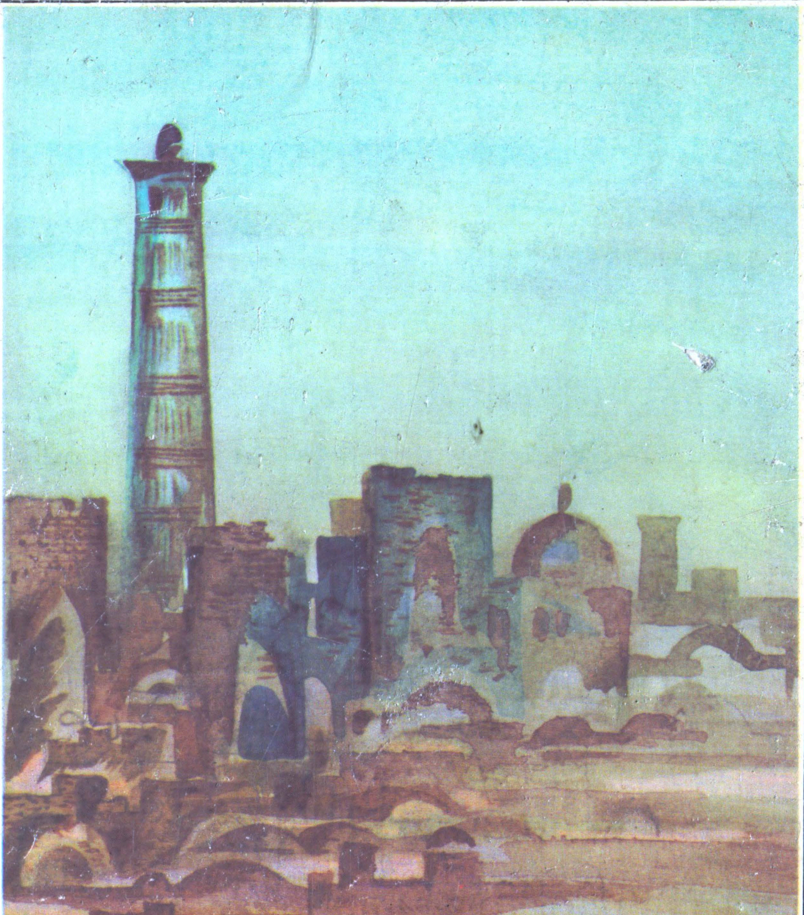


नीले पर्वतों की गोद में

ताजिक लेखकों की कहानियां



अपने बहुरंगी और समृद्ध प्राकृतिक क्षेत्रों की भांति यहां का साहित्य और संस्कृति भी बहुरंगी और विशाल है। ताजिक कहानियों को समर्पित इस कथा-संग्रह में, जो मूल रूप से हाल के वर्षों से संबंधित है, पाठक को केवल समस्याओं व चरित्र की ही विविधता नहीं मिलेगी, वरन् साहित्यिक शैली के विविध रंगों का भी परिचय मिलेगा। उन रंगों में अपनी शास्त्रीय स्वच्छता से पराभूत करनेवाली यथार्थ-वादी शैली से लेकर चित्ताकर्षक सुगढ़ पूर्वी क़ालीन को स्मरण करानेवाले बहुरंगी, आलंका-रिक काव्यात्मक गद्य के भी दर्शन मिलेंगे।

ताजिक कहानियों के प्रस्तुत संग्रह में ताजिक सोवियत साहित्य के संस्थापक सदरुद्दीन ऐनी से लेकर हाल के कुछ वर्षों में अपनी कृतियों से साहित्य में पदार्पण करनेवाले विभिन्न साहित्यिक पीढ़ियों के लेखकों की रचनाएं संग्रहीत हैं।

पुराने गांव, ग़रीब किसान, पुराना बुख़ारा... और परिवर्तित जीवन, नयी समाजवादी यथार्थता, परस्पर विरोधी भावनाओं के संघर्ष में जन्मा नैतिक आत्मिक पूर्णता की ओर उन्मुख नया इनसान – इस कथा-संग्रह की कहानियों के पृष्ठों में यही सब कुछ उभरकर सामने आता है। इस कथा-संग्रह के लेखकों का मुख्य ध्येय रहा है इनसान को अच्छाई, न्याय व मानवता की राह पर चलाना और लोगों व समाज को अपने कर्त्तव्य का बोध करवाना।

महान अक्तूबर क्रान्ति से पूर्व भौगोलिक नक़्शे में ताजिकिस्तान जैसा कोई शब्द नहीं था। यों लोगों को एक अरसे से यह पता था कि पहाड़ों का एक देश है जहां पंजिम और सिरदरिया बहती हैं और जहां के निवासी परिश्रमी ताजिक जाति के लोग हैं। यह वह जाति है जिसने विश्व मानव को प्रसिद्ध कवि, विद्वान दिये हैं, जिनमें रूदाकी, फ़िरदौसी, ख़य्याम और इब्न सीना जैसे महान व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं।

ताजिकिस्तान मध्य एशिया के गणतन्त्रों में से एक है जो उसके दक्षिण-पूर्वी भाग में विशाल पर्वत श्रेणियों के संगम पर स्थित है। ताजिकिस्तान सूर्यस्नात व हिमाच्छादित पर्वतों का देश है। इस देश में गहरे और तंग दर्रे हैं जिनमें से होकर विशाल नदियां बहती हैं। ताजिकिस्तान "सफ़ेद सोने" का – कपास का देश है। यहां का प्राकृतिक वातावरण अपने परस्पर विरोधी तत्त्वों के कारण आश्चर्यचकित कर देता है। इस देश में मटियाले रेगिस्तान और हरे-भरे मरुद्यान, पहाड़ी जंगल और हिमनदियां, शिशिर और ग्रीष्म ऋतु साथ-साथ ही देखे जा सकते हैं।

ISBN 5-05-000396-2

नीले पर्वतों की गोद में

तादिक लेखकों की कहानियां





नीले पर्वतों की गोद में

रादुगा प्रकाशन ताशक़न्द

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

अनुवादक : सुधीर कुमार माथुर
देवेन्द्र किशोर जोशी

चित्रकार : कन्स्तान्तिन ईशिन

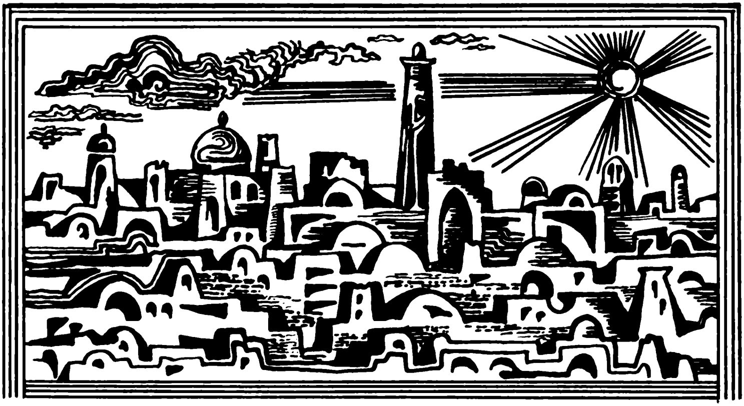
संग्रहकर्त्ता : शौकत नियाज़ी

У ПОДНОЖЬЯ ГОЛУБЫХ ГОР
Рассказы таджикских писателей
На хинди

AT THE FOOT OF THE BLUE MOUNTAINS
Stories by tajik writers
In Hindi

ISBN 5-05-000396-2

अनुक्रम



सदरुद्दीन ऐनी

बुख़ारा के रास्ते पर

(संस्मरण)

सुप्रसिद्ध ताजिक सोवियत लेखक, कवि, विद्वान तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता सदरुद्दीन ऐनी ताजिक सोवियत साहित्य के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। वे ताजिक विज्ञान अकादमी के प्रथम अध्यक्ष चुने गये थे और उन्हें सोवियत संघ का राजकीय पुरस्कार प्रदान किया गया था। अपने जीवन में (१८७८-१९५६) ऐनी को अनेक कष्ट और भीषण यातनाएं भोगनी पड़ी। ऐनी की अल्पायु में ही पिता का साया उनके सिर से उठ गया था और उन्हें रोटी-रोज़ी कमाने को मजबूर होना पड़ा था। ऐनी के पूर्वज अनेक पीढ़ियों से दस्तकार रहे थे, शिक्षित और साहित्यप्रेमी थे। सदरुद्दीन ऐनी का बचपन दो बस्तियों – सोकतारे और महल्ला-ए-बाला में गुज़रा, जहां का जीवन बुख़ारा अमीरात के विशिष्ट सामन्तवादी सामाजिक ढांचे का प्रतीक था। उन्होंने अपनी युवावस्था में ही अपने इलाक़े के लोगों के कल्याण और उनमें शिक्षा का प्रसार करने का संकल्प कर लिया था, जिसके परिणामस्वरूप बुख़ारा के शासकों ने उन पर अनेक अमानुषिक अत्याचार किये। ऐनी ने सन् १९१८ में अपने भाई की हत्या पर जो मरसिया लिखा था, उसमें उन्होंने खुले आम अमीर का तख़्ता उलटने का जन आह्वान किया था। इसके परिणामस्वरूप ऐनी को सबसे अंधेरी काल-कोठरी में डाल दिया गया, जहां उन्हें नारकीय दण्ड भोगना पड़ा – मोटे बेंत की ७५ मारें! ऐसी भीषण यातना पाकर कोई विरले ही जीवित रह पाता था। लेकिन ऐनी जीवित बच गये, स्वस्थ हुए और जीवनपर्यन्त उत्पीड़ित, पद-दलित जनता की सेवा करते रहे।

ऐनी ने अपनी तीनों कृतियों – लघु-उपन्यास 'आदीना', उपन्यास 'दाख़ुन्दा' (अनाथ) व 'दास' में तथा 'संस्मरण' उपन्यास में ताजिक जनता की पूरी एक सदी के जीवन के सभी पक्षों तथा संघर्ष का अत्यन्त रोचक, जीवन्त व क्रमबद्ध चित्रण किया है।

सदरुद्दीन ऐनी द्वारा लिखित 'संस्मरण' का प्रथम भाग संक्षिप्त संस्करण में पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।



आरम्भ

तराशकर क़दीम* पत्थरों को
घर बनाया है,
जिन्हें मैं जानता था उनको
उसमें ला बिठाया है।
क्या है अहतिराम**
उनकी याद का जो चल बसी
और अपनी ज़ीस्त*** के सफ़र
का क़िस्सा भी सुनाया है।

सदरुद्दीन ऐनी

मेरा बचपन एक दूसरे से काफ़ी दूर स्थित दो गांवों में बीता। दोनों गांव देखने में एक दूसरे से बिलकुल अलग थे और उनके रीति-रिवाज भी भिन्न-भिन्न थे। अपने बारे में कुछ कहने से पहले मैं आपको इन गांवों के बारे में बता दूं, ताकि आपको मालूम हो जाये कि वे घटनाएं, जिन्हें मैं स्मरण करने जा रहा हूं, कहां-कहां घटी थीं।

---

* क़दीम – पुराना।
** अहतिराम – श्रद्धा।
*** ज़ीस्त – जीवन।

सोकतारे गांव ग़िजदुवान ज़िले में ज़रफ़शान नदी के तट पर, ग़िजदुवान के पूर्व में कोई आठ किलोमीटर की दूरी पर बसा था। गांव के बीच से मज़रंगां नाम की नहर निकलती थी। हमारी उपजाऊ भूमि में प्रचुर मात्रा में पानी होने के फलस्वरूप सोकतारेवासियों ने काफ़ी अच्छे बाग़-बाग़ीचे, खेत और सागबाड़ियां लगा रखी थीं, जिनमें नाना प्रकार के फल और सदा पिपासु धान से लेकर सब्ज़ियों तक की फ़सलें होती थीं।

सदियों से सोकतारे में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग साथ रहते आये थे: प्राचीन आप्रवासियों के वंशज – ताजिक तथा अरब, उरगंच के आप्रवासी, मशहद के ईरानी मूल के लोग, ग़िजदुवान के प्राचीन क़िले से आये लोगों के वंशज, शाफ़िरकान प्रान्त के सईदातो नामक स्थान से आये उज़बेक इत्यादि। सोकतारे में मुख्यत: ताजिकी भाषा बोली जाती थी, लेकिन अरब तथा सईदातोवाले उज़बेक भाषा में बोलना अधिक पसंद करते थे। किसानों के पास या तो ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े थे, या बिलकुल ज़मीन नहीं थी; सोकतारे की अधिकांश भूमि के स्वामी दो ईरानी थे, जिन्हें गांववाले 'क़ाज़ी-ज़ादे' या 'मुतवल्ली' (धार्मिक सम्पत्ति का प्रबन्धक) कहा करते थे।

सारे सोकतारेवासी या तो बटाईदार थे, या कोई दस्तकारी का काम करते थे। ताजिक अमीर की ज़मीन पर खेती करते थे, उरगंच मूल के लोग परचून का धंधा करना ज़्यादा पसंद करते थे, जबकि ख़्वाजा लोग जादू-टोने से इलाज का काम करते थे। लोग प्रान्त के कोने-कोने से बीमारों व पागलों का इलाज कराने इनके पास ले आते और ख़्वाजा उनका इलाज रहस्यमय मंत्रों व जादू-टोने से करते। बूढ़े ख़्वाजा फ़जर की नमाज़ अदा करने के बाद मसजिद में रुक जाते और ज़ोर-ज़ोर से, एकसुरे स्वर में 'अवरादे फ़तहिया' पढ़ा करते। आस-पास के गांवों से बीमार लोग इस आशा में वहां आकर जमा

हो जाते कि 'अवरादे फ़तहिया' सुनकर वे स्वस्थ हो जायेंगे।

गांव की मसजिद में एक मकतब था, जिसमें जाड़े और गर्मियों में भी कक्षाएं चलती रहती थीं, इसके अलावा एक छोटा-सा मदरसा भी था, जिसमें व्यापक पाठ्यक्रम के अनुसार बुनियादी इसलामी तालीम भी दी जाती थी। इसी कारण सोकतारे में जितने शिक्षित और उच्च शिक्षाप्राप्त लोग थे, उतने प्रान्त में और कहीं न थे।

मसजिद तथा मदरसे के रख-रखाव की ज़िम्मेदारी दोनों मुत-वल्लियों – ज़मींदारों पर थी, जबकि सारे स्थानीय अधिकारी सम्पन्न ताजिक लोगों में से चुने जाते थे।

मेरे अब्बा और बाबा सोकतारे के ख़्वाजाओं के वंशज थे।

शाफ़िरकान ज़िले का दूसरा गांव महल्ला-ए-बाला, जिसमें मेरा बचपन बीता, ग़िजदुवान क़िले के उत्तर-पश्चिम में कोई एक किलोमीटर के फ़ासले पर, क़िज़ीलक़ूम तक फैली चोर-बालू के छोर पर बसा था।

वहां हमेशा पानी की किल्लत रहती थी, और प्राचीन शाफ़िरकान के चोर-बालू से पट जाने के बाद तो गांव बिलकुल ही बिना पानी के रह गया था।

वहां बाग़ नहीं थे। केवल खट्टे सेब उगते थे, जिन्हें लोग हाजी-ख़ानी कहा करते थे। गरम रेत में केवल अंगूर अच्छा पैदा होता था और कहीं-कहीं ज़मीन के हरे-भरे छोटे टुकड़े नज़र आ जाते थे।

पानी की कमी के कारण सब्ज़ियों की खेती नाम मात्र को होती थी, लोग गेहूं, जौ, ज्वार-बाजरा तथा दालें ही बोते थे। घटिया क़िस्म की कपास की फ़सल भी इतनी ख़राब होती थी कि कमज़ोर पौधों पर मुश्किल से एक-एक, या विरले ही दो डोंड़े पक पाते थे।

वह जीर्ण-शीर्ण कच्चे घरों से भरा ग़रीब गांव था। हालांकि वहां सभी खेती करते थे, पर उससे किसी को भी दो जून की रोटी नहीं मिल पाती थी। बहुतों के लिए तो फ़सल कर चुकाने तक के लिए अपर्याप्त

होती थी, तिस पर ज़मींदार प्राचीन समय से निर्धारित कर – तथाकथित "दसवें हिस्से" के नाम पर फ़सल का काफ़ी बड़ा हिस्सा ज़बरदस्ती वसूल कर लेते थे।

वहां की ज़मीन के अधिकांश भाग का स्वामी बुख़ारा का अमीर था, बाक़ी ज़मीन बुख़ारा के मीर-ए-अरब मदरसे के नाम थी। इसलिए किसान अपनी फ़सलों का दसवां भाग अमीर तथा मदरसे को अदा किया करते थे। लेकिन धनी ज़मींदार अमीर को किसी प्रकार का कर चुकाने को बाध्य नहीं थे, क्योंकि वे बुख़ारा के शासकों के निकटस्थ थे। वे सारे करों का बोझ ग़रीब क़िसानों पर डालते थे, जिससे किसान और भी अधिक विपन्न होते जा रहे थे।

महल्ला-ए-बाला में कुशल दस्तकार लगभग न के बराबर थे। केवल मोची-गुदड़िया थे, जिनके ग्राहक भी उन्हीं जैसे भूखे व ग़रीब थे। गांव के केन्द्र देहनव-ए-अब्दुल्लाजान में कुछ मोची थे, जो पुराने जूतों में नये तल्ले चढ़ा सकते थे, और उनके पुराने मोज़ों की सिलाई कर सकते थे, पर वहां भी चोरबाज़ारियों का बोलबाला रहता था, जो उन्हें इस आय से भी वंचित कर देते थे।

कुछ लोग धनियों के मवेशी चराते थे, खेतों में मज़दूरी करते थे या जलाने की लकड़ियां इकट्ठा किया करते थे। सर्दियों में लगभग सभी लोग थोक विक्रेताओं की कपास ओटने का काम करते थे। इस काम की उन्हें बहुत मामूली मज़दूरी मिलती थी। यह समझ लिया जाता था कि उनकी मज़दूरी की भरपाई कपास के डोंड़ों के छिलकों से हो जाती है, जो चूल्हा जलाने के काम आते थे।

मेरी मां भी इसी गांव की थीं।

सोकतारे और महल्ला-ए-बाला के बीच फ़ासला लगभग सोलह किलोमीटर था। बुख़ारा से दोनों ही गांव चालीस-चालीस किलोमीटर दूर थे, सोकतारे उसके उत्तर-पूर्व में था और महल्ला-ए-बाला उत्तर में।

* * *

मेरे अब्बा सईद मुराद ख़्वाजा के कथनानुसार उनके अब्बा सईद उमर ख़्वाजा पढ़े-लिखे आदमी थे और जुलाहे का व बढ़ई का – दोनों ही काम अच्छी तरह कर सकते थे, वैसे वह अच्छे बढ़ई के रूप में अधिक प्रसिद्ध थे।

एक बार महल्ला-ए-बाला की जीर्ण-शीर्ण मसजिद ढह गयी। गांववालों ने एक अच्छे-से बढ़ई की तलाश शुरू कर दी और मेरे बाबा को ढही मसजिद की तामीर कराने के लिए गांव में बुलाया।

मेरे बाबा ने मसजिद की तामीर कर दिया और उसके एक खंभे पर ये शब्द भी उकेर दिये:

"तामीर किया सोकतारे के सईद उमर ख़्वाजा ने।"

मसजिद में मकतब काफ़ी अरसे से बंद पड़ा था, और महल्ला-ए-बाला में कोई पढ़ा-लिखा आदमी नहीं था। गांववाले पढ़े-लिखे बढ़ई को देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मिलकर मेरे बाबा से उसी मसजिद का इमाम बनने की प्रार्थना की, जिसकी तामीर उन्होंने स्वयं ही की थी, ताकि उनके गांव में कम-से-कम एक तो शिक्षित व्यक्ति मौजूद हो जाये। उनका भूतपूर्व इमाम निरक्षर था और उसे केवल क़ुरान के कुछ सुरे तथा नमाज़ की कुछ दुआएं मात्र ही कंठस्थ थीं। जबकि मेरे बाबा इमामत संभालने के अलावा बढ़ई का काम भी कर सकते थे, जिसकी भी गांववालों को सख़्त ज़रूरत थी।

मेरे बाबा को यह प्रस्ताव पसंद आ गया – हालांकि सोकतारे में अच्छे बढ़ई के रूप में उनका काफ़ी नाम था, फिर भी उनकी आमदनी बहुत कम थी – वहां उनके अलावा रिश्तेदारों में भी अच्छे बढ़ई काफ़ी थे। महल्ला-ए-बाला में चरख़े तथा कपास ओटने के औज़ार बनानेवालों को छोड़कर बढ़ई के दूसरे काम करनेवाले नहीं थे, जबकि आस-पास

के गांवों में पनचक्कियां तो थीं, पर उनके चरख़े बनानेवाले कारीगर नहीं थे, और मेरे बाबा इस काम में भी बहुत कुशल थे। बाबा ने सोचा कि मसजिद की इमामत से होनेवाली आय के अलावा दूसरे कामों से उनकी अतिरिक्त आय भी होगी। सो उन्होंने महल्ला-ए-बाला के निवासियों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मसजिद के पास ही हमराह ख़ां नाम के एक किसान के घर के मर्दाने में उनके रहने की व्यवस्था कर दी गयी।

बाबा उस घर के मर्दाने में कई वर्षों तक रहे। वह शाम को अपने काम के बाद मकान-मालिक के बेटे देहक़ान को पढ़ना-लिखना सिखाया करते थे। उस समय मेरे बाबा के बड़े बेटे – यानी मेरे पिता बुख़ारा के एक मदरसे में पढ़ रहे थे और बाक़ी बच्चे अभी सोकतारे में ही रह रहे थे।

दादा एकाकीपन से ऊब उठे। उन्होंने गांव के पश्चिमी छोर पर थोड़ी ज़मीन ख़रीद ली और वहां मकान बना लिया। घर के चारों ओर उन्होंने ख़ूबानी के पेड़ लगा दिये, जिन्हें ज़्यादा पानी की ज़रूरत नहीं होती। फिर वह सोकतारे से अपने परिवार को वहां ले आये।

कुछ वर्ष बाद बाबा ने देखा कि सोकतारे में उनका घर खंडहर होता जा रहा है और अरसे से खेती न किये जाने से ज़मीन पर खर-पतवार उग आये हैं। ढलती उम्र के कारण अब वह स्वयं पहले की तरह मेहनत नहीं कर पाते थे। इसलिए उन्होंने मेरे पिता की पढ़ाई छुड़वाकर उन्हें बुख़ारा से बुलवा लिया और उनकी शादी करवाने का फ़ैसला कर लिया।

बाबा ने पड़ोसियों को जैसे ही अपने बेटे की शादी के इरादे के बारे में बताया, वैसे ही गांववालों ने जल्दी से दुलहन ढूंढ़ ली – वह हमराह ख़ां की तीसरी बेटी ज़ेवर-आय थी।

हमराह ख़ां मध्यवर्गी किसान और सीधे-सादे आदमी थे, इस कारण मेरे अब्बा की शादी साधारण ढंग से हुई।

मेरे अब्बा ने अपने जीवन के इस काल के बारे में मुझे यह बताया:

"मुझे पढ़ाई का बहुत शौक़ था। मुझे मदरसा छोड़कर घर बसाने की इच्छा नहीं होती थी, पर अब्बा और अम्मी बुढ़ा हो चुके थे, मेरे बिना जीना उनके लिए मुश्किल हो गया था, इसीलिए मुझे उनके पास आना पड़ा। गर्मियों में मैं अम्मी के साथ सोकतारे में जाकर खेती करता और अपने बाग़ में फलों की फ़सल इकट्ठा करता। सर्दियों में हम महल्ला-ए-बाला में रहकर पनचक्कियों के लिए चरख़े बनाते, कपड़ा बुनते, सूत कातते। लेकिन मेरी पढ़ने की इच्छा अभी भी बनी रही। पढ़ाई जारी रखने की कोई सम्भावना न रहने के कारण मैं तुम्हारे मामा मुल्ला देहक़ान और किसानों के बच्चों को पढ़ाने लगा। प्राथमिक शिक्षा देकर मैं उन्हें बुख़ारा के किसी मदरसे में भेज दिया करता था। मुझे उम्मीद थी कि यदि मैं कुछ नहीं बन सका, तो कम-से-कम उनमें से कोई तो कुछ बन जायेगा। तुम्हारे मामा ने अपनी पढ़ाई जारी रखी, बाक़ी लोग दो-दो, तीन-तीन साल बाद लौटकर मसजिदों में मुल्ला बनने लगे..."

मेरे पिता के ये शिष्य – मुल्ला बाबाजान, मुल्ला हमराह, मुल्ला अब्दुल वाहिद और मुल्ला साबित एक बार हमारे घर आये।

बाबाजान महल्ला-ए-बाला के दक्षिण में स्थित एक गांव रूबाहो (लोमड़ियां) के मुल्ला हो गये।

आब्बा ने मुल्ला बाबाजान से कहा:

"देखो, तुम्हारे अलावा सभी मालदार लोगों के लड़के थे। उन्हें पढ़ाई बहुत मुश्किल लगी। लेकिन तुमने यह क्या किया! तुम तो आख़िर एक ग़रीब आदमी के लड़के हो, तुम्हारा बचपन तंगी में गुज़रा

है, मुझे आशा थी कि तुम अपनी मुश्किलों का डटकर मुक़ाबला करोगे। कितना भरोसा करता था मैं तुम पर! .."

अब्बा उन लोगों को शर्मिंदा करना चाहते थे, जो पढ़ाई का अवसर मिलने के बावजूद मदरसे छोड़ आये थे।

मेरी दादी की मृत्यु के दो वर्ष बाद बाबा गुज़र गये। तब से अब्बा दोनों ही घरों में रहने लगे। वह गर्मियों में सोकतारे में खेती करते और कपड़ा बुनते, सर्दियों में महल्ला-ए-बाला में आकर पनचक्कियों के चरख़े बनाते। अब्बा सिर्फ़ अपने परिवार के लिए कपड़ा बुनते थे – वस्त्रों, कम्बल व तकियों आदि के लिए और चरख़े बनाते थे बेचने के लिए।

इस प्रकार मेरा बचपन गर्मियों में मेरे जन्म-स्थान सोकतारे में और सर्दियों में महल्ला-ए-बाला में बीतता रहा ...

हलवाईख़ाना

एक दिन मेरी मां हलवा बनाने लगीं, और मैं उनकी मदद करने लगा। पहले उन्होंने देगची में घी डालकर आटा भूना, फिर सोकतारे से लाये हुए शहतूत का एक प्याला शीरा अलग उबाल लिया।

शीरा जब गाढ़ा हो गया, तो मां ने भुना हुआ आटा उसमें डालकर मिलाया। लपटा गाढ़ा होकर गुंधे हुए आटे जैसा हो गया। उसके बाद उन्होंने एक तश्तरी पर कुछ आटा डाला और लपटे को उस पर उलट दिया। जब वह ठण्डा होकर ठोस हो गया, तो उन्होंने उसका एक टुकड़ा काटकर मुझे दिया और बाक़ी के बराबर-बराबर टुकड़े करके उस पर थोड़ा आटा बुरका और एक डिब्बे में बंद करके रख दिया।

मैं अपने हिस्से का हलवा मज़े से चबाता हुआ बाहर निकला। वहां मुझे मेरे बड़े भाई मिल गये। उन्होंने कहा:

"यह भी कोई हलवा है! यह तो सूखी रोटी है। हलवा तो तभी अच्छा बनता है, जब उसमें से घी चुए।"

"आपने तर हलवा कहां खाया?"

"नाना के यहां। मामा क़ुरबान नियाज़ लेकर आये थे। तुम्हें कोई ऐसा हलवा दे, तो खाओगे? वह बहुत स्वादिष्ट होता है।"

"कोई दे, तो ज़रूर खाऊंगा। तब तक मैं इसे ही खाऊंगा।"

"और अगर मैं लाऊं, तो खाओगे?"

"ज़रूर।"

"तो अब्बा के पास जाकर कहो: 'मुझे थोड़ा तर हलवा ख़रीद दीजिये'।"

"पर आप ख़ुद जाकर अब्बा से क्यों नहीं मांग लेते?"

"मुझे डर है कि वह कहेंगे कि अगर इस तरह पैसे ख़र्च किये जायेंगे तो बुख़ारा में तेरी पढ़ाई जारी रखने के लिए कुछ नहीं बचेगा।"

"मैं भी बुख़ारा जाना चाहता हूं।"

"तुम अभी छोटे हो। तुम्हारे बुख़ारा जाने के दिन तक तो अब्बा काफ़ी पैसा कमा लेंगे।"

"ठीक है, मैं जाकर मांगता हूं।"

हम दोनों अब्बा के कारख़ाने में गये। मैंने हलवा चबाते हुए कहा:

"अब्बाजान, मुझे थोड़ा-सा तर हलवा ख़रीद दीजिये।"

अब्बा ढरकी से नज़र हटाये बिना बोले:

"तुम्हारे हलवे में भी तो घी पड़ा है। तुम्हें और कैसा हलवा चाहिए?"

"मुझे स्वादिष्ट तर हलवा चाहिए, जैसा मैंने अभी तक नहीं खाया है।"

"जब तुमने खाया ही नहीं है, तो तुम्हें कैसे पता कि वह स्वादिष्ट होता है?"

"भाई साहब ऐसा कहते हैं।"

मुहीउद्दीन भाई कारख़ाने से बाहर भाग निकले। मैंने अनजाने ही उनका राज़ खोल दिया था। अब्बा हंस पड़े।

"जाओ, अम्मी से कहो कि वह तुम्हारे बड़े भाई को यहां ले आयें।"

मैंने उनकी बात जाकर मां से कही। भाई साहब उनके पीछे छिपे हुए थे। उन्होंने मुझसे धमकीभरे स्वर में पूछा:

"तुमने अब्बा से मेरी चुग़ली क्यों खायी?"

मैं जानता था कि मेरा चुग़ली खाना अनुचित था, पर मेरा अहं मुझे यह स्वीकार करने से रोक रहा था। मैंने उनसे पूछा:

"आप होते, तो क्या जवाब देते?"

उन्हें कोई जवाब नहीं सूझा और वह शर्म से लाल हो उठे। निस्सन्देह उनका जवाब भी यही होता। अम्मी मुहीउद्दीन भाई को अब्बा के पास ले गयीं, हालांकि उन्होंने न जाने की बहुत ज़िद की। हम अटकलें लगाते रहे कि अब्बा मुझे फ़ुसलाने की उन्हें क्या सज़ा देते हैं।

अब्बा ने हंसकर चश्मा उतारा और उसके शीशे पोंछते हुए पूछा:

"मुहीउद्दीन, तुम्हें मालूम है, बाला-ए-रूद गांव कहां है?"

"जी, मालूम है।"

"और वहां नहर किनारे की पनचक्की देखी है?"

"जी, देखी है।"

"यह तुम सच कह रहे हो?"

भाई साहब ने स्वीकृति में सिर हिला दिया। अब्बा ने मां की तरफ़ देखा:

"आज इन दोनों ने मुझसे तर हलवा मांगा। मुझे डर था कि अगर मुहीउद्दीन को मालूम नहीं कि बाला-ए-रूद कहां है, तो मुझे

ख़ुद हलवा ख़रीदने जाना पड़ेगा। लेकिन जब उसे मालूम ही है, तो वह ख़ुद ही जाकर ले आये। अब तुम यहां बैठकर सूत कातो, मेरे पास सूत ख़त्म हो रहा है।"

अब्बा ने जेब से एक तंगा* निकालकर भाई साहब को दे दिया:

"चक्की की नली के बाद तुम नहर का पुल पार करना, फिर एक बड़ा-सा मकान नज़र आयेगा। वह बरात हलवाई का घर है। वह वहीं हलवा पकाते हैं। अन्दर जाकर तुम उनसे मेरा सलाम कहना। उनसे हलवे का एक कतला मांगना। फिर उसे काग़ज़ में लपेटकर घर ले आना।"

"पर कतला कितना बड़ा होता है?"

"पूरा एक बड़ा-सा टुकड़ा।"

"उस टुकड़े को कौन खायेगा, मैं या भाई?"

अब्बा ने दोनों हाथों की उंगलियां को गोल करके उन्हें दिखाया कि वह कितना बड़ा होता है और बोले:

"इतना बड़ा होगा कि हम सबके लिए काफ़ी होगा।"

भाई साहब जाने को तैयार हो गये। मैंने भी उनके साथ जाने की आज्ञा मांग ली। हम दोनों हलवा लाने बाला-ए-रूद रवाना हो गये।

हम हंसते-खेलते, बर्फ़ से ढकी ज़मीन पर फिसलते, पलक झपकते नहर किनारे पहुंच गये।

बाला-ए-रूद गांव शाफ़िरकान के उत्तरी तट पर एक नहर के किनारे बसा हुआ था, इसीलिए उसका यह नाम पड़ा। दक्षिण से आकर वह नहर शाफ़िरकान में मिलती थी, और पनचक्की उसी पर बनी हुई थी। जब नहर में पानी का वेग बढ़ता, तो उससे पनचरखी घूमने लगती।

वहां पहुंचकर हमने देखा कि नाली में बिलकुल पानी न था, नहर

---

* तंगा – भूतपूर्व बुख़ारा अमीरात का चांदी का एक सिक्का।

में भी कहीं-कहीं बर्फ़ से घिरे डबरे चमक रह थे। मैने भाई साहब से कहा कि वह मुझे पनचक्की दिखा दें और वह मान गये।

हम पनचक्की देखकर आगे बढ़ गये।

हमने नहर को पुल से नहीं, बल्कि बर्फ़ पर कूदते-फिसलते हुए पार किया।

दूसरे किनारे पर पहुंचकर हम अहाते में घुसे, जिसका दरवाज़ा पुल की ओर खुलता था।

अहाते के बीचोंबीच साधारण घर से कोई चार गुना बड़ा कच्चा मकान था, जिसमें नौ शहतीर लगे थे।

एक किवाड़ खोलकर हम घर के अंदर गये। कमरे में कई भट्ठियां बनी थीं, जिन पर आड़े देग लटके हुए थे।

कुछ देगों में शीरा उबाला जा रहा था, कुछ में एक प्रकार के पौधे की जड़, जिसे क़मचियों के गट्ठे से फेंटकर फेन निकाला जा रहा था। आख़िरी भट्ठी पर चढ़ाये साधारण देग में घी उबल रहा था।

एक आदमी एक देग में भुना हुआ आटा डाल रहा था, दूसरे दो आदमी लपटे को लकड़ी के घोटों से घोट रहे थे। वे उस लचीले मिश्रण को घोटों से उछाल-उछालकर वापस देग में पटक रहे थे।

एक ऊंचे क़द का काली, लम्बी दाढ़ीवाला व्यक्ति यह सब अपनी देख-रेख में करवा रहा था।

कमरे के दूसरे हिस्से में एक चौड़ा चबूतरा बना था, जिस पर लकड़ी का कोई दो मीटर लम्बा और इतना ही चौड़ा थाल रखा था। उस थाल के चारों ओर बकरियों की खालें बिछी थीं। थोड़ी दूर पर आटे का डिब्बा रखा था।

हलवाई ने डिब्बे के पास जाकर तांबे के हत्थे से आटा निकाला और उसे लकड़ी के थाल पर फैला दिया। फिर वह उस देग के पास गया, जिसमें आटा और शीरा घोटा जा रहा था। वह कुछ समय तक

यह काम देखता रहा। जब लपटा गुंधे आटे जैसा हो गया तो उसने चिल्लाकर कहा:

"बस! इसे यहां ले आओ!"

गुंधे आटे-से मिश्रण को घोटों से थाल पर डाल दिया गया।

तब हलवाई ने हम पर नज़र डाली:

"क्या चाहिए तुम लोगों को?"

भाई साहब ने उसकी ओर तंगा बढ़ाकर अब्बा का सलाम कहा:

"अब्बा ने हमें हलवे का एक कतला लाने भेजा है।"

"सुबह का सारा हलवा मैं बाज़ार में बेचने के लिए भेज चुका हूं। तुम लोग थोड़ा इंतज़ार करो, हम अभी ताज़ा हलवा तैयार किये देते हैं।"

मिश्रण धीरे-धीरे पूरे थाल में फैल गया।

देगों में घुटाई करनेवाले आदमियों ने जाकर कोहनियों तक अपने हाथ धोये और थाल के चारों ओर बकरियों की खालों पर आ बैठे। उनका मालिक भी उनके पास जा बैठा। केवल एक लड़का हाथ में हत्था लिये डिब्बे के पास खड़ा रहा।

उन लोगों ने उस मिश्रण को बेलकर बेलनाकार कर लिया, फिर उसके दोनों सिरे मिलाकर उसे छल्ले जैसा बना लिया। इसके बाद उस छल्ले को तब तक फैलाया, जब तक कि वह फैलकर थाल के किनारों से न लग गया। लड़के ने हत्थे से आटा निकालकर उस छल्ले पर बुरक दिया।

फिर उन्होंने छल्ले को मरोड़कर उसे दोहरे छल्ले जैसा कर लिया।

अब दो छल्ले बन गये। लड़के ने दोनों छल्लों पर फिर आटा बुरक दिया।

उन छल्लों को मरोड़कर दुहरा कर दिया गया। अब छल्ले और छोटे हो गये, पर उनकी चार तहें बन गयी थीं।

इस प्रकार वे इस काम को जारी रखे रहे।

तीसरी बार मरोड़ने पर छल्लों की आठ तहें बन गयीं। चौथी बार – सोलह तहें। पांचवीं बार – बत्तीस। छठी बार – चौसठ। सातवीं बार – एक सौ अट्ठाईस। आठवीं बार – दो सौ छप्पन। नवीं बार – पांच सौ बारह। दसवीं बार – एक हज़ार चौबीस तहें।

इस प्रकार हलवे को पच्चीस बार मोड़ा गया।

तब जाकर हलवाई ने चैन की सांस ली और सीधा खड़ा हो गया।

"बस!"

फिर मालिक एक चाकू लेकर छल्ले के एक-एक हाथ की लम्बाई जितने टुकड़े काटने लगा।

एक टुकड़ा उठाकर उसने चबूतरे के कोने पर रखे तराज़ू के पलड़े में रखा। उसका वज़न थोड़ा कम पड़ा। तब उसने एक छोटा-सा टुकड़ा दूसरे टुकड़े में से काटकर पलड़े में रखा और तराज़ू की डण्डी सीधी तन गयी।

उसने बड़ा टुकड़ा एक काग़ज़ में लपेटकर भाई साहब को दिया:

"इसे अपने अब्बा को देना।"

फिर छोटे टुकड़े के दो बराबर टुकड़े करके उसने हम दोनों की ओर बढ़ाये:

"और ये तुम दोनों के लिए हैं।"

हम जल्दी से घर भागे, क्योंकि अंधेरा हो चला था।

रेतीली आंधी

वसन्त अपने यौवन पर था।

हमारे बाग़ीचे में ख़ूबानी के पेड़ों पर ख़ूब फूल खिले हुए थे। महल्ला-ए-बाला के किसान ज़मीन जोत रहे थे, सिंचाई के लिए

नालियां खोद रहे थे और अंगूर की बेलों की कटाई-छंटाई कर रहे थे।

लड़के जंगली फूलों से ढकी अनजोती ज़मीन पर अपने या अपने मालिकों के गाय-बैलों व भेड़ों को चरा रहे थे।

ऐसे ही एक दिन मुझे अपने बाग़ीचे को छोड़कर खुली स्तेपी में जाने की इच्छा हुई।

मैंने भाई साहब को अपने साथ चलने को कहा। वह मान गये, पर उन्होंने इसकी अनुमति लेने के लिए अब्बा और अम्मी के पास मुझे ही भेजा।

पहले मैंने अम्मी से इजाज़त मांगी।

"अगर अब्बा इजाज़त दें, तो चले जाना," उन्होंने जवाब दिया।

मैं अब्बा के पास गया।

अब्बा सायबान तले पनचक्की की चरखी बनाने में जुटे हुए थे। वह चश्मा लगाये रुखानी से पंखों के लिए सधे हाथों से ठीक स्थान पर खांचे बना रहे थे।

"कहो, क्या बात है?" अब्बा ने पूछा।

"हम स्तेपी में जाना चाहते हैं, आपकी इजाज़त चाहिए।"

"किसके साथ जाओगे?"

"भाई साहब के साथ।"

"तुम्हारा भाई कहीं नहीं जायेगा। उसने पूरे एक हफ़्ते से पाठ तैयार नहीं किये हैं। जब तक पाठ याद नहीं कर लेता, न घूमने जायेगा, न खेलने – कहीं नहीं जायेगा। मैं उसका काम जांच लूं, तब उसे घूमने जाने दूंगा।"

"क्या आप मेरे साथ चलेंगे?"

"तुम खुद चले जाओ। डरो मत, तुम्हें कोई भेड़िया नहीं खा जायेगा। मैदान में बहुत-से लड़के हैं। नदी किनारे तुम्हारा चचेरा भाई ए़रगश ढोर चरा रहा है।"

मैं अकेला स्तेपी में चला गया। स्तेपी खुली और लम्बी-चौड़ी थी, हमारे बाग़ीचे जैसी तंग नहीं, वहां तो मुझे हवा भी कहीं ज़्यादा आनन्ददायक लगी।

शीतल पवन में तरह-तरह की अद्भुत सुगंधें घुली-मिली थीं। जौ और गेहूं के हरे-भरे पौधों से ज़मीन ढकी हुई थी। नहर के किनारे-किनारे ताज़ा घनी घास उगी हुई थी और जंगली झाड़ियों पर फूलों के गुच्छे के गुच्छे खिले हुए थे।

गधों पर खेतों में खाद ढोकर ले जा रहे लड़के अपनी टोकरियां ख़ाली करते और लौटते समय या तो दौड़ लगाने लगते या गधों को चरने के लिए छोड़कर पानी के पास जा बैठते।

मैं सीधा नहर के किनारे आ गया। किनारे पर लगे शहतूत के कटाई किये हुए पेड़ों के बीच से हमारा घर नज़र आ रहा था। वहां और कोई न था। केवल पेड़ों की हरी-भरी डालों पर अबाबीलें बैठी हुई थीं, जबकि गौरैयां नये पत्तों के बीच फुदकती हुई चहक रही थीं। पक्षियों के कलरव और शीतल सुगंधित पवन से मेरा चित्त प्रसन्न हो उठा।

सामने के किनारे पर बालू के टीलों के ऊपर चरवाहे लड़के कुश्तियां लड़ रहे थे। उनमें मेरे चचेरे भाई एरगश भी थे। मैं इस किनारे पर बैठा उन्हें देख रहा था। नहर में पानी इतना था कि उसे पार करने में मुझे डर लगता था। लेकिन एरगश ने मुझे आवाज़ दी :

"आ जाओ! यहां आ जाओ!" वह भागकर किनारे पर ठीक मेरे सामने खड़े होकर आवाज़ देने लगे : "आओ! यहां पानी छिछला है, मुश्किल से टखनों तक! डरो मत!"

मैंने पाजामे के पायंचे ऊपर किये और पानी में घुसकर नहर पार कर ली। एरगश के साथ हम लड़कों के पास गये। लड़कों ने कुश्ती लड़ना बंद करके आंखमिचौनी खेलना शुरू कर दिया। लेकिन बाजरे

के आटे जैसी नरम लाल रेत इतनी सूखी थी कि पैर उसमें धंसते चले जाते थे। लड़के बार-बार गिर रहे थे। वे इस खेल से जल्दी ही थक गये। बहुत-से तो वसन्तकालीन सुहावनी धूप में पैर फैलाकर लेट गये। कुछ लड़के अपने-अपने रेवड़ों के पास चले गये।

मुझे भेड़ों व बकरियों के नन्हे-नन्हे मेमनों को देखने में बहुत आनन्द आ रहा था। वे लड़कों की तरह ही बड़े मज़े से रेत पर भाग रहे थे, सिरों से एक दूसरों के टक्करें मार रहे थे और एक दूसरे का पीछा कर रहे थे। अपनी-अपनी मांओं से पिछड़ रहे भेड़ों के मेमने दर्दभरी आवाज़ में मिमियाते हुए रेवड़ के पीछे भाग रहे थे।

एरगश ने पूछा:

"तुम अपने मां-बाप के लिए यहां से कुछ ले जाओगे?"

"यहां से मैं क्या ले जा सकता हूं?"

"तुमने खुमियां खायी हैं कभी?"

"नहीं, याद नहीं।"

"कल की बारिश के बाद रेत में खुमियां उग आयी हैं। बहुत सारी। मैं तो एक बोरी भरके इकट्ठी भी कर चुका हूं। तुम चाहो, तो तुम्हारे लिए भी चुन लें।"

"चलिये, चलते हैं!" मैं ख़ुश हो उठा।

एरगश ने अपनी लाठी उठायी और हम चल पड़े।

दो नीचे टीले पार करके तीसरे पर हमें एक जगह रेत थोड़ी उभरी नज़र आ गयी। एरगश ने लाठी के सिरे से उसे कुरेदा, और हमें खुमियां नज़र आने लगीं। मैंने अपने चोग़े का पल्ला पूरा खुमियों से भर लिया। पर भाई साहब ने मुझे टोका:

"ज़रा दिखाना तो!"

खुमियों के ढेर पर नज़र डालकर उन्होंने कहा:

"चलो, वापस डालो इन्हें ज़मीन पर!"

मैं अकेला स्तेपी में चला गया। स्तेपी खुली और लम्बी-चौड़ी थी, हमारे बाग़ीचे जैसी तंग नहीं, वहां तो मुझे हवा भी कहीं ज़्यादा आनन्ददायक लगी।

शीतल पवन में तरह-तरह की अद्भुत सुगंधें घुली-मिली थीं। जौ और गेहूं के हरे-भरे पौधों से ज़मीन ढकी हुई थी। नहर के किनारे-किनारे ताज़ा घनी घास उगी हुई थी और जंगली झाड़ियों पर फूलों के गुच्छे के गुच्छे खिले हुए थे।

गधों पर खेतों में खाद ढोकर ले जा रहे लड़के अपनी टोकरियां ख़ाली करते और लौटते समय या तो दौड़ लगाने लगते या गधों को चरने के लिए छोड़कर पानी के पास जा बैठते।

मैं सीधा नहर के किनारे आ गया। किनारे पर लगे शहतूत के कटाई किये हुए पेड़ों के बीच से हमारा घर नज़र आ रहा था। वहां और कोई न था। केवल पेड़ों की हरी-भरी डालों पर अबाबीलें बैठी हुई थीं, जबकि गौरैयां नये पत्तों के बीच फुदकती हुई चहक रही थीं। पक्षियों के कलरव और शीतल सुगंधित पवन से मेरा चित्त प्रसन्न हो उठा।

सामने के किनारे पर बालू के टीलों के ऊपर चरवाहे लड़के कुश्तियां लड़ रहे थे। उनमें मेरे चचेरे भाई एरगश भी थे। मैं इस किनारे पर बैठा उन्हें देख रहा था। नहर में पानी इतना था कि उसे पार करने में मुझे डर लगता था। लेकिन एरगश ने मुझे आवाज़ दी:

"आ जाओ! यहां आ जाओ!" वह भागकर किनारे पर ठीक मेरे सामने खड़े होकर आवाज़ देने लगे: "आओ! यहां पानी छिछला है, मुश्किल से टखनों तक! डरो मत!"

मैंने पाजामे के पायंचे ऊपर किये और पानी में घुसकर नहर पार कर ली। एरगश के साथ हम लड़कों के पास गये। लड़कों ने कुश्ती लड़ना बंद करके आंखमिचौनी खेलना शुरू कर दिया। लेकिन बाजरे

के आटे जैसी नरम लाल रेत इतनी सूखी थी कि पैर उसमें धंसते चले जाते थे। लड़के बार-बार गिर रहे थे। वे इस खेल से जल्दी ही थक गये। बहुत-से तो वसन्तकालीन सुहावनी धूप में पैर फैलाकर लेट गये। कुछ लड़के अपने-अपने रेवड़ों के पास चले गये।

मुझे भेड़ों व बकरियों के नन्हे-नन्हे मेमनों को देखने में बहुत आनन्द आ रहा था। वे लड़कों की तरह ही बड़े मज़े से रेत पर भाग रहे थे, सिरों से एक दूसरों के टक्करें मार रहे थे और एक दूसरे का पीछा कर रहे थे। अपनी-अपनी मांओं से पिछड़ रहे भेड़ों के मेमने दर्दभरी आवाज़ में मिमियाते हुए रेवड़ के पीछे भाग रहे थे।

एरगश ने पूछा:

"तुम अपने मां-बाप के लिए यहां से कुछ ले जाओगे?"

"यहां से मैं क्या ले जा सकता हूं?"

"तुमने खुमियां खायी हैं कभी?"

"नहीं, याद नहीं।"

"कल की बारिश के बाद रेत में खुमियां उग आयी हैं। बहुत मारी। मैं तो एक बोरी भरके इकट्ठी भी कर चुका हूं। तुम चाहो, तो तुम्हारे लिए भी चुन लें।"

"चलिये, चलते हैं!" मैं खुश हो उठा।

एरगश ने अपनी लाठी उठायी और हम चल पड़े।

दो नीचे टीले पार करके तीसरे पर हमें एक जगह रेत थोड़ी उभरी नज़र आ गयी। एरगश ने लाठी के सिरे से उसे कुरेदा, और हमें खुमियां नज़र आने लगीं। मैंने अपने चोग़े का पल्ला पूरा खुमियों से भर लिया। पर भाई साहब ने मुझे टोका:

"ज़रा दिखाना तो!"

खुमियों के ढेर पर नज़र डालकर उन्होंने कहा:

"चलो, वापस डालो इन्हें ज़मीन पर!"

मैंने खुमियां उलट दीं। एरगश ने उन्हें चुन-चुनकर दो हिस्से बनाये। एक हिस्से में छोटे डण्ठलवाली गूदेदार खुमियां थीं और दूसरे में पतले और बड़े डण्ठलवाली, जिनका छत्र चौड़ा और पतला था। गूदेदार खुमियां कम थीं। उनकी ओर इशारा करते हुए एरगश ने मुझे समझाया :

"इन्हें खाया जा सकता है। इनका स्वाद अच्छा होता है। और ये लम्बे डण्ठलोंवाली कड़वी और ज़हरीली होती हैं, इन्हें नहीं खाते।"

हमने दो और टीलों पर जाकर अच्छी खुमियों से एक टोपी भर ली।

तभी हवा तेज़ हो चली। नहर तक पहुंचते-पहुंचते काफ़ी रेत उड़ने लगी।

जानवर घबरा उठे। गायें रंभाने लगीं। चरवाहे लड़के रेवड़ को भाग छूटने से बड़ी मुश्किल से रोक पा रहे थे।

एरगश अपने रेवड़ को जमा करके उसे नहर की ओर हांक ले चले।

"रेत खिसक रही है!" कोई सहमा हुआ चरवाहा लड़का टीले के ऊपर से चिल्लाया।

एरगश भागकर टीले पर चढ़ने लगे और उनके पीछे मैं भी।

हवा उत्तर-पूर्व की ओर से चल रही थी। मैं हवा के रुख़ की ओर पीठ करके बड़ी मुश्किल से टीले पर चढ़ पाया।

रेत हवा से हिलकोरे खाते ठहरे पानी की तरह धीरे-धीरे हमारी ओर खिसक रही थी। रेत की ऊपरी तहें किनारे की ओर खिसकती हुई पानी में गिर रही थीं। टीलों की निचली रेतीली तहें भी हिलने और खिसकने लगीं।

हवा का वेग बढ़ता जा रहा था। रेत से आकाश धुंधला पड़ गया।

लड़के मवेशियों को गांव की ओर हांकने लगे।

मवेशी बुरी तरह भयभीत होकर अपने ठिकाने की ओर ऐसे भागे, जैसे ख़ूंख़्वार जानवर उनका पीछा कर रहे हों।

मैं भी खुमियों से भरी टोपी कसकर पकड़े घर की ओर लपका। मैदान वैसा अस्थिर नहीं था, जैसी कि रेत, हवा के थपेड़े मेरी पीठ में लग रहे थे, इसलिए चलना आसान हो गया था। लेकिन अब चारों ओर व्याप्त उस शान्ति व सुन्दरता का नाम-निशान भी बाक़ी न रहा था, जिसके साथ उस स्थान ने सुबह मेरा स्वागत किया था। हरियाली फीकी पड़ गयी थी। पौधे मुरझा गये थे।

मैं घर पहुंचा, तो अब्बा को अभी भी पनचरख़ी में पंखों के लिए खांचे बनाता पाया। वह अपने काम में इतने मग्न थे कि उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा कि मेरी सैर कैसी रही, मैंने क्या देखा, मैं कहां रहा।

अब्बा के पास थोड़ी देर खड़े रहकर मैं मां के पास गया और उन्हें खुमियां दीं:

"इन्हें जल्दी से पका दीजिये, मुझे भूख लगी है।"

मां आश्चर्यचकित रह गयीं:

"अरे, इतनी सारी खुमियां! ये तो सबके लिए काफ़ी रहेंगी।"

भाई साहब कोने में बैठे पाठ तैयार कर रहे थे। उन्होंने सिर उठाकर मां को चेतावनी दी:

"कहीं यह ज़हरीली खुमियां तो नहीं तोड़ लाया?"

"मुझे खाने लायक़ और ज़हरीली खुमियों की पहचान है," मैंने किंचित् गर्व के साथ कहा।

"सब अच्छी हैं। सब खाने लायक़ हैं!" मां ने पुष्टि की।

मां ने उन्हें चूल्हे के पास ले जाकर साफ़ किया और तेल में तल लिया।

अब्बा अंधेरा होने तक पनचरख़ी पहिया बनाने में जुटे रहे। लेकिन उस शाम अंधेरा जल्दी छा गया। हवा की गति बढ़ गयी। रेतीली

आंधी चलने लगी। जल्दी ही सारी ज़मीन रेत से ढक गयी। हमने किवाड़ कसकर बंद कर लिये और ढिबरी जला ली। लेकिन रेत किवाड़ों की दरारों में से बारिश की तरह कमरे के अंदर आती रही।

उस रात को हमारे परिवार ने पहली बार मेरी मेहनत का फल चखा। मैं खुमियां खाकर शीघ्र ही सो गया। दिन भर की थकान ने मुझे निढाल कर दिया था।

सुबह मेरी नींद अब्बा और मां की घबरायी हुई आवाज़ों से खुल गयी। मैं ध्यान से सुनने लगा।

वे कह रहे थे कि रेत से कई गांव ढक गये हैं और काफ़ी फ़सलें नष्ट हो गयी हैं। नाना की अंगूर की बेलें भी रेत में दब गयी हैं।

"अच्छा, ज़रा झटपट चाय बनाओ! हमें जल्दी से जल्दी तुम्हारे अब्बा की अंगूर की बेलों को बचाने पहुंचना चाहिए, वरना सब बरबाद हो जायेगा," अब्बा ने मां से कहा। "और उन्हें आगे आनेवाली रेतीली आंधियों से बचाने का इंतज़ाम करना चाहिए।"

मैं भागकर बाहर निकला।

शान्त व उजली सुबह थी। हवा बहुत हल्की चल रही थी। लेकिन हमारा सारा अहाता और बाग़ीचा रेगिस्तान में बदल चुका था – पैर रेत में धंस रहे थे।

ख़ूबानी के फूल मृत मधुमक्खियों जैसे लग रहे थे। सारे हरे-भरे पौधे रेत में दब चुके थे। कल तक जिस बाग़ीचे को देखकर आंखों को सुख मिलता था, वह अब शोक में डूबा दिखाई दे रहा था।

अब्बा ने मां से कुल्हाड़ी, आरी और कुदाली लाने को कहा। काम करने के कपड़े पहनकर वह चलने की तैयारी करने लगे। मैंने उनसे मुझे भी अपने साथ ले चलने को कहा।

"तो चलो!" अब्बा मान गये। "कल तो तुमने जीती-जागती ज़मीन देखी थी, आज उसकी लाश देख लेना। ज़िंदगी में उसे दोनों

हालत में देखना ज़रूरी होता है।"

हम नाना के घर की तरफ़ चल पड़े।

मेरे नाना के बेटे, यानी मेरे मामा—क़ुरबान नियाज़, रौशन नियाज़ और नियाज़ ख़ां पहले से वहां मौजूद थे। लेकिन उनके पांचवें बेटे अली ख़ां अपने गधे पर चाय की बोरी लादकर बाज़ार जाने की तैयारी कर रहे थे। वह चाय का व्यापार करते थे।

"यह क्या करते हो? सबको छोड़कर क्यों जा रहे हो? मुसीबत से उबरने में हाथ नहीं बंटाओगे?" अब्बा ने उनसे पूछा। "भला कोई ऐसी मुसीबत की घड़ी में बाज़ार जाने की सोच सकता है?"

"मेरे लिए न तो बाग़ किसी काम का है और न ही ज़मीन! बस बाज़ार सलामत रहे!" अली ख़ां ने जवाब दिया।

अब्बा धीरे से बड़बड़ाये:

"तुम दिल के काले हो। बिलकुल निकम्मे हो!"

घर में से नाना ने अब्बा से चिल्लाकर कहा:

"इससे बात करना बेकार है। यह कोई आदमी है?! यह तो सूअर है!"

यह स्पष्ट था कि नाना और अली ख़ां में बाग़ को लेकर पहले ही कहा-सुनी हो चुकी थी।

मेरे तीनों मामा कुदालें, कुल्हाड़ियां, बेलचे व आरियां लेकर चल पड़े। नाना ने एक थैले में रोटियां, चायदानी और प्यालियां रखीं और गधे पर सवार होकर मुझे अपने पीछे बिठा लिया। सब स्तेपी की ओर चल पड़े।

हमें विदा करते समय नानी ने अल्लाह से ज़ोर-ज़ोर से दुआ मांगी कि वह हमें विपत्ति पर विजय दिलाये और हमारी मेहनत सफल करे।

रेत से संघर्ष

मेरे नाना का बाग़ व खेत क़ाक़ा स्तेपी के छोर पर थे। क़ाक़ा स्तेपी महल्ला-ए-बाला के पूर्व में फैली हुई थी और उसकी सीमा क़ा-राख़ानी गांव के खेतों से लगती थी।

क़ाक़ा स्तेपी शाफ़िरकान के प्राचीन पेटे के दक्षिण में फैली हुई थी और यह माना जाता था कि वहां पहले प्रचुर मात्रा में पानी उपलब्ध था। जब हम स्तेपी में पहुंचे, तो हमें वहां रेत के सिवा और कुछ नज़र नहीं आया। उत्तर-पूर्व में रेत के बड़े-बड़े टीले बन गये थे, जो दक्षिण-पश्चिम की ओर छोटे होते जा रहे थे, जबकि उससे आगे घुटनों तक रेत की मोटी तह बिछी हुई थी।

सारी स्तेपी में लोग चींटियों की तरह रेंगते नज़र आ रहे थे। वे अंगूर की बेलों को टेकें लगाकर उनसे बांध रहे थे। उन्होंने दो बार बेलों को रेत हटाकर निकाला था और दोनों बार रेत ने उन्हें दबा दिया था। लोग एकपहिया ठेलों और बोरियों में, गधों पर लाद-लादकर ज़मीन से रेत हटा रहे थे।

अन्त में हम नाना के अंगूर के बाग़ में पहुंच गये।

नाना के दो बाग़ थे। उनमें से एक कोई डेढ़ एकड़ का था, जिसके चारों ओर रेत से बचाव के लिए मेड़ नहीं बनी थी। दूसरा उसका आधा था और उसके चारों ओर लगभग दो मीटर ऊंची मेड़ थी।

बड़ा बाग़ पूरा रेत से ढक गया था, उसके स्थान पर एक बड़ा-सा टीला बन गया था।

नदी किनारेवाले दूसरे बाग़ में रेत नदी में भरकर मेड़ तक आ पहुंची थी। फिर मेड़ से बढ़कर बाग़ में गिरी थी और उसका लगभग एक तिहाई भाग ढक चुकी थी।

हवा के थमने के बावजूद रेत धीरे-धीरे आगे बढ़ती जा रही थी।

बाढ़ से उमड़े नहर के पानी की तरह रेत अंगूर की नयी बेलों को दबोचती हुई निरन्तर आगे खिसकती आ रही थी।

नाना ने तालाब के पास एक बूढ़े क़ैराग़ाच वृक्ष के तले दरी और बोरियां बिछा दीं। दो दिन पहले तक वह वहां बैठकर वृक्षों की शाखाओं के बीच से झिलमिलाते पानी के दृश्य का आनन्द लेते थे। अब न वहां तालाब रहा था और न ही नहर। अब उस जगह पर वृक्षों की शाखाओं तक ऊंचा रेत का टीला खड़ा था।

अब्बा ने मेरे मामाओं को बेद-मजनूं, पोपलरों, कैराग़ाचों और शहतूत के पेड़ों की डालें काट-काटकर बाग़ की मेड़ के पास घसीट लाने और उनका कुछ हिस्सा बिना मेड़वाले बाग़ के पास ले जाने को कहा।

अब्बा ने डालों से छोटी-छोटी टहनियां चाक़ू से काट-काटकर अलग कर लीं। इस प्रकार लम्बी-लम्बी लग्गियां तैयार हो गयीं। फिर वह उन्हें बाग़ की मेड़ और उस तक जमा हुई रेत के बीच में गाड़ने लगे और छोटी टहनियों व क़मचियों से उन्हें इस तरह आपस में गूथने लगे, जैसे कोई टोकरी बुन रहे हों।

यह काम पूरा कर लेने के बाद अब्बा ने कहा:

"अगर हम दिन भर में यहां से सारी रेत हटा लेंगे, तो बाग़ बच जायेगा।"

इसके बाद वह बिना मेड़वाले बाग़ के पास गये। बेशक मैं भी अब्बा के साथ-साथ रहा। अब्बा ने वहां भी लग्गियां रेत में गाड़ीं और मामा उन्हें टहनियों व क़मचियों से बांधते गये।

इन कामों में काफ़ी समय लग गया, लेकिन उन्हें निबटा लेने के बाद ही सब नाना के पास जाकर बैठे और खाना खाया।

वापस चलने की तैयारी करते हुए अब्बा बोले:

"अच्छा, अब मैं जाता हूं। आपके बेटों को अब बाड़ बनाना आ गया है, उन्हें अब मेरी मदद की ज़रूरत नहीं रही। लेकिन बाग़ों से

सारी रेत निकालना बहुत लम्बा और मुश्किल काम है। आप आराम कीजिये, बेटे बिना आपको तकलीफ़ दिये यह काम निबटा लेंगे।"

मेरे बूढ़े और जर्जर नाना ने सहायता के लिए अब्बा का धन्यवाद कहकर उन्हें विदा किया। मामा क़ुरबान नियाज़ अब्बा से बोले:

"मैं भी आप जैसा अथक और दृढ़निश्चयी बनना चाहता हूं।"

"यह तो बहुत आसान है!" अब्बा ने कहा। "बस इच्छा होनी चाहिए। सच्चे दिल से चाहोगे, तो मुश्किल काम भी आसान बन जाता है। आलसी और कामचोर लोग कभी नहीं जान सकते कि आदमी मेहनत करने से कितना ताक़तवर बनता है और उसे कितना आनन्द मिलता है इससे। अगर वे यह जानते , तो कभी हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहते।"

हम घर रवाना हो गये। अब्बा ने दूसरा रास्ता चुना। हम रेत से ढक गयी नहर पर से निकलकर बाला-ए-रूद गांव पहुंच गये।

हमें वहां कल तक आबाद गांव की जगह पर वीरान खण्डहर और रेत से छतों तक ढके मकान दिखाई दिये। कहीं-कहीं रेत में से घरों की छतें चमक रही थीं। रेत के ढेरों पर स्त्रियां और बच्चे बैठे थे। रात भर में वे सब बेघर हो गये थे। उनके सामने रज़ाइयों, दरियों, तकियों, देगों, तश्तरियों आदि के ढेर लगे हुए थे।

"लगता है मर्द लोग आस-पास के गांवों में शरण ढूंढ़ने गये हैं," अब्बा ने सोच में डूबे हुए कहा।

हम लोग बरात हलवाई के घर तक पहुंचे। वहां उस घर की केवल छत नज़र आ रही थी, जिसमें हमने हलवा बनते देखा था। वह मकान तीन तरफ़ से छत तक रेत में धंसा हुआ था। उसका केवल दक्षिणी भाग खुला था। उसका दरवाज़ा और चहारदीवारी भी रेत से ढक चुके थे। घर के नज़दीक केवल रेत के टीलों पर चढ़कर पहुंचा जा सकता था। अब्बा ने घर के निकट पहुंचकर आवाज़ दी:

"उस्ताद बरात! आप कहां हैं?"

"यहां! मैं बच्चों के साथ ज़िंदा ही क़ब्र में दफ़न हुआ बैठा हूं!"

वह उसी दरवाज़े में से निकलकर आये, जिसमें से होकर मैं और मुहीउद्दीन हलवा लेने गये थे। उन्होंने बताया:

"जब रेत हमारे घर पर बरसने लगी, तो मैं बीवी-बच्चों के साथ मिलकर अपना सारा सामान घर में से हलवाईख़ाने में घसीट लाया। फिर बेटों के साथ छत पर चढ़कर हम लोग वहां से रेत को बेलचों से बर्फ़ की तरह उठा-उठाकर नीचे फेंकने लगे। इस तरह हमने किसी तरह अपने सिर पर छत को सही-सलामत रखा।" उनकी आंखों में आंसू छलछला आये।

"आपको ख़ैर मनानी चाहिए," दूसरे तो बिलकुल बेघर हो चुके हैं!" अब्बा ने उनको तसल्ली दिलायी।

जब वह थोड़े शान्त हुए, तो हम आगे बढ़े।

बरात हलवाई के घर के पास अब न नहर रह गयी थी, न पुल, न नाला और न ही वह पनचक्की, जिसे मैंने भाई साहब के साथ देखा था।

अब्बा उस स्थान तक गये, जहां पनचक्की थी। रेत के बोझ से पनचक्की ढह गयी थी। सब रेत में दबा हुआ था। वहां पर अब केवल एक ऊंचा टीला खड़ा था।

घर पर हमें अब्बा के भाई, चाचा उस्ताद ख़्वाजा मिले। वह कुछ दिन पड़ोस के गांव तेज़गुज़र में एक मकान बनाने गये थे और आज लौटकर आये थे।

उन्होंने बताया:

"बाग़-ए-अफ़ज़ल, तेज़गुज़र के सारे खेत, क़ारायाग़ाच गांव, उसके चारों ओर की सारी बस्तियां अब्दुल्लाजान, मुहम्मद बाक़ी और काची-

ख़ूरान ऊपर तक रेत से ढक गये हैं। सुना है, रेत सईदातो गांव और वरदांज़ें पहाड़ियों तक पहुंच चुकी है।"

अब्बा ने कहा:

"नहर भी अब नहीं रही, सारी रेत से पट गयी। लेकिन उन जगहों की हालत भी अब नहीं सुधर सकेगी, जहां कुछ बच गया है – इसके लिए पानी कहां से आयेगा? यह समझिये कि रात भर में पूरा शाफ़िर-कान इलाक़ा सूखा और वीरान रेगिस्तान बन गया है।"

मां ने अब्बा से नाना के यहां का हाल पूछा, फिर बोली:

"मेरे अब्बा की मदद की ख़ातिर आपने अपना काम बिलकुल नहीं किया। आप तो कह रहे थे कि आपको जल्दी से जल्दी पनचरख़ी बनाकर देनी है।"

मां की बात पर अब्बा मुस्कराये और सिर हिलाकर बोले:

"चक्कीवाले ने मुझसे यह चरख़ा बनाने को कहा था और बीस तंगे पेशगी दिये थे। मैंने पनचरख़ी एक हफ़्ते में बना देने का वादा किया था। लेकिन उसे अब इस पनचरख़ी की कोई ज़रूरत नहीं रह गयी। मैं देख चुका हूं–अब न पनचक्की रही, न ही नाला। मेरी समझ में नहीं आता कि उसकी पेशगी रक़म लौटाने के लिए मैं पैसा कहां से लूं।"

मां जब तक चाय बनाने में लगी रहीं, अब्बा मुहीउद्दीन भाई से याद किये पाठ सुनते रहे।

सोकतारे में

सोकतारे में अपने जीवन के बारे में बताने से पहले उचित होगा कि मैं पाठक को अपनी सोकतारे की जायदाद का ब्योरा बता दूं।

सोकतारे में हमारा घर गांव के उत्तरी छोर पर, मसजिद के पास एक कूचे में था।

उसी कूचे में मकतब, मसजिद और मसजिद का बाग़ भी थे। कूचे में और भी कई घर थे। हमारा दरवाज़ा भी इसी कूचे में खुलता था।

हमारे अहाते में हमारे परिवार के अलावा बहुत-से रिश्तेदार भी रहते थे।

अहाता कोई दो सौ मीटर लम्बा और डेढ़ सौ मीटर चौड़ा था। उसे चार हिस्सों में बांटा गया था। पहला हिस्सा, जो फाटक के निकट था, हमारा था। बाक़ी तीन मेरे उब्बा के चाचा और उनके चचेरे भाइयों के थे।

हमारे अहाते को एक तरफ़ से मसजिद व उसके बाग़ से मिट्टी की एक नीची दीवार अलग करती थी, पूर्व और पश्चिम दिशा से कच्ची दीवार हमें पड़ोसियों से अलग करती थी। अहाते की उत्तरी तरफ़ की दो रद्दों की दीवार हमें स्तेपी से अलग करती थी। हर अहाते का एक दरवाज़ा सीधा स्तेपी में खुलता था।

उत्तर की ओर के हमारे सबसे नज़दीकी पड़ोसी अब्बा के चाचा अब्दुल्ला ख़्वाजा थे, जिनकी उम्र, मेरे मां-बाप के अनुसार, नब्बे से ऊपर थी। उनके भीतरी अहाते में एक टूटा-फूटा-सा घर था, जिसमें उनके बेटे की बहू अपनी बहन के साथ रहती थी, जबकि बाहरी अहाते में खम्भों पर महीन नक़्क़ाशीदार, मसजिद जैसा घर था। उसके बैठकख़ाने में वह स्वयं रहते थे।

अब्दुल्ला ख़्वाजा पहले बढ़ई का काम करते थे और अपने ज़मीन के टुकड़े पर खेती भी किया करते थे। लेकिन उनका बेटा निकम्मा और छिछोरा था, उसे न तो बढ़ईगीरी में कोई दिलचस्पी थी और न ही काश्तकारी में। जब अब्दुल्ला ख़्वाजा उम्र ढलने के कारण काम करने लायक़ नहीं रहे, तो बाप-बेटे ने अपनी ज़मीन बेच दी और सारे पैसे ख़र्च कर दिये। उस समय, जिसकी मैं याद कर रहा हूं, अब्दुल्ला

ख़्वाजा की कहीं से कोई आमदनी नहीं रही थी और वह अपने रिश्ते-दारों की दया पर जी रहे थे। वह दिन भर बैठकख़ाने में गुमसुम बैठे रहते थे और अहाते में विरले ही निकलते थे।

अब्दुल्ला ख़्वाजा के बेटे ख़्वाजा इब्राहीम गांव-गांव भटकते रहते थे। वह पढ़े-लिखे थे और लोगों का कहना था कि वह जादू-टोना किया करते थे। लेकिन इतना स्पष्ट था कि ऐसे आसान काम में भी वह अधिक सफल नहीं होते थे। वह दो-तीन सप्ताह में एक बार घर आते थे, पर जो कुछ वह अपने साथ लेकर आते थे, वह उसकी बेटी, बीवी और, उन लोगों के साथ रहनेवाली बीवी की बहिन के गुज़ारे के लिए अपर्याप्त रहता था। अपने नब्बेसाला बाप को वह कुछ नहीं देते थे। मेरे अब्बा ख़्वाजा इब्राहीम को 'कमबख़्त निकम्मा' कहते थे।

एक बार अब्बा ने इब्राहीम ख़्वाजा को अपने बूढ़े बाप के साथ उनके अनुचित व्यवहार के लिए बहुत शर्मिंदा किया, लेकिन उन्होंने सब हंसी-मज़ाक़ में टाल दिया और घोड़े पर सवार होकर फिर धूल फांकने निकल पड़े।

अब्दुल्ला ख़्वाजा के अहाते के पीछे एक बूढ़ी औरत रहती थीं, जिनका नाम तूता पाशा था। मुझे उनका असली नाम मालूम नहीं। उनका नाम सुनकर हर कोई यही सोचता था कि वह मख़मल और रेशमी पोशाक पहने गुदगुदे गद्दों पर विराजमान हो बड़े घमण्ड से नौकर-चाकरों पर हुक्म चलाती होंगी। लेकिन वास्तविकता बिलकुल इसके विपरीत थी—वह फटे-पुराने, पैवंद लगे कपड़े पहने रहती थीं और उनके घर में बाल झड़ी बकरी की खाल, फटे-पुराने नमदे और चिक्कट रज़ाई व कुछ तकियों के सिवा और कुछ नज़र नहीं आता था।

सुना था, उनकी उम्र अस्सी से ऊपर थी। बुढ़ापे के कारण उनकी कमर दोहरी हो गयी थी, वह बिलकुल चल-फिर नहीं सकती थीं और हर समय लेटी रहती थीं। वह सिरहाने एक ऊंचा तकिया लगाये रहती

थीं और पैताने भी वैसा ही एक तकिया रखकर अपने कुबड़े शरीर को किसी हद तक सीधा रखने की कोशिश करती थीं। वह मेरे अब्बा के एक और चाचा अब्दुल कुद्दूस ख़्वाजा की बीवी थीं, जो काफ़ी पहले अल्लाह को प्यारे हो चुके थे। उनके बेटे शरफ़ ख़्वाजा विरासत में मिली ज़मीन को खाने-पीने में उड़ाकर अपने किसी रिश्तेदार के पास क़र्शी चले गये थे। लेकिन क़र्शी में भी वह निठल्ले बैठे रहे।

शरफ़ ख़्वाजा हर साल अपनी मां से मिलने आया करते थे। वह अपने साथ खाने का जितना सामान लेकर आते थे, वह ठीक डेढ़-दो सप्ताह के लिए ही काफ़ी होता था यानी जितने समय वह मां के पास रहते थे। उनके जाने के बाद तूता पाशा को उनके रिश्तेदार और पड़ोसी ही खिलाया-पिलाया करते थे।

हमारे अहाते के आख़िरी हिस्से में अब्बा के चचेरे भाई हिदायत ख़्वाजा रहते थे। वह पढ़े-लिखे और मिलनसार व्यक्ति थे। उस समय उनकी आयु लगभग पचास वर्ष की थी। वह बहुत कुशल बढ़ई थे। कहते थे, बुख़ारा तक में उनके जोड़ का बढ़ई नहीं था। अपने काम में दक्षता के कारण लोग उन्हें उनके नाम से नहीं, उस्ताद ख़्वाजा के नाम से पुकारते थे।

उन्होंने अपनी पहली बीवी से जन्मे दो बेटों को पाल-पोसकर बड़ा किया। उनके बड़े बेटे सईद अकबर मेरे मुहीउद्दीन भाई के हमउम्र थे और उन्हीं के साथ हमारे गांव के उस्ताद से तालीम पाते थे। उनके दूसरे बेटे का नाम इकराम ख़्वाजा था। वह कम पढ़े-लिखे थे और अपने अब्बा की मदद किया करते थे। अपनी पहली बीवी के मरने के बाद उस्ताद ख़्वाजा ने दूसरी शादी की और उनकी दूसरी बीवी से दो बेटियां पैदा हुईं। उस समय उनकी लड़कियां बहुत छोटी थीं, लेकिन उनकी मां जवान थीं और उन्हें अपने ख़्वाजा ख़ानदान से होने का बहुत घमण्ड था। यहां तक कि खाना तैयार करने के सिवाय वह घर में किसी भी

काम को हाथ नहीं लगाती थीं। उनके अहाते में ख़ूबानियां गिरकर सड़ती रहतीं, पर वह उन्हें उठाकर कभी सुखातीं नहीं।

कुशल बढ़ई होने के बावजूद उस्ताद ख़्वाजा की आर्थिक स्थिति हमसे बेहतर नहीं थी, लेकिन वह तूता पाशा और नब्बेवर्षीय अब्दुल्ला ख़्वाजा की सच्चे दिल से मदद किया करते थे।

जिस साल शाफ़िरकान नदी सूखी, तब अब्बा ने हमें महल्ला-ए-बाला से सोकतारे जल्दी भेज दिया, हालांकि आम तौर पर हम शहतूत पकने से पहले सोकतारे नहीं जाते थे। उस साल हमारे पहुंचने तक शहतूत मुश्किल से आ ही पाये थे।

सोकतारे में भाई साहब सईद अकबर ख़्वाजा के साथ गांव के उस्ताद से शिक्षा लेते थे, जबकि मैं दिन भर अपने हमउम्र दोस्तों के साथ नहरों व नालों में खेलता रहता था, जो उस गांव में काफ़ी थे।

अब्बा ने फ़ैसला किया कि वह हमें सर्दियों में भी महल्ला-ए-बाला नहीं बुलायेंगे, क्योंकि अब वहां पीने के पानी के लिए बहुत दूर कुएं पर जाना पड़ता था।

उन्होंने सोकतारे में हमारा पुराना घर तोड़कर नया घर बनाया और उसके साथ कुछ कोठरियां आदि भी बना लीं। इस काम में उस्ताद ख़्वाजा ने उनकी मदद की। थोड़ी-बहुत मदद भाई साहब और इकराम ख़्वाजा ने भी की। केवल सईद अकबर ने यह कहकर काम करने से इनकार कर दिया कि वह ख़ुशनवीस बनना चाहते हैं और उन्हें डर है कि मिट्टी व ईंटें रखने-उठाने से उनके हाथ ख़ुरदरे हो जायेंगे और उनकी लिखावट बिगड़ जायेगी।

तूता पाशा

उस वर्ष मुझे और मेरे दोस्तों को तूता पाशा के यहां जाने में बहुत मज़ा आता था। हम सांस रोके उनके अद्भुत कहानी-क़िस्से और रोचक परी-कथाएं सुना करते थे। उन्हें रुस्तम, इस्फ़ंदियार, सियावुश * और अबू-मुसलिम ** के बारे में अनेक दंत-कथाएं ज़बानी याद थीं।

हम उनके लिए रोटियां, सूखी ख़ूबानियां या खाने की और कोई चीज़ लेकर आते और उसके बदले में वह तकिये पर लेटी-लेटी हमें असंख्य कहानी-क़िस्से सुनातीं। हम अपने चारों ओर की दुनिया, फटी-पुरानी रज़ाई से ढके उनके पंगु शरीर और टूटे-फूटे घर की बदरंग दीवारों से बेख़बर सुनते रहते। वह दंत-कथाओं की तूता पाशा की तरह हमारे हाथ पकड़े-पकड़े हमें अपने परी-लोक की सैर करा लातीं। एक बार उन्होंने हमें एक कहानी सुनायी, जिसका नाम था : 'मेहनती नौकर और बेईमान मालिक'।

मुझे यह कहानी अभी तक याद है।

यह थी तूता पाशा की ज़बानी सुनी वह कहानी :

"बहुत दिन हुए एक बेईमान और लालची मालिक रहता था। वह अपने खेत-मज़दूरों और नौकरों से बिना मज़दूरी दिये ज़बरदस्ती काम करवाता था।

जब कभी वे अपनी मज़दूरी मांगते, मालिक उनके मत्थे झूठे-सच्चे क़र्ज़ मढ़ देता, और वे किसी तरह उसके चंगुल से निकल नहीं पाते।

---

* फ़िरदौसी के 'शाहनामा' के नायक।

** ७५५ हिजरी में जन्मा मशहूर अरब सेनापति, जिसने अब्बास ख़लीफ़ात की स्थापना के लिए संघर्ष किया।

कोई नौकर यदि किसी तरह उसका झूठा उधार चुका भी देता, तो भी मालिक उसे डराने-धमकाने, धोखा देने और दोबारा क़र्ज़ में फंसाने का कोई तरीक़ा निकाल ही लेता। नौकर अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उस मालिक से पिण्ड नहीं छुड़ा पाते।

जब उसके सारे पुराने नौकर मर गये, तो वह बिलकुल अकेला रह गया। उसका काम करनेवाला कोई न रहा। वह लोगों को कितने ही लालच देकर क्यों न बुलाता, ईमानदारी से मज़दूरी देने की कितनी ही क़समें क्यों न खाता, पर उसके यहां काम करने को कोई तैयार न होता। उसका नाम बेईमान और चुग़लख़ोर पड़ गया और उसकी बदनामी दूर-दूर तक इतनी फैली कि वह जहां कहीं नौकरों को ढूंढ़ता, लोगों को उसके बारे में पहले से मालूम हो जाता।

एक बार उसने गांव के सारे ग़रीबों को मसजिद के पास इकट्ठा किया और उसने इमाम के सामने क़सम खाकर कहा कि यदि कोई उसके यहां काम करने को तैयार होता है, तो वह ईमानदारी से उसकी मज़दूरी अदा करता रहेगा। लेकिन वहां भी किसी ने उस पर विश्वास नहीं किया।

तब उस मालिक ने उसी गांव के एक अनाथ लड़के को अपने पास बुलवाया और बोला:

मेरे बेटे, तुम्हारे बाप नहीं है और मेरे कोई बेटा नहीं है। अगर तुम मेरे साथ आकर रहने लगो, तो मैं तुम्हें अपने बेटे की तरह मानूंगा, और जब मेरी इकलौती बेटी बड़ी हो जायेगी, तब उसके साथ तुम्हारी शादी करवा दूंगा। मेरे मरने के बाद मेरी सारी दौलत तुम्हारी हो जायेगी।'

वह अपनी बेटी को, जो उस समय पांच साल की थी, लेकर बाहर आया और बोला:

'सयानी होने पर यह ख़ूबसूरत लड़की तुम्हारी बीवी हो जायेगी।'

लड़का तैयार हो गया और उसी दिन से मालिक के यहां काम करने लगा।

धीरे-धीरे कई वर्ष बीत गये। लड़का ईमानदारी से अपना वचन निभाता रहा और सामर्थ्यानुसार काम करता रहा। वह अपने मालिक की बेटी का बहुत ध्यान रखता, उसके लिए खिलौने बनाता, उसे रोचक कहानियां सुनाकर उसका दिल बहलाता।

लड़की को स्नेही व चिन्ताशील लड़के से बहुत लगाव हो गया।

जब वह सयानी हुई, तो उसे युवक से और अधिक लगाव हो गया और प्रेम भी हो गया। और युवक भी जब खेत पर जाता, बार-बार मुड़कर मालिक के घर की ओर देखता जाता, मानो वहां अपनी कोई बहुमूल्य वस्तु छोड़कर जा रहा हो। शादी के चिर-अभीप्सित दिन को निकट लाने की चिन्ता में वह और भी अधिक दिल लगाकर मेहनत करता रहा।

स्वामी भी उसके साथ अच्छा और शिष्टतापूर्ण व्यवहार करता था। उसे कोई काम करने भेजते समय वह उसे हुक्म नहीं देता था, बल्कि उससे प्रार्थना करता था। मालिक की बेटी अब युवक को मनाने लगी कि वह किसी को अपने पिता के पास शादी का दिन तय करने के लिए भेजे। लड़का उससे यही कहता कि उसके पिता बिना किसी अगुए के खुद ही उनकी शादी करवा दें, तो अच्छा रहेगा।

जब वह लड़की सतरह बरस की हुई, तो उनके यहां चारों ओर से अगुए शादी के पैग़ाम लेकर आने लगे। लड़की को चिन्ता होने लगी; उसकी मां बड़े ध्यान से अगुओं की बातें सुनती, महर की रक़म के बारे में उनसे बहस करती, पर किसी से भी यह नहीं कहती कि उसकी बेटी की शादी उनके नौकर के साथ तय हो चुकी है। लड़की यह समझ गयी कि पिता उसकी शादी कभी उसके प्रेमी से नहीं करेगा और यह भी कि उसके मां-बाप अपनी बेटी के लिए मोटी से मोटी महर की रक़म

पाने की ख़ातिर कोई धनी दूल्हा ढूंढ़ रहे हैं।

'यह याद रखना कि अगर मेरे अब्बा ने मेरी शादी किसी और के साथ की, तो मैं अपनी जान दे दूंगी!' लड़की ने कहा।

'अगर तुम्हारे अब्बा ने तुम्हारी शादी मेरे साथ नहीं की, तो मैं भी अपनी जान दे दूंगा।' लड़के ने जवाब दिया और उस मुल्ला के पास गया, जिसके सामने मालिक व नौकर में यह शर्त तय हुई थी। लड़के ने मुल्ला से इस मामले में मालिक और उसके बीच मध्यस्थता करने को कहा। मुल्ला मान गया और मालिक के पास गया। उसकी बात सुनकर मालिक हंस पड़ा:

'आप इसकी चिन्ता मत कीजिये। अगर मेरा नौकर आपसे इस बारे में पूछे, तो उससे कह दीजिये कि इसका जवाब मालिक ख़ुद देगा।'

इसके बाद मालिक नौकर के पास जाकर बोला:

'मेरे बेटे, पराये लोगों को हमारे बीच में न लाओ। तुम इन अगुओं की बिलकुल परवाह न करो। तुम्हारी मंगेतर इतनी ख़ूबसूरत है, इसी लिए तो लोग उसके लिए पैग़ाम भिजवाते हैं। हम किसी का दिल नहीं दुखाना चाहते, इसलिए बेरुख़ी से इनकार नहीं करते, बल्कि महर की बड़ी-सी रक़म मांगकर सब दूल्हों को डरा देते हैं।'

लड़का शान्त हो गया। उसने लड़की को भी तसल्ली दिला दी। उस दिन से वह और भी ज़्यादा दिल लगाकर काम करने लगा।

एक दिन मालिक के दरवाज़े पर ख़ूब शानदार कजावों से सजा-धजा ऊंटों का एक पूरा कारवां आकर रुका। उनमें से कुछ ऊंटों पर चावल, आटे आदि के बोरे लदे थे, कुछ पर मिठाइयां, शक्कर व हलवा आदि लदे थे और कुछ पर रेशम, मख़मल व ज़री के कपड़े। दरवाज़े पर ऊंटों को बिठाकर उन पर लदा सामान उतार-उतारकर घर के अंदर ले जाया जाने लगा। सब समझ गये कि मालिक ने अपनी बेटी की शादी किसी मालदार आदमी से तय कर ली है, यह सारा

मामान महर के बदले में है और जल्दी ही शादी की दावत होगी।

नौकर भी सारा मामला समझ गया, उसके ऊपर जैसे आसमान टूट पड़ा।

लड़के को आत्म-हत्या करने की इच्छा हुई, पर फिर उसने सोचा: 'अपनी जान तो मैं कभी भी ले सकता हूं, लेकिन जब तक ज़िंदा हूं, मुझे अपनी क़िस्मत के लिए लड़ना चाहिए। जब कोई आशा नहीं रहेगी, तब आत्म-हत्या कर लूंगा।'

उस समय जब घर के सब लोग दूल्हे द्वारा भेजे गये दहेज को देखने में लगे थे, लड़का भीतरी अहाते में गया और उसने लड़की को देखकर उसे एक तरफ़ बुला लिया। लड़की फूट-फूटकर रोने लगी और उसने लड़के को अपने कपड़ों के नीचे छिपाया ख़ंजर दिखाया:

'मैं मौक़ा मिलते ही यह ख़ंजर अपने सीने में भौंक लूंगी!'

'मैंने भी पहले यही करने की सोची थी। लेकिन फिर मुझे एक तरीक़ा सूझा है, जिससे हम दोनों ही बच जायेंगे।'

यह सुनकर लड़की ने लड़के का आलिंगन करके पहली बार उसे चूमा।

'जल्दी से बताओ, तुमने क्या तरकीब सोची है, वरना मुझे डर है कि मैं ख़ुशी के मारे यह जाने बिना ही मर जाऊंगी कि हम कैसे बच सकते हैं!'

'थोड़ा सबर करो। तुम यही दिखावा करो कि तुम अपनी होने-वाली शादी से ख़ुश हो। मैं मौक़ा देखकर छिपकर तुम्हारे पास आ जाऊंगा, फिर हम भाग जायेंगे। मैं इस दावत में नहीं रुकूंगा, अपनी तैयारियां करूंगा, फिर दावत के बाद तुम्हारे अब्बा से मिलकर उनसे अपनी पूरे बारह साल की बक़ाया मज़दूरी मांगूंगा। यह पैसा भागने के बाद शुरू में हमारे बहुत काम आयेगा।'

इस घटना के बाद लड़का गांव से ग़ायब हो गया और दावत के

पूरे हफ़्ते भर बाद ही लौटकर आया।

उसका मालिक मसजिद के पास कई लोगों के साथ बैठा था। नौकर ने उसके पास जाकर कहा :

'मैंने आपका जितना नमक खाया है, उतना काम नहीं कर पाया हूं। अब मेहरबानी करके मुझे जाने दीजिये। अगर आप मेरे काम की बक़ाया मज़दूरी मुझे दे दें, तो यह मुझ पर आपका आख़िरी एहसान होगा।'

'तुम्हारा क्या बाक़ी रह गया है?' मालिक ने ग़ुस्से से पूछा।

'मेरी बारह साल के काम की मज़दूरी। इमाम गवाह हैं हमारे उस समझौते के।'

मालिक की आंखों में ख़ून उतर आया, पर उसने अपने पर क़ाबू रखा।

'ठीक है,' उसने जवाब दिया, 'तुम अपना हक़ मांगते हो, तो तुम्हें हक़ के मुताबिक़ ही मिलेगा। सुबह मैंने चक्की पर ले जाने के लिए कोठे से आधी बोरी गेहूं निकाला था। वह गेहूं तुम ले जाओ।'

'क्या मेरी बारह साल की मज़दूरी सिर्फ़ गेहूं की आधी बोरी ही बनती है? मुझे लगता है आप ख़ुदा के ख़ौफ़ से बिलकुल नहीं डरते!'

यह सुनकर मालिक सकपका गया।

'अच्छा, बताओ,' इमाम ने नौकर से पूछा, 'जब मालिक ने तुम्हें काम पर रखा था, तब उसने तुम्हें कितना पैसा या कितनी जायदाद देने का वादा किया था?'

'इन्होंने मुझे अपना दामाद बनाने का वादा किया था।'

'इस तरह के वादे को मज़दूरी नहीं माना जा सकता। क्या इन्होंने पैसा या जायदाद देने का वादा किया था?'

'नहीं।'

'ऐसी बात है?' इमाम बोला। 'अगर यही बात है, तो मालिक

जो कुछ तुम्हें देना चाहेगा, वही तुम्हारी मेहनत का भुगतान होगा। यह जो कुछ भी दें, उसे लेकर इन्हें शुक्रिया अदा करो।'

इमाम की यह दलील सुनकर लड़के को ग़ुस्सा आ गया। लेकिन उसके दिमाग़ में एक और चाल कौंध गयी। उसने मालिक पर नज़र डालकर शान्तिपूर्वक कहा:

'ठीक है, मैं गेहूं की बोरी ले लेता हूं। लेकिन आपकी बीवी मुझे उसे घर से बाहर नहीं ले जाने देंगी।'

'अगर वह तुम्हें ले जाने की इजाज़त न दे, तो तुम उससे कहना कि वह दरवाज़े से बाहर झांककर मेरी तरफ़ देख ले। मैं उसे इशारे से समझा दूंगा।'

लड़का लपककर मालिक के घर में पहुंचा। वहां घोड़े पर काठी कसकर उसने मालकिन से कहा:

'मालिक ने गेहूं चक्की पर ले जाने को कहा है और यह भी हुक्म दिया है कि मैं आपकी बेटी को भी साथ ले जाऊं, ताकि वह शादी से पहले चक्की को एक नज़र देख ले। आप जाकर उससे कहिये कि वह जल्दी से तैयार हो जाये।'

'तुम झूठ बोलते हो!' मालकिन बोली। 'लड़की की शादी पक्की हो जाने के बाद नौकर के साथ उसे कहीं भी जाने की इजाज़त वह नहीं दे सकते।'

'अगर आपको यक़ीन नहीं आता, तो दरवाज़े से बाहर झांककर ख़ुद उनसे ही पूछ लीजिये।'

मालकिन नौकर के साथ दरवाज़े से बाहर आयी। नौकर ने चिल्लाकर कहा:

'यह मुझ पर यक़ीन नहीं कर रही हैं!'

तब मालिक ने पत्नी की ओर हाथ हिलाकर इशारा किया: 'ठीक है, मैंने इजाज़त दी है!'

नौकर ने जल्दी से अहाते में जाकर गेहूं की बोरी घोड़े पर लादी, ख़ुद उस पर सवार होकर लड़की को, जो तब तक तैयार हो चुकी थी, अपने पीछे बिठा लिया।

दरवाज़े से बाहर निकलते ही लड़के ने घोड़े को सरपट दौड़ा दिया।

जब तक मालिक उनके पीछे भागता, लड़का और लड़की दोनों उसकी आंखों से ओझल हो चुके थे।

वे कहीं बहुत दूर जाकर रहने लगे और इस तरह उन दोनों की इच्छा पूरी हो गयी।"

तूता पाशा कहानियां व क़िस्से सरल, सुगम और मुहावरेदार भाषा में सुनातीं, सुननेवाला प्रभावित हो उठता, लगता जैसे वह स्वयं सब अपनी आंखों से देख रहा है।

मुझे अफ़सोस है कि उनका कहानी सुनाने का तरीक़ा मुझे बिलकुल याद नहीं रहा, क्योंकि उनकी ज़बानी कहानियां सुने साठ से ज़्यादा साल गुज़र चुके हैं। मैं अब यह सब अपने ही ढंग से सुनाता हूं। लेकिन उन्हें याद करके मैं सारी ज़िंदगी सरल से सरल भाषा में लिखने का प्रयास करता रहा हूं।

उन अस्सीवर्षीया वृद्धा को मैं अपना पहला उस्ताद मानता हूं। और जब भी मुझे उनकी याद आती है, मेरे हृदय में फिर उनके प्रति सहानुभूति और कृतज्ञता का भाव उमड़ उठता है...

शाफ़िरकान की नयी नहर

वसन्त आ गया। ख़ूबानियों के फूल झड़ने के बाद कच्चे फल नज़र आने लगे। शहतूत के भी फल आने लगे। लोग रेशम के कीड़ों को खिलाने के लिए शहतूत की टहनियां काटने लगे।

वसन्तकालीन मूसलाधार वर्षा के मटमैले पानी से लबालब भरी मज़रंगां नदी उमड़ चली।

किसान ज़मीन जोतने, हेंगा फेरने और बोवाई करने में जुट गये।

अबाबीलें गीली मिट्टी की बिनौलों जैसी डलियां ला-लाकर अपने घोंसले बनाने लगीं। शीघ्र ही घरों की ओलतियों में बड़ी सफ़ाई से बनाये सुघड़, नाव के आकार के घोंसले नज़र आने लगे।

मज़ारों के गुंबदों के ऊपर लक़लक़ घोंसले बनाते और डबरों में जल-सांप पकड़ते दिखाई देते। चटकीले पंखोंवाले तीतर लक़लक़ों से डरते हुए एक झाड़ी से उड़कर दूसरी पर बैठते नज़र आने लगे।

हर प्राणी – मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सभी गतिमान हो उठे। वसन्त जो आ गया था।

ऐसे ही एक दिन जब वसन्तकालीन बादल झुलसाते सूरज से किसानों की रक्षा कर रहे थे, मेरे अब्बा महल्ला-ए-बाला से आये।

उन्होंने गधे को शहतूत के पेड़ से बांधा और ख़ुरजीं उठाकर अहाते में पहुंचे। मां ने निकलकर उनके हाथ से ख़ुरजीं ली और उनके स्वांस्थ्य के बारे में पूछा।

अब्बा ने मां को उनके माता-पिता की नेक ख़्वाहिशें दीं और बिना कुछ बोले कमरे में चले गये। मां ख़ुरजीं को बरामदे में छोड़कर जल्दी से उनके पीछे-पीछे गयीं। उनसे चोग़ा और अमामा लेकर उन्हें दरवाज़े के पास खूंटी पर टांग दिये और एक दरी बिछाकर उस पर गाव-तकिये लगा दिये। अब्बा अन्यमनस्कता से खिन्न स्वर में बोले:

"जल्दी से चाय बनाओ। ख़ुरजीं में से गोश्त निकाल लो, कहीं बिल्ली न उठा ले जाये।"

फिर वह लेट गये। मैं उनके उदास चेहरे की ओर देखता हुआ धीरे से उनके पास जा बैठा। चाय बनाकर मां ने दस्तरख़ान बिछाया और उस पर रोटी व मिठाइयां रख दीं।

अब्बा चाय पीने लगे, पर उनके चेहरे की उदासी बनी रही।

मां ने सावधानी से पूछा:

"क्या हुआ, चरख़े नहीं बिके क्या?"

"बेच दिये। मैंने क़ैरागाच के दो शहतीर भी ख़रीद लिए और उन्हें काट भी लिया," कहकर वह फिर मौन हो गये।

"ख़ुदा ख़ैर करे, आपकी तबीयत तो ठीक है ना? आप इतने उदास क्यों हैं?"

"मुझे कुछ नहीं हुआ है। सारी परेशानी शाफ़िरकान के हालात की वजह से है।" अब्बा ने जवाब दिया और फिर चुप हो गये। लेकिन मां को उस गुत्थी का छोर मिल गया था, जिसमें अब्बा उलझे हुए थे। वह अब समझ गयी थीं कि उन्हें कैसे सवाल पूछने चाहिए।

"सुना है शाफ़िरकान में नयी नहर बनायी जा रही है। क्या यह सच है?"

"सच है," अब्बा ने उत्तर दिया। "काश, वे उसे न बनाते! वह नहर तो लोगों पर उस रेत से भी ज़्यादा मुसीबतें ढहा रही है, जिससे पुरानी नहर पट गयी। यह काम तो वैसे ही हो रहा है, जैसे किसी के मरने के बाद हकीम को बुलाना!"

अब्बा ने थोड़ी देर सुस्ता लेने और शान्त हो जाने के बाद सारा क़िस्सा विस्तार में बताया:

शाफ़िरकानवासियों ने पिछली शरत् में ही पुरानी नहर से रेत हटाकर उसमें पानी छोड़ने का फ़ैसला कर लिया था। लेकिन यह काम उनके बस का नहीं निकला। उन्होंने कई बार बड़ी मुश्किल से खोद-खोदकर नहर से रेत हटायी, पानी छोड़ा, पर कुछ दिन बाद किनारों की रेत ने फिर नहर में खिसककर उसे पाट दिया।

इसके बाद शाफ़िरकान के सबसे जाने-माने, मालदार लोगों ने अमीर से नयी नहर बनाने की प्रार्थना की और उसकी लागत इलाक़े के

लोगों पर नया कर लगाकर वसूल करने का सुझाव दिया।

अमीर ने शाफ़िरकान के चार हाकिमों – क़ाज़ी, रईस, महसूलदार तथा गारद के अफ़सर – मीरशब को नयी नहर खुदवाने का काम संभालने का आदेश दिया।

इन चारों अधिकारियों ने कार्यस्थल निश्चित करके जनता को एकत्र किया और अपनी शर्तें समझायीं। तब से छः महीने गुज़रने पर नहर मुश्किल से तीन किलोमीटर खोदी गयी थी। लेकिन किसानों के पास रेत की आंधी आने के बाद बच पायी सारी सम्पत्ति उन चार हाकिमों के रख-रखाव पर खर्च हो चुकी थी।

नहर की खुदाई के बारे में अब्बा ने यह बताया:

"मैं देखने गया कि काम कैसा चल रहा है। मैदान में मुझे उन हाकिमों और उनके लोगों के तम्बू नज़र आये। वहां छोटे-बड़े कोई दो सौ तो अफ़सर ही थे। क़साई भेड़ काट रहा है। बावरची पुलाव पका रहे हैं, गोश्त भून रहे हैं, खूब घी लगाकर मीठी रोटियां पकाई जा रही हैं। उन दो सौ लोगों के घोड़े तम्बुओं के पास बंधे हरी-हरी तिपतिया खा रहे हैं। घोड़ों को रात को खिलाने के लिए जई की कई बोरियां लायी गयी थीं। गांवों के मुखिया लोग कई गधों पर चावल, जौ और आटा लादकर लाये थे। हर तम्बू के बाहर समोवार में चाय का पानी उबल रहा था। दो सौ लोग पुलाव खा रहे थे, चाय की चुस्कियां ले रहे थे। सूरज डूबने में क़रीब दो घंटे बाक़ी थे। तभी नुमायंदे तम्बुओं में से निकल आये और उन्होंने अपने मातहतों को बुलाकर आदेश दिया कि वे खुदाई-मज़दूरों को जमा करें और काम शुरू कर दें।

मज़दूरों के जमा होते-होते एक घंटा गुज़र गया। काम शुरू करने के समय से शाम ढलने तक हर गांव के मज़दूर केवल कुछ गज़ तक ज़मीन ही खोद पाये। फिर हाकिमों के आदेश पर उनके कारिंदों ने

मज़दूरों को चिल्लाकर हुक्म दिया : 'आज का काम ख़त्म हुआ! कल ज़रा जल्दी आना, वरना तुम लोग बची-खुची मज़दूरी से हाथ धो बैठोगे!' तो इस तरह काम करवाते हैं वे लोग।"

"इन हाकिमों को इतना वक़्त बिगाड़ने की क्या ज़रूरत पड़ी है?"

"जब काम ख़त्म हो जायेगा, तो इन दो सौ निठल्लों को पुलाव, गोश्त और रोटी और इनके घोड़ों के लिए जई और घास कहां से मिलेगी? लेकिन इन्हें सिर्फ़ खाना थोड़े ही मिलता है। ये लोग रोज़ाना पूरी आबादी से दस हज़ार तंगा उगाहते हैं, जो नहर की खुदाई का ख़र्च है। इसमें से आधी रक़म ये अपनी जेबों के हवाले करते हैं और बाक़ी खा-पी जाते हैं।"

अब्बा ने प्याली में बची चाय पी डाली और फिर मौन हो गये।

अब्बा की आंखों में शरारत की चमक आ गयी, उन्होंने मां की तरफ़ देखा और बोले :

"मैंने कुछ करने की ठानी है, नतीजा क्या होगा कह नहीं सकता। ख़ैर, देखते हैं।"

लेकिन इरादा क्या था, उन्होंने कुछ नहीं बताया। मां ने हठ के साथ-साथ सावधानीपूर्वक उनसे दोबारा पूछा :

"आख़िर आप करना क्या चाहते हैं?"

"इसके बारे में अभी किसी को नहीं बताना चाहिए। तुम भी चुप ही रहना। जब मैंने देखा कि लोग बरबाद हुए जा रहे हैं और एक बूंद पानी भी बढ़ता नज़र नहीं आ रहा है, तो मैंने अमीर को एक प्रार्थनापत्र लिखने की सोची। मैंने पूरा एक पन्ना लिख डाला! मैंने उसमें लिखा कि काम कैसे हो रहा है और विनती की कि यह काम किसी ईमानदार आदमी को सौंप दिया जाये। मैंने यह भी समझाया कि काम में देरी होने से हानि केवल जनता की ही नहीं, सरकार की भी हो रही है :

अगर नहर समय पर खोदकर उसमें पानी नहीं छोड़ा जाता, तो बोवाई नहीं हो सकेगी, अमीर को लगान नहीं मिलेगा, क्योंकि लोगों के पास देने को कुछ रहेगा ही नहीं!"

"आपने यह किसकी तरफ़ से लिखा?" मां ने पूछा।

"ख़ुद अपनी तरफ़ से। लेकिन मैंने यह नहीं लिखा कि मैं कौन हूं। पर प्रार्थनापत्र के अन्त में मैंने यह जोड़ दिया: 'प्रस्तुत प्रार्थनापत्र के लिखनेवाले की इस इलाक़े में कोई ज़मीन नहीं है और उसे पानी की ज़रूरत नहीं है। यह प्रार्थनापत्र मैंने हुज़ूरे आली के नाम केवल जनता और सरकार के हितों की चिन्ता के कारण ही लिखा है।'"

"क्या यह चिट्ठी अमीर के पास पहुंच गयी है?" मां ने ख़ुश होकर पूछा।

"अब तक ज़रूर पहुंच गयी होगी। मैंने उसे तुम्हारे भाई क़ुरबान नियाज़ के हाथों भेजा है। वह बुद्धिमान है और दुराग्रही भी। वह बुख़ारा गया हुआ है। जुमे को जब अमीर आर्क* से निकलकर मसजिद में जायेगा, तब क़ुरबान नियाज़ भीड़ में से अमीर के नौकर को चिट्ठी दे देगा। नौकर उसे अमीर को देगा, फिर अमीर उसे पढ़कर अपना फ़ैसला सुना देगा। उसका फ़ैसला क्या होगा, कह नहीं सकता। मेरे ख़याल से वह समझ जायेगा कि यह उसी के हितों को ध्यान में रखकर लिखा गया है।"

अब्बा ने जब यह बात कही, तो उन्हें शायद इसका पूरा विश्वास हो गया था कि उनकी मेहनत व्यर्थ नहीं गयी है। उनका चेहरा खिल उठा और उन्होंने मुस्कराकर फिर कहा:

"उसी के हित में होगा..."

---

* आर्क – बुख़ारा के अमीर का दरबार।

फिर अब्बा उठकर अपने काम में जुट गये। अगले दिन मैंने उन्हें करघे पर कपड़ा बुनते पाया।

अब्बा की महल्ला-ए-बाला से वापसी के कोई दो सप्ताह बाद ख़्वाजा सईद अकबर और मुहीउद्दीन भाई गर्मियों की छुट्टियां बिताने आ पहुंचे।

दो हफ़्ते आराम करने के बाद उन्होंने फिर गांव के उस्ताद से शिक्षा लेना शुरू कर दिया।

एक महीने बाद मेरे मामा मुल्ला देहक़ान मां से मिलने हमारे यहां आये। बुख़ारा में वह ग़िजदुवान के क़ाज़ी के बेटे अब्दुल वाहिद के साथ पढ़ते थे। वहां की पढ़ाई ख़त्म करके वे दोनों स्वयं क़ाज़ी से पढ़ने के लिए ग़िजदुवान आये थे। उसी समय क़ाज़ी के नाम अमीर का हुक्म आया कि वह शाफ़िरकान इलाक़े में पहुंचकर नहर की खुदाई अपनी देख-रेख में करवायें। उन्हें काम इस तरह करवाने को कहा गया था कि बोवाई के समय तक नहर में पानी छोड़ दिया जाये, ताकि किसानों को उसकी कमी न महसूस हो। मुल्ला देहक़ान से यह ख़बर सुनकर अब्बा का चेहरा खिल उठा। लगा जैसे वह ख़ुशी से फूले न समाकर उछल पड़ेंगे, गाने लगेंगे और आसमान की बुलंदियों को छूने लगेंगे। वह अपनी ख़ुशी छिपा न पा रहे थे।

अब्बा ने प्रसन्नतापूर्वक सोद्देश्य दृष्टि से मां की ओर देखा। फिर कुछ क्षण मौन रहकर उन्होंने मुल्ला देहक़ान से पूछा :

"अच्छा, क़ाज़ी के वहां पहुंचने के बाद काम में कुछ फ़र्क़ पड़ा?"

"जब मैं ग़िजदुवान में था," मामा ने जवाब दिया, "यह हुक्म हमारे उस्ताद क़ाज़ी साहब को मिला था। वह हमारी पढ़ाई रोककर शाफ़िरकान रवाना हो गये। मैं कोई दो दिन अपने एक साथी के यहां और रुका रहा। इसके बाद सीधा यहां आ पहुंचा। आपके यहां से मैं अपने घर वापस जाऊंगा। इसलिए काम के बारे में मुझे अभी कुछ मालूम नहीं है। लेकिन मैंने यह सुना था कि अमीर ने शाफ़िरकान के

उन चार हाकिमों को बर्ख़ास्त करके उनकी सारी जायदाद ज़ब्त कर ली है।"

* * *

इस बातचीत के लगभग दस दिन बाद मामा मुल्ला देहक़ान अपने मां-बाप से मिलने महल्ला-ए-बाला जानेवाले थे। मेरे अब्बा भी उनके साथ गये। अब्बा को यह देखने में दिलचस्पी थी कि ग़िजदुवान के क़ाज़ी की देख-रेख में काम कैसा चल रहा है। मैंने उन्हें अपने साथ मुझे भी ले चलने के लिए मना लिया।

हम तीनों महल्ला-ए-बाला रवाना हो गये और वहां पहुंचकर नाना के यहां ठहर गये।

हमारे आने का समाचार सुनकर नाना के घर में धीरे-धीरे गांव के सारे बुज़ुर्ग मेरे अब्बा और मामा से मिलने के लिये जमा हो गये। उन सबको यह बताते हुए बहुत ख़ुशी हो रही थी कि नये हाकिम की देख-रेख में काम कितनी अच्छी तरह हो रहा है।

"ग़िजदुवान के क़ाज़ी ने काम पौ फटने से शुरू करके अंधेरा घिर आने के बाद ही बंद करने का हुक्म दिया है। दोपहर को वह खाने और आराम के लिए सिर्फ़ एक घंटे की छुट्टी देते हैं।"

सब लोगों को दोपहर का खाना अपने घर से साथ लाना होता था। मुखियों को भी अपना खाना साथ लाना होता था और वे किसानों से कुछ लेने की जुर्रत नहीं कर सकते थे। खुद क़ाज़ी भी दो आदमी साथ लेकर आये हैं, एक हरकारा और एक नौकर, जिसे वह अपने खाने का सामान लाने के लिये अपने घर भेजते रहते हैं।

जब से क़ाज़ी अब्दुल वाहिद ने अपनी देख-रेख में काम शुरू करवाया है, दस दिनों में ही, पिछले दस महीनों में हुए काम से भी कहीं ज़्यादा काम पूरा किया जा चुका है।

यह सुनकर अब्बा और भी अधिक प्रसन्न हो उठे। उन्होंने मामा से कहा :

"चलिये, हम चलकर देखें? हम उनकी सफलता की कामना करेंगे।"

मामा तैयार हो गये। अब्बा ने मुझे भी साथ ले लिया।

उस समय काम महल्ला-ए-बाला के दक्षिण में रुबाहो गांव के निकट चल रहा था। हम वहां गये। फ़ासला लगभग एक हज़ार क़दम का ही था।

क़ाज़ी कमरबंद कसे, हाथ में बेद-मजनूं की एक लम्बी लाठी थामे नयी नहर के किनारे खड़े थे। अब्दुल वाहिद मध्यम क़द के, दुबले-पतले, सांवले चेहरे और छोटी-सी सफ़ेद दाढ़ीवाले व्यक्ति थे। उनकी भौंहें मेरे नब्बेवर्षीय नाना जैसी ही घनी और लम्बी थीं।

मामा ने मदरसे के विद्यार्थियों की तरह नीचे झुककर उन्हें सलाम किया और मेरे अब्बा से उनका परिचय कराया।

"यह मेरे बहनोई हैं। ये लोग आपको सलाम करने आये हैं।"

क़ाज़ी ने मामा से पूछा :

"क्या यह वही हैं, जिन्होंने आपको लिखना-पढ़ना सिखाया और पढ़ने के लिए बुख़ारा भेजा?"

"जी, यही हैं," मामा ने उत्तर दिया।

क़ाज़ी ने अब्बा का दोबारा अभिवादन करके कहा :

"मैंने आपके बारे में अपने बेटे से काफ़ी सुना है। मेरा बेटा आपके साले के साथ पढ़ता है।" मुझ पर नज़र डालकर क़ाज़ी ने पूछा : "यह किसका लड़का है?"

"मेरा बेटा है," अब्बा ने जवाब दिया।

क़ाज़ी ने मुझे दोनों हाथों से अपने सिर तक उठाया और फिर ज़मीन पर खड़ा कर दिया।

"ख़ुदा करे, बड़ा होकर आलिम बने।" उन्होंने लाल काग़ज़ में लिपटी एक मिठाई निकालकर मुझे दी। "यह पढ़ता है?" क़ाज़ी ने अब्बा से पूछा।

"पतझड़ में मकतब जायेगा।"

उसी समय मेरे मामा क़ुरबान नियाज़, रौशन नियाज़ और नियाज़ ख़ां जो सबके साथ वहां काम कर रहे थे, आ पहुंचे।

"ये कौन हैं?" क़ाज़ी ने पूछा।

"मेरे भाई हैं," मामा ने जवाब दिया।

"अच्छा! ये लोग बहुत अच्छी तरह काम कर रहे हैं," और मेरे मामाओं पर नज़र डालकर बोले: "आप लोग जाकर अपना काम जारी रखिये, शाम को फिर मिल लीजियेगा।" लेकिन क़ुरबान नियाज़ को उन्होंने रोक लिया और मुल्ला देहक़ान से कहा: "तुम्हारा भाई क़ुरबान नियाज़ बहुत ही अच्छा कामगार है, (अब क़ाज़ी ने उन्हें 'आप' के स्थान पर 'तुम' कहकर सम्बोधित किया) यहां मेरे पास इस जैसे कुल दस आदमी हैं। लेकिन अक़्ल और स्वभाव के मामले में यह शायद सबसे अच्छा है।"

क़ाज़ी को खड़े-खड़े बात करने में स्पष्ट रूप से कष्ट हो रहा था, इसलिए वह अपनी लम्बी लाठी का सहारा लेकर बैठ गये। उन्होंने हमसे भी बैठने का अनुरोध किया।

"अपने यहां आने के पहले दिन ही," उन्होंने कहा, "मैंने मुखियों से दस बढ़ई तलाश करने को कहा, ताकि हम जब तक नहर खोदें, वे बांध और पुल बना लें। उनमें से एक ने मुझसे कहा: 'बढ़ई पांच तंगा रोज़ से कम पर काम नहीं करेंगे।' यानी दस बढ़इयों की मज़दूरी हमें दिन में पचास तंगा से कम नहीं पड़ती। लेकिन हमने लोगों से अतिरिक्त कर वसूल करने की मनाही कर दी थी। बढ़इयों के लिए इतना पैसा हम कहां से लाते? जब इस नौजवान लड़के (उन्होंने

क़ुरबान नियाज़ की ओर इशारा किया) ने यह बात सुनी, तो यह मेरे पास आया। 'बोलो', मैंने इससे कहा। यह बोला: 'आपके कामगारों में कम-से-कम पचास बढ़ई हैं। वे सबके साथ नहर खोद रहे हैं। अगर आप उन्हें खुदाई के काम से छुट्टी दे दें, तो वे बड़ी ख़ुशी से बढ़ई का काम मुफ़्त में करने को तैयार हो जायेंगे।'

मैंने तुरन्त बढ़इयों को इकट्ठा किया और उनमें से दस को, जो इस काम में ज़्यादा माहिर थे, चुन लिया। मैंने उन्हें फिर बांध और पुल बनाने भेज दिया, ताकि खुदाई के काम से यह काम पिछड़ न जाये। मुझे इस लड़के की समझदारी और हिम्मत बहुत पसंद आयी। अगर इसने हिम्मत न की होती, तो इसकी समझदारी भी किसी काम न आती। यह मुखिये का लिहाज़ करने के कारण अपनी सलाह देने की हिम्मत ही न कर पाता। हर आदमी को अक़्ल और हिम्मत से काम लेना चाहिए। बिना हिम्मत के अक़्ल भी बेकार जाती है। और बिना अक़्ल के हिम्मत से काम लेना ख़तरनाक होता है।" यह कहकर क़ाज़ी ने मामा देहक़ान से कहा: "तुम अपने भाई को मेरे यहां काम करने के लिये छोड़ दो। मुझे बहुत ख़ुशी होगी। क्या यह पढ़ना-लिखना जानता है?"

"नंहीं," मामा ने जवाब दिया।

"यह अक़्लमंद और हिम्मती है, और यही सबसे अहम बात है, ये ख़ूबियां होने से यह हर तरह का काम सीख लेगा।"

क़ाज़ी ने क़ुरबान नियाज़ को काम करने भेज दिया और नौकर से चाय बनाने को कहा। नौकर ने पेड़ पर बंधे थैले को उतारकर उसमें से एक प्याली और तांबे की केतली निकाली। फिर चाय प्याली में डालकर क़ाज़ी को दी। दो घूंटों में चाय पीकर क़ाज़ी ने नौकर से हम सबको भी चाय पिलाने को कहा।

उन्होंने बताया:

"हमने यह चाय ग़िजदुवान में ही बना ली थी। रास्ते में यह ठण्डी

पड़ गयी है। आप लोग बुरा मत मानियेगा, क्योंकि यह बिना उबाले पानी से तो बेहतर ही है।"

अब्बा और मामा के चाय पी लेने के बाद क़ाज़ी उठ खड़े हुए। बाक़ी लोग भी उठ गये। क़ाज़ी ने सुझाव दिया:

"चलिये, कामगारों का हौसला बढ़ायें।"

क़ाज़ी आगे-आगे चल रहे थे और अब्बा व मामा उनके थोड़ा पीछे। मैं सबके पीछे चल रहा था।

क़ाज़ी कामगारों के हर दल के पास रुक-रुककर उनका हौसला बढ़ा रहे थे और कुछ-न-कुछ पूछते भी जा रहे थे।

सारे मुखिया कमरबंद कसे पेड़ों की छाया में बैठे मिले, लेकिन क़ाज़ी को देखते ही वे उचककर उठ खड़े हुए और ज़ोर-ज़ोर से "यहां खोदो!", "वहां खोदो!" चिल्लाते हुए मज़दूरों की तरफ़ लपके। वे बहुत व्यस्त और चिन्ताशील होने का ढोंग रचने लगे।

एक बहुत मोटा मुखिया जो बड़ी बेफ़िक्री से पेड़ तले बैठा था, मज़दूरों की तरफ़ लपका और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर उन्हें काम करने की हिदायतें देने लगा, ताकि क़ाज़ी सुन लें।

क़ाज़ी जब उसके पास पहुंचे, तो उसने उनका सादर अभिवादन किया। क़ाज़ी ने कहा:

"क्या आपको नहीं लगता कि आप ज़रूरत से ज़्यादा मोटे हैं? आपका फ़ालतू वज़न शायद आपके लिए बोझ बन गया है। मुझे डर है कि आप जो काम यहां कर रहे हैं, वह आपको फ़ालतू चरबी से छुटकारा नहीं दिला सकेगा। आपको फावड़ा उठाकर खुदाई करनी चाहिए। इससे आपका वज़न भी कुछ कम हो जायेगा और मज़दूरों को भी मदद मिलेगी।"

"आप ठीक कहते हैं, क़ाज़ी साहब!" मोटे व्यक्ति ने जल्दी में, किन्तु किंचित् खिन्न स्वर में कहा और नहर के किनारे से जल्दी से

नीचे उतरकर एक मज़दूर से उसका फावड़ा लेकर ज़मीन खोदना शुरू कर दिया। मज़दूर हंसने लगे।

दसेक बार फावड़ा चलाने में ही वह मोटा व्यक्ति पसीने से इस तरह नहा गया, मानो किसी ने उस पर बालटी भर पानी डाल दिया हो। थोड़ी देर में वह थककर निढाल हो धीरे-से ज़मीन पर बैठ गया।

क़ाज़ी ने उससे कहा:

"देखा आपने, हिदायतें देने से काम ख़ुद करना कितना मुश्किल होता है। और आप हैं कि पेड़ की छाया में बैठे अपनी तोंद खुजला रहे थे!"

हम थोड़ा और आगे बढ़े। क़ाज़ी ने चारों ओर नज़र दौड़ायी। मज़दूरों के और गांवों के मुखिया फावड़े लिये काम कर रहे थे।

रुबाहो गांव से आगे जाकर हम उस स्थान पर पहुंचे, जहां उत्तर से महल्ला-ए-बाला नाला और दक्षिण से इस्ताम्ज़े नाला आकर मिलते थे।

दोनों नालों के संगम-स्थल पर बढ़ई बांध बना रहे थे और तख़्तों के किनारे एक दूसरे से पूरी तरह मिलाने के लिए उनके किनारों पर रंदा फेर रहे थे।

वहां कोई पचास क़दम तक नहर तैयार हो चुकी थी और आगे का काम अपने पूरे ज़ोर पर था।

क़ाज़ी ने नहर के सिरे पर ऊंचा बांध बनाने के ज़िम्मेदार मुखिया को क़ाक़ा स्तेपी में पानी छोड़ देने का आदेश दे दिया।

"जो हुक्म, साहब!" कहकर मुखिया घोड़ा खोल उस पर सवार हो सरपट क़ाक़ा स्तेपी की ओर रवाना हो गया।

क़ाज़ी ने अब्बा से कहा:

"मैं काम इस तरह करवा रहा हूं कि मज़दूरों के पीछे-पीछे पानी आता रहे। अपनी मेहनत का फल अपने सामने देखकर मज़दूरों की

ताक़त दूनी हो जाती है। आज जिस जगह ये लोग काम कर रहे हैं, कल वहां पानी पहुंच जायेगा। हम कल रुबाहो गांव तक पानी पहुंचा देंगे, परसों देहनव तक।"

क़ाज़ी पेड़ का सहारा लेकर उकड़ूं बैठ गये। हम लोग उनके सामने बैठे। क़ाज़ी मेरे लिए अज्ञात शब्दों का उपयोग कर रहे थे और उन्हें ताजिकी में समझाते जा रहे थे। वैसे यह भी मेरी समझ से बाहर था।

अब्बा क़ाज़ी के प्रत्येक शब्द को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उसी समय मुखिया पानी के पहुंचने की ख़बर लेकर आया।

क़ाज़ी और उनके साथ के सभी लोग उठकर बांध की तरफ़ गये।

पानी अपने साथ गंदला पीला फेन लिये उफनता, मचलता तेज़ी से आगे बढ़ा आ रहा था। फिर वह बांध से टकराकर रुका और तख़्तों के सहारे-सहारे ऊपर उठने लगा। तख़्तों के बीच दरारों में से हालांकि पानी की धारें रिस रही थीं, पर उसका तल उत्तरोत्तर ऊंचा उठता जा रहा था। अन्त में वह बांध के ऊपरी किनारों तक उठकर दोनों तरफ़ के मिट्टी के किनारों से टक़राता हुआ इस्ताम्ज़े तथा महल्ला-ए-बाला नालों में गिरने लगा।

अब्बा और मामा ने क़ाज़ी से घर जाने की इजाज़त मांगी।

हम पानी के साथ-साथ नहर के किनारे-किनारे चल पड़े। अब्बा ने मामा से कहा:

"क़ाज़ी साहब हमारे ज़माने के सबसे ज़्यादा बुद्धिमान, शिक्षित, सज्जन और न्यायप्रिय व्यक्ति ही नहीं हैं, बल्कि लगता है लौह-पुरुष भी हैं। अपनी ढलती उम्र के बावजूद यह बैठते, खड़े रहते और चलते-फिरते थकने का नाम नहीं लेते। जबकि इनकी उम्र सत्तर से ऊपर हो चुकी है!"

"उनके बेटे ने बताया है कि इस साल वह छिहत्तर के हो चुके हैं।"

हम गांव पहुंचे और साथ ही पानी भी वहां पहुंच गया।

रास्ते में खेल रहे बच्चे नहर की तरफ़ लपके, उसके किनारे-किनारे उछलते-कूदते, तालियां पीटते और चिल्लाते हुए भागने लगे:

"पानी आ गया! पानी आ गया!"

हम नाना के यहां गये। वहां क़ाज़ी की चर्चा हुई। इस बारे में भी आपस में सलाह की गयी कि क़ुरबान नियाज़ मामा को उनके पास काम करने भेजा जाये या नहीं। अब्बा ने इस सुझाव का समर्थन किया:

"इस क़ाज़ी के यहां नौकरी करते हुए क़ुरबान नियाज़ ऐसी तालीम हासिल कर लेगा, जो उसे अच्छे से अच्छे मकतब में भी नहीं मिल पायेगी!"

यह वही क़ाज़ी अब्दुल वाहिद हैं, जिन्होंने सदर-ए-सरीर के तख़ल्लुस से शायरी की है।

शाफ़िरकान इलाक़े की नयी नहर

नयी नहर तैयार होने के बाद से शाफ़िरकान के किसान पतझड़ से दूने उत्साह के साथ खेती के काम में जुट गये। वे जाड़े के गेहूं की फ़सल बोने लगे, पुरानी सिंचाई-नालियां साफ़ करने लगे, नयी नालियां खोदने लगे और वसन्तकालीन जोताई की तैयारियां करने लगे।

सुनियोजित निर्माण के कारण नहर से ज़रफ़शान का पानी पहले से काफ़ी अधिक मात्रा में मिल रहा था। लेकिन किसान केवल इसी से सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहे। उन्होंने अमीर के हाकिमों की मदद के बिना स्वयं ही पुरानी नहर की सफ़ाई कर ली, काफ़ी बड़े क्षेत्र में जमा हुई रेत हटा दी, ज़मीन में पानी छोड़ दिया और वह फिर से कृषि योग्य हो गयी। जो किसान अपने खेतों पर रेत के टीले बन जाने के

कारण दक्षिण की तरफ़ चले गये थे, अपनी पुश्तैनी ज़मीनों पर लौटकर उन पर खेती करने लगे थे।

भूमिहीन किसानों ने कई वर्षों से सूखी और दलदलग्रस्त, उपेक्षित पड़ी जिलवान नहर की अपनी मेहनत से मरम्मत कर ली। जोत की ज़मीनों के छोरे से निकलनेवाली जिलवान नहर में लबालब भरी शाफ़िरकान नहर का पानी बहने लगा और कई वर्षों से परती पड़े खेतों की सिंचाई सम्भव हो गयी।

पानी आने के दो वर्ष के भीतर ही शाफ़िरकान इलाक़ा हरे-भरे बाग़ की तरह लहलहा उठा। और तब अमीर मुज़फ़्फ़र की गृध्रदृष्टि उस पर टिक गयी। उसने अपनी क्रूरता के लिए कुख्यात मुराद बेग को इलाक़े का प्रशासक नियुक्त कर दिया और साफ़ी को, जिसने अपनी "विद्वता" से अमीर का दिल जीत लिया था, वहां का बड़ा क़ाज़ी बना दिया।

इन दोनों ने अपने नौकर-चाकरों के साथ वहां पहुंचकर हरे-भरे बाग़ को टिड्डी-दल की तरह रेगिस्तान में बदल दिया। शाफ़िरकान के किसानों को इस बात का दोषी ठहराया गया कि उन्होंने कई वर्षों से लगान अदा नहीं किया है, जबकि रेतीली आंधियों और सूखे जैसी विपदाओं के कारण उनके पास देने को कुछ न रहा था। क़र्ज़ चुकता करने के बहाने उन्होंने उनकी सारी फ़सलें हड़प लीं और किसानों को कर्ज़दार घोषित करके उन्हें कई वर्षों तक फ़सल उठाने पर क़र्ज़ चुकाते रहने के लिए बाध्य कर दिया।

इस अदण्डित स्वेच्छाचार का दुष्परिणाम यह हुआ कि पुरानी शाफ़िरकान नहर में फिर रेत भर गयी। थोड़ी ज़मीनवाले किसानों के खेत, जिनकी सिंचाई नयी नहर के पानी से होती थी, अनजुते और अनबुए रह गये। नयी नहर में आनेवाले फ़ालतू पानी ने व्यर्थ बहकर आस-पास की ज़मीन को दलदल बना दिया था। कुछ ही समय में पूरा

इलाक़ा मलेरिया से ग्रस्त हो गया।

कई वर्षों तक पुरानी शाफ़िरकान और जिलवान नहरें दलदल से जकड़ी पड़ी रहीं। केवल महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति के बाद ही दोनों नहरों की सफ़ाई हो पायी और उनके जीवनदायी जल ने आस-पास के खेतों में फिर से प्राण फूंक दिये।

* * *

क़ाज़ी अब्दुल वाहिद सदर-ए-सरीर, जिन्होंने शाफ़िरकान इलाक़े को समृद्ध बनाने के लिए अथक प्रयत्न किया था, नहर के सुनियोजित निर्माण को अपने उन वर्षों की सबसे सुखद स्मृति मानते थे। समृद्ध भूमि पर टूटी विपत्ति से उन्हें वैसा ही दुख हुआ, जैसा कि किसी माली को उस समय होता है, जब उसके सामने उसी के लगाये पेड़ों को नष्ट किया जाता है और गुलाब के पौधों को तोड़-तोड़कर बाग़ीचे में ढोर चरने छोड़ दिये जाते हैं।

वृद्ध क़ाज़ी न केवल क़ाज़ी सफ़ी और मुरादबेग से ही घृणा करने लगे, बल्कि अमीर और उसके छोटे-बड़े सभी सरदारों से भी। वह ग़िजदुवान के क़ाज़ी के पद से इस्तीफ़ा दिये बिना ही अपने घर बुख़ारा चले गये, जहां कुछ समय बीमार रहने के बाद सदमे से उनकी मृत्यु हो गयी।

क़ाज़ी अब्दुल वाहिद सदर-ए-सरीर के विचार बुख़ारा के प्रगतिशील विद्वान अहमद-मख़दुम दानिश से मेल खाते थे, लेकिन वह उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में अक्षम थे और बुख़ारा अमीरात की अनाचारिता के विरुद्ध अपना असन्तोष और रोष खुलकर प्रकट नहीं कर पाते थे। इसी कारण वह अंदर से सुलग उठी सूखी घास की तरह धीरे-धीरे जलकर भस्म हो गये।

हबीबा

जब मैं छः साल का हुआ, तो अब्बा ने मुझे मसजिद के मकतब में दाख़िल करा दिया। लेकिन वहां मेरी पढ़ाई ठीक नहीं चल पायी। तब अब्बा ने मुझे लड़कियों के मकतब में भरती करवा दिया। लड़कियों का मकतब हमारे गांव के मुल्ला के अंदरूनी अहाते में था और उसमें मुल्ला की पत्नी बीबी ख़लीफ़ा पढ़ाया करती थीं।

उस मकतब में केवल दो ही लड़के पढ़ते थे : मैं और ग़िजदुवान का अब्दुल्ला। अब्दुल्ला मुझसे थोड़ा बड़ा था। लड़कियां उसे ज़्यादा पसंद नहीं करती थीं और उसकी उनके साथ दोस्ती करने की कोशिशों पर हंसा करती थीं। मेरे साथ वे भाई की तरह सहृदयतापूर्ण व्यवहार करती थीं।

उस मकतब में मेरी पढ़ाई के दूसरे साल में उसमें पड़ोस के गांव रबाते क़ज़ाख़ की एक लड़की हबीबा ने दाख़िला लिया।

हबीबा शाम को अपने घर नहीं जाती थी। वह हमारी उस्तादी के घर में उनकी बेटी क़ुत्बिया के साथ उसी के कमरे में रहती थी।

क़ुत्बिया और हबीबा हमउम्र थीं और मकतब में सबसे बड़ी थीं। हबीबा बहुत अच्छे और रोचक ढंग से कहानियां सुनाने में कुशल थी और उसे पढ़ना भी क़ुत्बिया से बेहतर आता था। मेरे अब्बा ने बताया था कि हबीबा हमारे इलाक़े के सबसे ज़्यादा पढ़े-लिखे मुल्ला की बेटी है। उसके अब्बा उसे ख़ुद ही पढ़ाते थे और उन्होंने उसे लिखना और पढ़ना बहुत अच्छी तरह सिखा दिया है। लेकिन हबीबा के अब्बा को उसे इस मकतब में भेजने की क्यों ज़रूरत पड़ी और उसे गांव के मुल्ला की बीवी क्या सिखा सकती थी, यह मेरी समझ में नहीं आया।

मेरे प्रति हबीबा का व्यवहार औरों से अधिक स्नेहपूर्ण था। वह मेरे लिए सुन्दर-सुन्दर खिलौने बनाती, मेरे साथ मेरे पाठ दोहरवाती।

मकतब में हमें हाफ़िज़* की ग़ज़लें पढ़ायी जा रही थीं। चूंकि मैं ग़ज़लों का अर्थ ठीक से नहीं समझ पाता था, इसलिए हबीबा उनका भावार्थ मुझे समझाया करती थी। जब कभी उनमें "महबूबा" और "माशूक़ा" जैसे शब्द आते, तो हबीबा मुझे क़ुत्बिया का उदाहरण दिया करती। और जब कभी "महबूब", "शर्मीला" या "मोहित" जैसे शब्द आते, तो वह अपना उदाहरण देती।

क़ुत्बिया यह सुनकर हबीबा पर ग़ुस्सा करने का दिखावा करती, भौंहें सिकोड़ती, उसे घूरकर देखती और मुस्कान दबाकर कठोर स्वर में कहती:

"मैं मां से शिकायत करूंगी, वह तुम्हारी ख़ूब पिटाई करेंगी। ऐसी पिटाई करेंगी, जैसी तुम्हारे अब्बा ने भी नहीं की होगी। और हो सकता है मकतब से भी निकाल दें!"

"काश, निकाल ही देतीं!" हबीबा आह भरकर कहती और लगता जैसे यह आह उसके दिल की गहराइयों में से निकली है।

मकतब में अकसर बहस छिड़ जाती थी कि क़ुत्बिया अधिक सुन्दर है या हबीबा। कुछ लोग हबीबा को ज़्यादा ख़ूबसूरत मानते थे, कुछ क़ुत्बिया को, लेकिन लड़कियां उन दोनों को ही पसंद नहीं करती थीं — क़ुत्बिया को वे घमण्डी, बदतमीज़ और गंवार कहती थीं, जबकि हबीबा को बातूनी, छिछोरी और दम्भी। वे उसके ग़ज़लें पढ़ने के ढंग का ख़ास तौर से ज़्यादा मज़ाक़ उड़ाया करती थीं। मैं किसी तरह नहीं समझ पाता था कि उन्हें ये बातें सूझी कैसे। मैंने क़ुत्बिया को कभी किसी के साथ न बुरा व्यवहार करते देखा था और न ही डींग हांकते। और हबीबा जब ग़ज़लें पढ़ती, तो वे मुझे बहुत अच्छी लगतीं।

---

* हाफ़िज़ — चौदहवीं सदी के सुप्रसिद्ध फ़ारसी शायर।

एक बार मैंने मकतब में एक ग़ज़ल पढ़ी, जो इस तरह शुरू होती थी :

जब तक होगा नहीं सच ख़्वाब मेरा,
मिलेगा सुकून मुझे नहीं।
जब तक कहेगा नहीं "हां"
महबूब मेरा, मिलेगा सुकून मुझे नहीं...

बीबी ख़लीफ़ा हबीबा को मेरे साथ यह ग़ज़ल दोहराने के लिए कहकर अपने घर के काम करने चली गयीं।

हबीबा ने मुझसे ग़ज़ल कई बार पढ़वायी, फिर मुझसे किताब लेकर मुझे पूरी ग़ज़ल पढ़कर सुनायी। वह इतनी भावविभोर होकर पढ़ रही थी कि उसकी आंखों में आंसू छलछला आये थे।

मेरे बदन में सिहरन की लहर दौड़ गयी, जब उसने भावुक स्वर में उसकी यह अन्तिम पंक्ति पढ़ी :

मर जाऊं या रहूं हमेशा उसके साथ,
मिलेगा सुकून मुझे नहीं!

ग़ज़ल पढ़ना समाप्त करते ही उसके चेहरे पर मुर्दनी छा गयी, और मुझे लगा कि वह गिर रही है। हबीबा आंखें बंद किये मौन रही। आंसू उसके चेहरे पर धीरे-धीरे ढुलकते रहे।

एक मिनट बाद ही वह शरारती मुस्कान के साथ मेरी तरफ़ देख रही थी।

उस समय मैं प्यार के बारे में कुछ नहीं जानता था, लेकिन इतना मैं समझ गया कि उसके दिल में कोई दर्द है। मुझे उसका ग़म किसी-न-किसी तरह दूर करने की बहुत इच्छा हुई। पर उसके लिए मैं आख़िर क्या कर सकता था?

मुझे याद नहीं आता, उस दिन या उसके अगले दिन, पढ़ाई के बाद हबीबा ने मुझसे पूछा :

"तुम्हारे घर में फूल हैं?"

"क्यों नहीं, हैं।"

"कल मेरे लिए कुछ ताज़ा फूल ले आओ।"

मैं बड़ी ख़ुशी से हां कहकर घर भागा। मुझे इस बात की ख़ुशी थी कि उसने मुझसे कुछ मांगा। मुझे लगा कि कल मेरे फूल लाने से शायद उसका दु:ख कुछ कम हो जायेगा, या पूरी तरह दूर हो जायेगा।

हमारे अहाते में फाटक के पास गुलाब के दो पौधे थे। एक में गुलाबी फूल खिले थे और दूसरे में सफ़ेद।

मैं सुबह सूरज निकलने से पहले हबीबा के लिए फूल तोड़ने गया। दोनों पौधे रात को ही खिले फूलों से बोझिल थे। मैं सोच में पड़ गया कि उसके लिए कौन-से फूल चुनूं – गुलाबी फूल उसकी त्वचा के अधिक अनुकूल होंगे। वे उस समय, जब उन पर ओस की झिलमिलाती बूंदें मुझे उसके आंसुओं से सिक्त चेहरे की याद दिला रही थीं, मुझे विशेष रूप से सुन्दर लग रहे थे।

मैंने उसके लिए तीन सबसे बड़े गुलाबी फूल तोड़ लिये। फिर मैंने तीन सफ़ेद फूल और तोड़े और सरपट मकतब भागा।

मकतब के फाटक पर पहुंचकर मुझे डर लगा कि लड़कियां कहीं मुझसे फूल न छीन लें, इसलिए मैंने उन्हें अपनी क़मीज़ के अन्दर छुपा लिया।

मैं जैसे ही अहाते में घुसा, क़ुत्बिया मेरे पास आयी। मुझ पर सरसरी नज़र डालकर उसने पूछा:

"यह तुम्हारी क़मीज़ के अंदर क्या है?"

"किताबें।"

मैं जानता था कि उसके लिए मेरे झूठ का परदाफ़ाश करना बहुत आसान होगा, क्योंकि किताबें तो मेरे हाथ में थीं।

मैं सोचने लगा: 'अगर इसने मेरी बग़ल में छूकर देखा तो?'

और मैंने घबराकर उसके चेहरे पर नज़र डाली। उसके चेहरे और हबीबा के चेहरे में वैसा ही अन्तर था, जैसा कि गुलाब के सफ़ेद फूल और गुलाबी फूल में होता है। मैं यह स्वीकार करता हूं कि मुझे सफ़ेद गुलाब बहुत कम पसंद थे। अब्बा ने मुझे गुलाबी फूल तोड़ने को मना कर रखा था, क्योंकि एक सौदागर उनके बदले में हमें गुलाब-जल दिया करता था, जिसे उस ज़माने में इत्र की तरह लगाया जाता था। लेकिन अब्बा जब मुझे देख नहीं रहे होते थे, तब मैं चुपके से अधखिली ख़ुशबूदार कलियां तोड़ लेता था।

क़ुत्बिया ने और कुछ नहीं पूछा। वह बाड़े में गाय के पास चली गयी। मैं मकतब में गया। सवेरा हुआ ही था, कमरे में अभी कोई नहीं था, केवल हबीबा फ़र्श बुहार रही थी। मैं दोनों हाथों में गुलाब के फूल लिये उसके पास पहुंचा। उसने मेरी प्रशंसा करके मुझसे फूल ले लिये। दो गुलाब उसने अपने कानों के पीछे लगा लिये और फिर शीशे में देखकर तीसरा फूल सीने पर लगा लिया।

इसके बाद उसने मुझसे सफ़ेद गुलाब लेकर उन्हें सूंघा और मुंह बनाकर फिर मुझे लौटाते हुए पूछा:

"तुम ये क्यों लाये?"

"मैंने सोचा कि ये भी आपको पसंद आयेंगे।"

"लेकिन तुम्हें कौन-से ज़्यादा अच्छे लगते हैं?"

"गुलाबी।"

"क्यों?"

"उनका रंग आपके चेहरे की रंगत जैसा है।"

वह हंस पड़ी और मुझे कसकर सीने से लगा लिया।

"और ये सफ़ेद गुलाब? ये किसकी याद दिलाते हैं?"

मैंने बिना हिचकिचाये बालसुलभ भोलेपन से जवाब दिया:

"क़ुत्बिया की।"

शायद उसे मेरा दूसरा जवाब पहले से भी ज़्यादा पसंद आया। उसने मुझे और ज़ोर से कसकर हंसते हुए काफ़ी देर प्यार किया।

"अच्छा, सुनो!" उसने अचानक गम्भीरता से कहा "यह बात किसी को मत बताना। अगर बताओगे, तो मैं नाराज़ हो जाऊंगी, बहुत नाराज़। अच्छा, अब जाकर अपना पाठ याद करो।"

वसन्त के अन्त में जब शहतूत पकने लगे, मुहीउद्दीन भाई और सईद अकबर ख़्वाजा बुख़ारा से गर्मियों की छुट्टियां बिताने आ गये। कुछ दिन आराम करने के बाद उन्होंने पहले की तरह फिर हमारे मुल्ला से पढ़ना शुरू कर दिया।

सईद अकबर ख़्वाजा को अपने घमण्ड के कारण बड़ों से बात करना पसंद नहीं था, पर वह खेल में मेरा साथ देते रहे। वह अकसर बैठक में बैठे रहते, जिसका दरवाज़ा मसजिद के बाग़ में खुलता था।

जब मैं मकतब से घर लौटते समय उनके सामने से गुज़रता, तो वह मुझे आवाज़ देकर अपने पास बुला लेते, मेरे लिए खिलौने बनाते और पूछते रहते कि हमारे फ़लां-फ़लां पड़ोसियों की बेटियों की पढ़ाई कैसी चल रही है।

वह मुझसे हबीबा के बारे में भी पूछते। मैं भोलेपन में उन्हें वह सब कुछ बता देता, जो मुझे मालूम होता।

एक बार सुबह सवेरे जब मैं मकतब जाते समय उनके दरवाज़े के सामने से गुज़र रहा था, सईद अकबर ख़्वाजा ने मुझे आवाज़ दी। वैसे वह मुझे मकतब से घर लौटते समय आवाज़ दिया करते थे, लेकिन उस दिन उन्होंने इसका उलटा किया।

"फिर आऊंगा," मैंने जवाब दिया। "वरना देर हो जायेगी।"

"ठहरो, थोड़ी देर ठहरो, वक़्त पर पहुंच जाओगे!"

मैं उनके पास गया। उन्होंने मुझे एक चिट्ठी दी और बोले :

"यह हबीबा को दे देना और जवाब लेते आना। देखो, किसी की नज़र न पड़े।"

मैंने उस पत्र के सन्देश के बारे में कुछ सोचे-विचारे बिना मौक़ा पाकर उसे हबीबा को दे दिया।

हबीबा वह पत्र लेकर चली गयी और जब लौटी, तो उसका चेहरा फक था, आंखें गुस्से से लाल थीं और होंठ फड़क रहे थे। मैंने आश्चर्य से पूछा :

"इसका जवाब कब दोगी?"

उसका चेहरा तमतमा उठा और आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं। उसने मुझे अपने पीछे-पीछे आने को कहा।

वह अहाता पार करके मवेशीख़ाने में गयी। अपनी एक जूती उतारकर उसने उसे गोबर में ठूंसा और मेरे पैरों के पास पटक दिया :

"यह जूती ले जाकर उस आदमी के मुंह पर दे मारो, जिसने तुम्हें यह चिट्ठी दी थी। उसके लिए यही मेरा जवाब है।"

जूती मैंने नहीं उठायी। लेकिन मकतब से लौटते समय मैंने सईद अकबर ख़्वाजा को जो मेरे इंतज़ार में बैठे थे, सारी बातें ब्योरेवार बता दीं और जूतीवाला क़िस्सा भी विस्तार में सुना दिया।

सईद अकबर का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा। वह हकलाते हुए चिल्लाये :

"ह ... हबीबा छिछोरी, बेवक़ूफ़ छोकरी है!"

गुस्से की झोंक में उन्होंने मेरे चेहरे पर तड़ से एक थप्पड़ मार दिया।

पहले तो मैं भौचक रह गया, क्योंकि मैंने अपने किये काम का बदला इस तरह चुकाये जाने की कभी आशा नहीं की थी। मुझे बुरा लगा और मैं नाराज़ हो गया। लेकिन अचानक मुझे यह सब इतना

मज़ाक़िया लगा कि मैं ज़ोर से हंस पड़ा: सईद अकबर की मुख-मुद्रा मुझे बहुत ही भोंडी लगी।

मैं भाग गया, पर मन-ही-मन मैंने इसका बदला लेने की ठान ली। लेकिन तब मैं कर भी क्या सकता था – मैं छोटा-सा लड़का था, जबकि सईद अकबर बड़े और मदरसे के ताक़तवर छात्र थे।

अपने नब्बेवर्षीय अब्बा की मृत्यु के बाद इब्राहीम ख़्वाजा को विरासत में घर मिल गया और उन्होंने बाहर जाना कम कर दिया। उस बैठकख़ाने में, जिसमें इब्राहीम ख़्वाजा के अब्बा की मृत्यु हुई, वह जादू-टोने और मंत्रों से बीमारों का इलाज करने लगे।

एक बार एक पागल को उनके पास इलाज के लिए लाया गया। वह कोई तीस वर्ष का लम्बा, दुबला-पतला और बढ़ी दाढ़ीवाला आदमी था।

इब्राहीम ख़्वाजा के इलाज का तरीक़ा सीधा-सादा था और उसका उपयोग उस समय सभी हकीम और ओझा किया करते थे। इब्राहीम ख़्वाजा मरीज़ के पैरों में बेड़ियां डालकर उसे कमरे के बीच एक खम्भे से ज़ंजीरों से बांध देते थे। पागल कोने में बने चबूतरे पर केवल खड़ा या बैठा रह सकता था और कहीं नहीं जा सकता था। इब्राहीम ख़्वाजा उसे केवल दिन में एक बार सूखी रोटी का हथेली जितना बड़ा टुकड़ा खाने को देते थे। दिन में दो बार वह बीमार की नंगी पीठ पर कोड़े बरसाते थे। दूसरे हकीमों की तरह वह भी तब तक अधाधुंध कोड़े मारते जाते थे, जब तक कि उनका हाथ थक नहीं जाता था।

जब कभी वह पागल किसी को देखता, तो चिल्लाकर कहता:

"ये मुझे क्यों इतना सताते हैं? क्यों भूखों मारते हैं? आख़िर मैं भी तो अल्लाह का ही बंदा हूं! रहम करो मुझ पर!"

मुझे उस पर बहुत दया आती थी। मैं हमेशा लोगों की नज़र

बचाकर उसके हाथों में रोटी का टुकड़ा, सूखी ख़ूबानियां वग़ैरह रखने की कोशिश करता रहता था।

धीरे-धीरे उस आदमी को मुझसे बहुत लगाव हो गया। मैं निडर होकर उसके पास जाता और मुझे कभी उसमें पागल जैसी कोई सनक नज़र नहीं आयी। बस कभी-कभी वह मज़ाक़िया हरकतें किया करता था: सूरज को सम्बोधित करके वह उसे मुक्त कर अपनी शरण में लेने की विनती करता, ताकि वह आसमान पर आज़ादी से घूम सके और ऊपर से हमारे खेतों को देख सके।

एक बार उसने मुझसे कहा:

"तुम अपने चाचा से कहो कि कम-से-कम थोड़ी देर के लिए तो वह मुझे छोड़ दें। मैं बस थोड़ी देर मसजिद के पास बाग़ में टहलकर वापस आ जाऊंगा। मैं लौट आऊंगा। तुम्हारी क़सम, लौट आऊंगा। फिर मैं ख़ुद बेड़ियां पहन लूंगा। इसके बदले में मैं तुम्हें सूरज दे दूंगा, फिर तुम उस पर बैठकर, जहां की भी सैर करना चाहो, कर सकोगे।"

उसी समय मेरी नज़र मसजिद से अपने घर जा रहे ख़्वाजा सईद अकबर पर पड़ी।

"उस आदमी को देखते हो?" मैंने पागल से कहा। "यही है वह आदमी जो चाचा को तुम्हें आज़ाद नहीं करने देता। मैं तुम्हें छोड़े देता हूं, पर तुम उसे पकड़कर उसकी अच्छी तरह मरम्मत कर दो। शायद तब वह तुम्हें छोड़ देने को तैयार हो जाये।"

भेड़ को देखकर भेड़िये की तरह पागल की आंखें चमक उठीं।

"जल्दी से छोड़ो मुझे!" वह चिल्लाया।

मैंने खम्भे से बंधी ज़ंजीर का ताला खोल दिया।

पागल हाथ में ज़ंजीर लेकर उठा और मसजिद के बाग़ में चला गया। बेड़ियों के कारण चलना उसके लिए मुश्किल हो रहा था और वह केवल छोटे-छोटे क़दम ही ले पा रहा था। अपना दुश्मन बचकर

न निकल जाये इस इरादे से उसने कुछ ही छलांगों में सईद अकबर ख़्वाजा को जा पकड़ा और उसे दोनों हाथों से ऊपर उठाकर ज़मीन पर पटक दिया। फिर पागल सईद अकबर ख़्वाजा की छाती पर बैठकर उनको ज़ोर-ज़ोर से मारने लगा।

हमला होते ही सईद अकबर ख़्वाजा ज़ोर से चीख़ उठे। फिर मालूम नहीं बेहोश हो जाने के कारण या दहशत के मारे उनके मुंह से अचानक आवाज़ ही निकलनी बंद हो गयी।

चीख़ सुनकर अहाते में से सईद अकबर ख़्वाजा के अब्बा उस्ताद ख़्वाजा भागे-भागे निकल आये, मसजिद और मकतब से भी लोग दौड़-दौड़कर आ पहुंचे और उन्होंने पागल को सईद अकबर ख़्वाजा से अलग करके उसे अपनी जगह पर वापस ले गये और फिर खम्भे से बांध दिया।

तभी मेरी समझ में आया कि मैं कितनी भारी ग़लती कर बैठा था, क्योंकि लोगों के आने में थोड़ी-सी भी देर हो जाती, तो सईद अकबर ख़्वाजा ज़रूर मारे गये होते।

मैंने सईद अकबर ख़्वाजा के मुझे थप्पड़ मारने की बात किसी को नहीं बतायी थी, क्योंकि अब्बा को अगर मालूम पड़ जाता कि मैं एक लड़के की चिट्ठी लेकर किसी लड़की को देने गया था, तो वह मुझे सज़ा ज़रूर देते। और अब भी मैंने सईद अकबर ख़्वाजा के डर से उनसे बदला लेने की घटना के बारे में किसी को नहीं बताया।

चाचा उस्ताद ख़्वाजा लकड़ी पर नक़्क़ाशी करने के अलावा दूसरे कारीगरों तथा कुम्हारों के लिए बेल-बूटे बनाया करते थे। कुम्हार, छीपी व पलस्तरकार भी उनसे अपने काम के लिए चित्र बनवाया करते थे।

रबाते क़ज़ाख़ गांव के कुम्हारों में एक बहुत ख़ूबसूरत तश्तरियां व प्याले बनानेवाला कारीगर था। वह सुराहियों व प्यालियों की अपनी हर नयी खेप लिए उस्ताद ख़्वाजा से चित्र बनवाता था। कुम्हार का पच्चीस साल का एक लड़का था, जिसने बचपन में पेड़ से गिरकर एक टांग तोड़ ली थी। उसकी हड्डी ग़लत जुड़ने के कारण उसका बायां पैर दायें से कुछ छोटा हो गया था। उसे चलने में बहुत तकलीफ़ होती थी, इसलिए वह अकसर गधे पर सवारी किया करता था।

वह लगभग हर सप्ताह चाचा उस्ताद ख़्वाजा के पास अपना ऑर्डर लेकर आता था और अगले दिन तैयार चित्र ले जाता था।

लेकिन पिछले कुछ दिनों से वह लगभग रोज़ाना चाचा के पास नया ऑर्डर लेकर आ रहा था और अकसर रात को उन्हीं के यहां ठहर जाता था।

वह सुबह तैयार चित्र लेकर जाता और शाम को नया ऑर्डर लेकर फिर आ पहुंचता।

सबको आश्चर्य होता था कि उसे इतने चित्रों की क्या ज़रूरत पड़ी है। आश्चर्य चाचा उस्ताद ख़्वाजा को भी हुआ:

"आम तौर पर कुम्हार लोग साल में दो नमूने बनवाते हैं – एक तश्तरियों के लिए और दूसरा प्यालों के लिए। अपने बरतनों की हर नयी खेप के लिए नया नमूना वे विरले ही बनवाते हैं। लेकिन रबाते क़ज़ाख़ के कुम्हार ने मुझसे इतने-से समय में इतने नमूने तैयार करवाये हैं कि वह हर सुराही और हर तश्तरी पर अलग-अलग तरह की तसवीर बना सकता है। इस तरह तो उसे उसके प्याले और सुराहियां चीनी-मिट्टी के बरतनों से भी दस गुना महंगे पड़ेंगे। मेरी समझ में नहीं आता कि उसको ऐसी क्या ज़रूरत पड़ी है इनकी।"

कुछ दिन बाद मेरी समझ में आ गया कि वह हमारे गांव केवल चित्र बनवाने के लिए ही नहीं आता है।

यह बात मेरे मामा क़ुरबान नियाज़ के क़ाज़ी अब्दुल वाहिद के यहां ग़िजदुवान में नौकरी पर लग जाने के बाद की बात है। उन्हीं दिनों मेरे दूसरे मामा अली ख़ां ने ग़िजदुवान के एक कुम्हार की लड़की को अपनी दुलहन के रूप में चुना था।

मेरी नानी बेटे की दुलहन को देखने और अपने दूसरे बेटे क़ुरबान नियाज़ से मिलने जाना चाहती थीं। मैंने उन्हें मुझे भी अपने साथ ले चलने के लिए मना लिया।

ग़िजदुवान पहुंचकर हम रात को उस कुम्हार के घर में ठहरे। आधी रात के समय "चोर! चोर!" की चीख़ सुनकर हमारी नींद खुल गयी।

सब उचककर उठ खड़े हुए। सारी औरतें एक दूसरे से सटकर खड़ी हो गयीं और थर-थर कांपती एक दूसरे के कान में फुसफुसाने लगीं।

मर्द अहाते में भागे। शीघ्र ही कुम्हार ने आकर औरतों को यह कहकर तसल्ली दिलायी कि एक मेहमान आया है। मैंने उसे लंगड़ाते हुए अहाता पार करते देखा है।

सुबह सवेरे नानी कशीदाकारी के एक रूमाल में मिठाइयां लपेटकर क़ाज़ी अब्दुल वाहिद के यहां गयीं। मैं नेक बुज़ुर्ग क़ाज़ी को दोबारा देखना चाहता था, इसलिए नानी के साथ हो लिया।

जब हम क़ाज़ी के घर में पहुंचे, तो उनके नौकरों ने नानी से सौग़ात ले ली और उन्हें अंदरूनी अहाते में लिवा ले गये। मैं तब छोटा था, पर मुझे ज़नानख़ाने में नहीं जाने दिया गया। मैं अस्तबल की दीवार के सहारे उकड़ूं बैठ गया।

उस जगह से मैं बुज़ुर्ग क़ाज़ी को देख रहा था। वह बैठक के दरवाज़े के पास बैठे किसी मुक़दमे में उलझे हुए थे। उन्होंने मुझे नहीं देखा। वह शायद मुझसे बात नहीं करना चाहते थे या इस समय

नहीं कर सकते थे।

उसी समय रबाते क़ज़ाख़ के उस कुम्हार का बेटा, जो उस्ताद ख़्वाजा से इतने सारे चित्र बनवा चुका था, मेरे पास से लंगड़ाता हुआ गुज़रा।

वह क़ाज़ीख़ाने में गया। उसके पीछे-पीछे, उसके चोग़े का पल्ला कसकर पकड़े, सिर पर चोग़ा डाले एक लड़की भी चल रही थी।

उनके पीछे-पीछे क़ाज़ीख़ाने में क़ाज़ी के नौकर-चाकर और तरह-तरह के अदालती कार्रवाइयों व तमाशों के शौक़ीन लोगों की भीड़ भी जमा हो गयी। सब आपस में बड़ी ख़ुशी से भागी हुई लड़की, कुम्हार के लड़के की शादी और कई मामलों के बारे में बतिया रहे थे, जिन्हें मैं ठीक से सुन और समझ नहीं पा रहा था।

मैं क़ाज़ी के बैठने के स्थान के निकट बने एक चबूतरे पर चढ़ गया, लेकिन शुरू में कुछ भी मेरी समझ में नहीं आया।

अचानक क़ाज़ी की आवाज़ गूंजी:

"ए लड़की! बताओ, तुम्हें किसने गुमराह किया?"

"किसी ने नहीं। मैं अपनी मर्ज़ी से इस आदमी से शादी करना चाहती हूं," लड़की ने दृढ़ स्वर में कहा, हालांकि उसका कंठ रुंध रहा था।

"लेकिन तुम्हारे मां-बाप यह ख़बर मिलने पर क्या कहेंगे? क्या वे इसके लिए अपनी इजाज़त दे देंगे?"

"अब यही आदमी मेरे लिए सब कुछ है। मेरे मां-बाप की मंज़ूरी मिलने या न मिलने से अब मुझे कोई मतलब नहीं रहा!" उसने और भी ज़ोर से, आत्मविश्वास के साथ कहा।

क़ाज़ी ने निकाह विधिवत् आरंभ किया। निकाह के समय पढ़ी जानेवाली दुआएं पढ़ीं, जिनमें से कुछ अरबी में थीं और कुछ ताजिकी में। फिर उन्होंने ताजिकी में कुम्हार के बेटे से पूछा:

"आप कि ज़ेहनी और जिस्मानी एतबार से तन्दुरुस्त हैं और बालिग़ हो चुके हैं शरीअत के मुताबिक़ इस लड़की को अपनी बीवी की हैसियत से क़बूल करते हैं?"

"क़बूल," उसने जवाब दिया।

"आप कि ज़ेहनी और जिस्मानी एतबार से तन्दुरुस्त हैं और बालिग़ हो चुकी हैं शरीअत के मुताबिक़ इस मर्द की बीवी बनना क़बूल करती हैं?"

"क़बूल," युवती का दृढ़ स्वर गूंज उठा।

आवाज़ मुझे बहुत जानी-पहचानी लगी। लेकिन यह आवाज़ मैंने कहां और कब सुनी थी, यह मुझे याद नहीं आया।

निकाह के रस्म-रिवाज के मुताबिक़ पानी से भरा प्याला लाया गया और लोग उसके चारों ओर जमा हो गये।

कुम्हार का बेटा और वह लड़की क़ाज़ी के चबूतरे से उतरकर दरवाज़े की ओर बढ़े। युवती पूर्ववत् कुम्हार के बेटे के पीछे-पीछे उसके चोग़े का पल्ला कसकर पकड़े चल रही थी।

मैं उनसे पहले भागकर बाहर निकल आया, ताकि उस लड़की को देख सकूं, जिसकी आवाज़ मुझे इतनी जानी-पहचानी लगी थी।

वह साहसी युवती केवल अपनी उत्कट व दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण बुख़ारा अमीरात की भयानक परिस्थितियों में अपने परिवार के निरंकुशवाद के विरुद्ध खड़ी होकर और सब बाधाओं पर पार पाकर अपने प्रेमी की जीवन-संगिनी बन पायी थी।

मैंनें दो बार मुड़कर देखा, पर मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। कुम्हार के बेटे के पीछे-पीछे जा रही वह लड़की हबीबा थी।

मैं आश्चर्य के मारे एक ओर हटना भूलकर उनके रास्ते में खड़ा रह गया।

हबीबा सीधी मेरी तरफ़ आ रही थी।

उसने भी मुझे देख लिया, लेकिन वह घबरायी नहीं, बल्कि उसने मुस्कराकर मुझे स्नेहपूर्वक रास्ते से हटा दिया।

"अरे, शैतान! तुम यहां क्या कर रहे हो? तुमने सबसे पहले मेरे बारे में जान ही लिया? अच्छा, सबको मेरा सलाम कहना।"

वे दोनों ख़ुशी-ख़ुशी मेरे पास से गुज़रे और फिर घोड़े पर सवार होकर चले गये। कुम्हार का बेटा आगे बैठा था और हबीबा उसके पीछे।

अब कहीं जाकर मेरी समझ में आया कि हबीबा हाफ़िज़ की ग़ज़ल पढ़ते समय इतनी विह्वल क्यों हो उठती थी:

"जब तक होगा नहीं सच ख़्वाब मेरा,
मिलेगा सुकून मुझे नहीं।
जब तक कहेगा नहीं "हां"
महबूब मेरा, मिलेगा सुकून मुझे नहीं...
मर जाऊं या रहूं हमेशा उसके साथ,
मिलेगा सुकून मुझे नहीं।"

शायर

मैंने मकतब की पढ़ाई पूरी कर ली। लेकिन ढंग से पढ़ना मैं वहां नहीं सीख पाया। मैं केवल वही पढ़ पाता था, जो मैं मकतब में पढ़ चुका था। और वह भी केवल उसी किताब से, जिसे हमने मकतब में पढ़ा था। अगर मुझे पढ़ने को कुछ ऐसा मिल जाता, जो मैंने पहले नहीं पढ़ा था या पढ़ा भी था, पर किसी दूसरी किताब में, तो मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। इसलिए मेरे अब्बा मुझे मुल्ला के पास ले गये, जो गर्मियों में मेरे भाई साहब मुहीउद्दीन और ख़्वाजा सईद अकबर को पढ़ाया करते थे।

मुल्ला ने मुझे पहले "अव्वले-इल्म" नामक पुस्तक पढ़ायी। उस किताब में प्रश्नों व उत्तरों की सहायता से विभिन्न इसलामी सिद्धान्तों का विवेचन किया गया था। हमने वह किताब एक महीने में पढ़ ली। उसके बाद हमने "बिदान" (सीखो) नामक पाठ्य-पुस्तक पढ़नी शुरू की। वह ताजिक भाषा में लिखी थी और उसमें अरबी भाषा के व्याकरण का वर्णन किया गया था। लेकिन दोनों किताबों में कुछ भी मेरी समझ में नहीं आया। मैं तोते की तरह अपने उस्ताद की कही बातें दोहराता रहता था।

हमारे यहां ऐसा नियम था: एक पाठ समाप्त करके दूसरा पाठ आरम्भ करने से पहले मुझे पहला पाठ बिना अटके सुनाना होता था। उस्ताद को इस बात में ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी कि मैं ताजिक पाठ, जिसमें अरबी भाषा के उदाहरण मिले-जुले हैं, समझ भी पाता हूं या नहीं। वैसे मैं ख़ुद भी पाठ का अर्थ समझने की कोशिश नहीं करता था।

"बिदान" का पाठ आरम्भ करने के पहले दिन ही उस्ताद ने मुझे कई सवाल-जवाब रटवा दिये।

प्रथम प्रश्न था: "लेखक क्यों कहता है कि 'पढ़ने के बजाय सीखने की कोशिश करो'?" उत्तर था: "क्योंकि पढ़ने का अर्थ ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान का अर्थ पढ़ना होता है। इसीलिए लेखक कहता है: 'पढ़ने के बजाय सीखने की कोशिश करो।'

मैं न तो प्रश्न ही समझ पाया और न ही उत्तर। मेरी उम्र में इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि सचमुच मेरे आदरणीय उस्ताद भी न तो प्रश्न ही समझ पाते थे और न ही उनके उत्तर। और अगर वह समझते भी, तो उन्हें इस बात में बिलकुल दिलचस्पी नहीं थी कि वह मुझे जो पढ़ाते हैं, उसमें से मेरी समझ में भी कुछ आता है या नहीं।

लेकिन इससे और भी अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि मेरे

अब्बा भी, जो मेरी पढ़ाई पर इतना ध्यान दिया करते थे, मुझसे यह कभी नहीं पूछते थे कि मेरी समझ में कुछ आता भी है या नहीं। वह हर शाम मुझे अपना पाठ रटने के लिए मजबूर करते थे, ताकि सुबह मुझे अपने उस्ताद के सामने शर्मिंदा न होना पड़े। कभी-कभी वह स्वयं भी मेरा पाठ सुना करते। जब कभी मैं बिना अटके पाठ सुनाता, वह मेरी प्रशंसा करते:

"शाबाश! अपने पाठ हमेशा इसी तरह याद किया करो।"

इस शिक्षा से मुझे दो लाभ हुए।

पहला तो यह कि मैं अरबी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर की अपनी विशेष संख्या पर आधारित गणना की पद्धति "अबजद" सीख गया। यह गणना मुझे अब्बा ने विस्तार में समझा दी। इन्हीं नियमों के अनुसार मैं अरबी अक्षरों की विशेष संख्या की गणना करके नौ अंकों की संख्याओं की सहायता से शून्य मिलाकर लिखने लगा।

और दूसरा यह कि मुझे शायरी से प्यार हो गया। उस समय तक शायरी का अर्थ मैं नहीं समझ पाता था, पर मुझे उसका सस्वर पाठ बहुत आकर्षित करता था। मैं बड़े शौक़ से अपनी याद की हुई ग़ज़लें मन-ही-मन दोहराता रहता था।

मुझे ख़ास तौर से वे ग़ज़लें ज़्यादा पसंद थीं, जिनका भावार्थ कभी हबीबा ने मुझे समझाया था और जिन्हें वह स्वयं भी भाव-विभोर होकर पढ़ा करती थी।

मैं जब भी वे ग़ज़लें दोहराता, मेरी आंखों के आगे हबीबा साकार हो उठती। उसकी स्मृतियां मुझ पर मधुर उदासी के रूप में छा जातीं। जब मैं याद करता कि वह किस प्रकार अपने प्रेमी से मिलने में सफल हुई, तो वह सुडौल, फुरतीली लड़की मुझे किसी परी-कथा की नायिका जैसी प्रतीत होती। यह सब मुझे इतना अभिभूत कर देता कि मैं स्वप्न-लोक में खो जाता।

मुझे अपनी सुनी हुई बैतों का भावार्थ समझने की बहुत इच्छा होती थी। इसमें अब्बा मेरी सहायता किया करते और वही मेरे प्रश्नों के स्पष्ट व विस्तार में उत्तर देते। लेकिन जब कभी मैं उनसे इश्क़ की शायरी का अर्थ पूछता, तो वह भौंहें सिकोड़कर कहते :

"बड़े होगे, तब समझ जाओगे।"

उस समय मुझे यह मालूम नहीं था कि हमारे यहां भी शायर हैं। मैं सोचता था कि शायरी केवल पीर लोग ही कर सकते हैं। और चूंकि सभी पीर लोग बहुत पहले हुए थे और मेरे ज़माने में उनमें से कोई नहीं रहा था, इसलिए मेरा ख़याल था कि अब शायरी करनेवाला कोई भी नहीं रहा। यह विचार मेरे दिमाग़ में बीबी ख़लीफ़ा के मकतब में उपजा था और मैं यही सोचता भी रहा, जब तक कि संयोगवश हुई एक भेंट के कारण मुझे यह विश्वास न हो गया कि हमारे ज़माने में भी शायरी की जा सकती है।

एक दिन अब्बा मग़रिब की नमाज़ पढ़ने मसजिद के लिए रवाना हुए। पर वह मसजिद के आधे रास्ते से ही मुझे लेने लौट आये और मुझे आवाज़ देकर फिर जल्दी से मसजिद की ओर चल दिये। मैं उनके पीछे भागा।

अब्बा ने मुझे हमारे अहाते को मसजिद के बाग़ से अलग करनेवाली ऊंची दीवार पर बिठा दिया। फिर वह मेरे पास खड़े होकर बोले :

"अभी तुम्हारे बड़े भाई के उस्ताद मसजिद से बाहर निकलेंगे। मैं उनको तुम्हें दिखाऊंगा।"

कुछ मिनट बाद मसजिद से हमारे गांव के मुल्ला निकले, जिन से मैं उन दिनों पढ़ा करता था और उनके साथ-साथ एक मध्यम क़द का दुबला-पतला और पीले-से चेहरेवाला आदमी भी बाहर आया। वह सफ़ेद चोग़ा पहने था और उसके सिर पर छोटा-सा सफ़ेद अमामा शोभायमान था।

अब्बा ने कहा :

"यही तुम्हारे बड़े भाई के उस्ताद हैं। यह बहुत बड़े आदमी हैं, जाने-माने विद्वान और प्रतिभाशाली शायर हैं।"

मुझे आश्चर्य हुआ कि वह बड़े आदमी हैं, पर क़द के इतने छोटे हैं, जाने-माने विद्वान हैं, जबकि अमामा उनका हमारे मुल्ला के अमामे से भी काफ़ी छोटा है।

अब्बा ने मेरे मन की बात भांप ली, बोले :

"किसी आदमी की महानता उसके क़द से और ज्ञान उसके अमामे की छोटाई-बड़ाई से नहीं नापा जाता। बुद्धिमान और सच्चे विद्वान छोटा अमामा लगाते हैं, क्योंकि उनकी महानता उनके ज्ञान में होती है।"

शायरी क्या होती है, यह मैं उस समय भी जानता था, लेकिन "शायर" शब्द मैंने पहले कभी नहीं सुना था। मैंने अब्बा से पूछा :

"आपने उन्हें शायर कहा है। पर शायर क्या होता है?"

"शायरी करनेवाले आदमी को ही शायर कहते हैं।"

मैं पूछना चाहता था कि उन्होंने क्या लिखा है, पर पूछ नहीं पाया, क्योंकि नमाज़ का समय हो गया था। अब्बा ने मुझे दीवार से उतार लिया, लेकिन मेरी शंका भांपकर वह बोले :

"जाओ, अब घर जाओ। जब मैं लौटकर आऊंगा, तो तुम्हें इन जनाब की नज़्में सुनाऊंगा।"

घर लौटने पर अब्बा ने ताक़ से अपने ही हाथ लिखी एक किताब निकाली। किताब के कुछ अन्तिम पृष्ठों पर दो या तीन ग़ज़लें अंकित थीं। अब्बा ने उन्हें मुझे दिखाया।

"ये सब उन्हीं की ग़ज़लें हैं," उन्होंने कहा और ग़ज़लें मुझे पढ़कर समझायीं।

हर ग़ज़ल के अन्त में "ईसा" आता था।

अब्बा ने कहा :

"वह इसी नाम से शायरी करते हैं। इस नाम से वह अपने बारे में बताते हैं।"

उनकी एक ग़ज़ल में "ग़रीबी" शब्द बार-बार आया था। अब्बा ने उस ग़ज़ल की एक बैत पढ़कर कहा :

"ईसा ने यह ग़ज़ल अपनी तीस साल की उम्र में लिखी थी। तब उन्हें उम्मीद थी कि चालीस या पचास साल के होने तक वह ग़रीबी की बेड़ियों से छुटकारा पा जायेंगे। लेकिन वह चालीस के भी हुए, पचास के भी, और अब तो साठ से भी ऊपर के हो चुके हैं, फिर भी आज तक ग़रीबी की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं। सारी ज़िंदगी उन्होंने किताबों की नक़ल करके या तालिब-इल्मों को पढ़ाकर गुज़र की है। ज़रा सोचो, ग़रीबों के ख़ानदानों में से कितने बुद्धिमान निकलते हैं। जब कि उनके लिए तालीम हासिल कर पाना तक कितना मुश्किल होता है!"

अब्बा के चेहरे पर कष्टकर चिन्तन की छाया व्याप्त हो गयी।

"हां!" उनके मुंह से एक आह निकली। "अगर मैं पढ़ाई जारी रखता, तो शायद मैं भी कुछ बन जाता। लेकिन ग़रीबी ने मुझे मौक़ा ही नहीं दिया! इसलिए, बेटा, तुम पढ़ो! मैं तो कुछ हासिल नहीं कर सका, पर तुम ज़रूर हासिल करो! सुनते हो? अच्छा सुनो, यह भी ईसा ने ही लिखा है :

ये सुस्ती और काहिली से जीना, ये
बुढ़ा होना, ये मरना कब तक।
समझ ले तू इस वरक़ को है तेरे
हाथ में यह किताब जब तक।

"इसके माने समझे? यह अक़्लमंद आदमी काहिली को मौत जैसा मानता है। और हमेशा मेहनत करते रहने की सीख देता है—मेहनत

ही आदमी को मौत की ठण्ड से बचाकर उसके बदन को गरम रखती है। अच्छा, सुनो, एक और शायर ने इसी बारे में क्या लिखा है:

लगा न आस खुदा से कि रहम खायेगा
तेरे लिए वह तेरे बोझ को उठायेगा।
न भूल इसको कि सब कुछ है तेरी
मेहनत से जो तू काटेगा वही तेरे काम आयेगा।"

इस ग़ज़ल का अर्थ मुझे स्पष्ट करके अब्बा आगे बोले:

"ज़रा सोचो, इन दो महान व्यक्तियों के दृष्टि-कोण कितने मिलते-जुलते हैं। बाबा साइब ने यह ग़ज़ल ढाई सौ साल पहले लिखी थी, जबकि ईसा हमारे बीच में रहते हैं, और तुम खुद उन्हें देख चुके हो। लेकिन वे दोनों एक ही बात कहते हैं! दोनों ही काहिली से बचने और मेहनत करने की नसीहत देते हैं।"

अब्बा विख्यात शायर साइब इस्फ़हानवी का, जिनको वह बाबा साइब कहते थे, बहुत आदर करते थे। जब कभी वह उनकी शायरी पढ़ते, तो उनकी मुख-मुद्रा उस बालक की तरह हो जाती थी, जो किसी तरह मुरब्बा पाने में सफल हो गया हो। अब्बा के साथ हुई यह बातचीत मेरे सारे भावी जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

उस दिन मुझे मालूम हुआ कि आदमी हमारे ज़माने में भी शायर बन सकता है, हालांकि यह सन्देह मुझे परेशान करता रहा: क्या कोई बिना पीर हुए शायर बन सकता है? क्या ईसा पीर थे और इसी कारण शायर बन सके?

"क्या सिर्फ़ पीर ही शायरी कर सकते हैं?" मैंने अब्बा से पूछा।

"नहीं, सिर्फ़ पीर ही क्यों!" वह मुस्करा पड़े। "मैं भी तुम्हारे चाचा द्वारा हमारी मसजिद का नया बरामदा बनाये जाने के मौक़े पर एक शेर लिख चुका हूं:

बरामदा बनाया है ये मुर्ग़ के साल में
इन्हें तू दाना-पानी दे, यह बात रख ख़याल में।

"देखो अगर 'मुर्ग़' शब्द के अक्षरों की संख्या में 'दाना' और 'पानी' शब्दों के अक्षरों की संख्या जोड़ी जाये, तो उनका कुल जोड़ (६३) बरामदे के बनने का साल १३०३ हिजरी (ईस्वी सन् १८८६) होगा।"

मुझे अबजद का अच्छा ज्ञान था। मैंने अब्बा के शेर की गणना की और मुझे उनकी बतायी वही संख्या १३०३ प्राप्त हो गयी।

इस घटना से मैं अत्यधिक उल्लसित हो उठा – न सिर्फ़ इस लिए कि मेरे अब्बा शायरी करते हैं बल्कि इस लिए भी कि सिर्फ़ पीर ही शायरी नहीं किया करते: आख़िर अब्बा ने भी तो शायरी की है! और जहां तक इस बात का सवाल है कि वह पीर नहीं हैं, तो मुझे इसका पूरा विश्वास था।

मुझे अब्बा के और भी कुछ शेर सुनने की इच्छा हुई। मैंने जब उनसे कुछ और पढ़कर सुनाने को कहा, तो वह बोले:

"तुम मुझे शायर मत समझो। कोई आदमी अगर दो-चार शेर लिख ले, तो इसका मतलब यह नहीं होता कि वह शायर है। हर कोई, जिसमें शायर की प्रतिभा है, कुछ ग़ज़लें ज़रूर लिख सकता है। लेकिन अच्छा शायर बनने के लिए सिर्फ़ शायर की प्रतिभा होना ही काफ़ी नहीं होता। शायर को जीवन के हर मौक़े पर शायरी करने के लिए ख़ुद काफ़ी जानकार होना ज़रूरी है, उसके लिए जीवन के हर पहलू का ज्ञान होना और उसे समझना ज़रूरी है। तब कोई ईसा और बाबा साइब, बेदिल या हाफ़िज़ जैसा शायर बन सकता है।"

"क्या हमारे ज़माने में ईसा के अलावा और भी शायर हैं?"

"ज़रूर हैं। और बहुत-से हैं। ग़िजदुवान के क़ाज़ी अब्दुल वाहिद भी शायर हैं।"

यह सुनकर मैं उदास हो गया। जब मैं कुछ साल पहले उन क़ाज़ी से मिला था, वह मेरे प्रति बहुत स्नेहपूर्ण थे, लेकिन उस समय मुझे ख़याल भी नहीं आया था कि मैंने किसी शायर से बात की है। मुझे स्वयं अपनी योग्यता के बारे में जानने में भी दिलचस्पी थी। मैंने अब्बा से पूछा कि क्या मैं शायर बन सकता हूं।

"बेशक," अब्बा बोले, "लेकिन यह कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए काफ़ी अच्छी तालीम हासिल करना और बहुत-सी किताबें पढ़ना ज़रूरी है। सिर्फ़ शायरों को अच्छी तरह जानना काफ़ी नहीं होता है, बल्कि उनकी शायरी की विशेषताओं को समझना भी आवश्यक है, ताकि तुम ख़ुद अपनी शायरी की शैली भी बना सको। तुम्हें चाहिए कि इस वक़्त, जब तुम छोटे हो, अच्छी तरह पढ़ना-लिखना सीखो, शेरों को ज़बानी याद करो, पर शायरी करने की अभी कोशिश मत करो।"

मुझे शायरी से प्यार था। लेकिन पढ़ना मुझे ना के बराबर ही आता था। और मेरी लिखावट तो उससे भी ज़्यादा ख़राब थी। केवल कुछ चिह्नों को छोड़कर, जिन्हें अब्बा ने मुझे अबजद सिखाते समय दिखाया था, मुझे एक भी अक्षर लिखना नहीं आता था। मैंने अब्बा से कहा कि वह मुझे लिखना सिखायें और वह तैयार हो गये:

"ठीक है। तुम जब लिखना सीख लोगे, तो पढ़ने भी बेहतर लगोगे।"

मैंने उसी दिन ईसा की कई ग़ज़लें जो मुझे ज़्यादा पसंद थीं, कंठस्थ कर लीं:

> दिल मेरा शुक्रगुज़ार है तेरी एक
> प्यारभरी नज़र के लिए,
> तेरी एक उड़ती नज़र, मुस्कान के लिए
> हर तरह की तकलीफ़ उठाने को तैयार हूं मैं।

ए मग़रूर ख़ूबसूरती ! ए रंगरलियां बहार, प्यार !
बहार की फुलकारी की सारी दौलत
तेरे क़दमों में लाकर डाल दूंगा मैं।

सुलेख की शिक्षा

जब मैंने अब्बा से अपना वादा पूरा करने और मुझे ख़ुशनवीसी सिखाने को कहा, तो वह बोले :

"मेरी लिखावट ख़राब है। अगर तुम मुझसे ख़ुशनवीसी सीखोगे, तो तुम्हारी लिखावट भी ख़राब हो जायेगी। थोड़ा इंतज़ार करो, जल्दी ही बुख़ारा से सईद अकबर ख़्वाजा आनेवाला है, उसकी लिखावट अच्छी है, वही तुम्हें ख़ुशनवीसी सिखा देगा।"

सईद अकबर ख़्वाजा ने जो थप्पड़ मुझे लगाया था, उसके निशान मेरे चेहरे से कब के ग़ायब हो चुके थे। लेकिन थप्पड़ मुझे याद था, इसलिए मुझे सईद अकबर ख़्वाजा से कुछ भी सीखने की इच्छा नहीं होती थी।

बाद में मैंने सोचा : अब्बा मुझसे कहते रहे हैं कि विद्या सीखने की ख़ातिर हमें हर तरह की बाधाओं और कष्टों का सामना करने को तैयार रहना चाहिए। इसके अलावा उस पागल की मदद से मैं सईद अकबर ख़्वाजा से बदला ले ही चुका था और वह भी सूद सहित। तो अब भी सईद अकबर ख़्वाजा से नाराज़ रहना क्या मेरे लिए उचित होगा ?

यह सब सोच-समझकर मैंने अब्बा की बात मान ली।

एक बार अब्बा ने मुझसे कहा :

"अब हमें लिखने का सामान लाने की भी सोचनी चाहिए। लोग कहते हैं :

अगर स्याही पानी है, क़लम डण्डा है, काग़ज़ ख़ाक है
और सोख़्ता राख है, तो उनसे आदमी लिख कैसे पायेगा?"

महल्ला-ए-बाला में लगनेवाले बाज़ार के दिन अब्बा मुझे ग़िजदुवान तक अपने साथ ले गये।

उन्होंने ग़िजदुवान के बाज़ार में मुझे एक क़लमदान, दो क़लम, भेड़ की खाल से बनी काग़ज़ रखने की थैली, एक क़लमतराश, स्याही में डाला जानेवाला एक रेशमी धागों का गुच्छा (क़लम में फ़ालतू स्याही न आने देने के लिए) और क़ोक़ानी काग़ज़ के चार ताव ख़रीद दिये। यह दौलत मुझे सौंपकर अब्बा ने मुझे वापस सोकतारे रवाना कर दिया और स्वयं आगे महल्ला-ए-बाला चल पड़े।

गधे पर सवार होकर, पोटली में क़लमदान रख, हाथ में उसे लिये मैं घर रवाना हो गया। मेरी ख़ुशी का पारापार नहीं था।

जैसे ही मैं ग़िजदुवान से बाहर निकला, मेरे गधे की काठी आगे ख़िसकने लगी।

रास्ते की बायीं ओर एक नीची दीवार थी। मैंने छाया में रुककर, गधे से उतरा, पोटली को दीवार पर रखा और गधे का तंग कसने के लिए हाथ बढ़ाया। पर अचानक मेरा हाथ पोटली से टकरा गया और उस में रखा चिकना क़लमदान खिसककर दीवार के उस ओर नहर में गिर गया।

मैंने दीवार पर से झुककर देखा कि नहर में पानी नहीं है। पर वहां क़लमदान भी नहीं था! मैने ध्यान से देखा, तो मुझे नहर में एक संकरा-सा कुआं खुदा नज़र आया। मेरा क़लमदान खिसककर उसी में जा गिरा था।

नहर के किनारे बैठकर मैं फूट-फूटकर रोने लगा, जैसे कोई मां अपने बच्चे की क़ब्र पर बैठकर रोती है।

मेरे पास से गुज़र रहे एक आदमी ने मुझसे पूछा:

"क्या हुआ, बच्चे?"

मैंने सुबकियां भरते हुए उसे अपने नुक़सान के बारे में बता दिया।

"रोओ मत। आंसू बहाने से कुछ नहीं होगा," उसने कहा और अपने कपड़े उतारने लगा। मैं सहमता हुआ उसे आश्चर्य के साथ देखता रहा।

"मैं अभी तुम्हारा क़लमदान कुएं से निकाल देता हूं!" उसने कहा।

उसने अपना चोग़ा, अमामा और जूते दीवार पर रख दिये और नीचे के कपड़े पहने ही कुएं के पास गया।

कुएं को खोदे जाते समय उसकी दीवार में बनायी गयी सीढ़ियों पर पैर जमा-जमाकर वह जल्दी से उसके अंदर उतर गया।

कुएं के पेंदे से मेरा क़लमदान उठाकर उसने अपने पाजामे में खोंस लिया और उन्हीं सीढ़ियों से कुएं से बाहर निकल आया।

मैं ख़ुशी के मारे कुछ कह ही नहीं सका।

एक दिन में ही, बल्कि एक घंटे में ही उस क़लमदान ने मुझे कितना सुख प्रदान किया! शुरू में जब मेरे अब्बा ने उसे मेरे लिये ख़रीदा उस समय ख़ुश मैं हुआ था। और अब इस ग़ैर, राह चलते आदमी ने मुझे उससे भी कहीं अधिक सुख प्रदान किया था। क्योंकि क़लमदान मुझे अब्बा ने एक तंगा में ख़रीदकर दिया था, उनसे मुझे और भी कई चीज़ें ख़रीदने की आशा करने और मांगने का अधिकार था। लेकिन यह व्यक्ति तो मेरे लिए बिलकुल अपरिचित था। मैं भले ही छोटा था, फिर भी मैं इसका महत्त्व अच्छी तरह समझ गया और मेरे हृदय में असीम कृतज्ञता की भावना उमड़ पड़ी। लेकिन अपनी यह भावना व्यक्त करना मैं नहीं जानता था।

मैंने अपनी आस्तीन से आंखों के आंसू पोंछे, जिनमें अभी तक केवल निराशा झलक रही थी और कृतज्ञतापूर्वक प्रसन्नता से मुस्करा पड़ा।

पानी में गिरने से क़लमदान पर खरोंच भी नहीं पड़ी थी। बस एक तरफ़ से उसका रोग़न कुछ उखड़ गया था। लेकिन उसके अंदर पानी की एक बूंद भी नहीं गयी थी।

जब मैंने अब्बा को इस घटना के बारे में बताया, तो वह बोले:

"यह क़लमदान बहुत ही माहिर जिल्दसाज़ मीर आदिल ने बनाया है।"

मीर आदिल बहुत ही कुशल कारीगरों में से थे। वह बहुत ही बढ़िया, मज़बूत और सुन्दर क़लमदान बनाते थे।

क़लमदान पर ऊपर से समरक़न्दी काग़ज़ मढ़ा था, जो पानी से क़तई भीगता न था।

अब्बा ने मेरे क़लमदान को देखते हुए कहा:

"इसका रोग़न पानी की वजह से ख़राब नहीं हुआ है। यह कुएं में गिरते समय शायद किसी पत्थर या लकड़ी से टकराया होगा।"

* * *

आख़िर ख़्वाजा सईद अकबर बुख़ारा से आ गये। मैं उनसे ख़ुशनवीसी सीखने लगा।

ख़ुशनवीसी के सभी उस्तादों की तरह उन्होंने एक काग़ज़ पर कई बड़े-बड़े अक्षर लिख दिये। उन्होंने अक्षर एक बड़े-से क़लम से लिखे।

उनके वह अक्षर लिखते वक़्त मुझे मालूम हो गया कि जब वह अपनी सामान्य बारीक लिखावट में लिखते हैं, तो उनके अक्षर बहुत सुन्दर होते हैं, लेकिन ख़ुशनवीसी उन्हें नहीं आती। ख़ुशनवीसी के आरम्भिक अभ्यास के लिए बड़े-बड़े सुन्दर अक्षर लिखना ज़रूरी होता है। उन्हें मुझे यह सब लिखकर दिखाना था।

पहले उन्होंने काग़ज़ पर टेढ़े-मेढ़े अक्षर बनाये, फिर अपने नाख़ून या दांत की परत उतारकर उससे फैली हुई स्याही के धब्बे मिटाये

तथा क़लम की नोक से अक्षर खुरच-खुरचकर साफ़ किये। इस के बाद उनके अक्षर बहुत सुन्दर नज़र आने लगे। देखकर कोई भी उनमें दोष नहीं ढूंढ़ सकता था।

मुझे वह काग़ज़ देकर सईद अकबर ख़्वाजा ने कहा:

"घर जाकर यही अक्षर मेरी तरह ऐसे लिखो कि इनमें कोई फ़र्क़ नज़र न आये। फिर उन्हें एक दूसरे काग़ज़ पर दुबारा लिखो और कल मुझे लाकर दिखाओ। मैं देखूंगा। अगर अच्छे निकले, तो मैं तुम्हें अगला काम सिखाऊंगा। अगर बुरे निकले तो दुबारा लिखवाऊंगा।"

मैं काग़ज़ लेकर घर लौट आया।

घर पर मैंने बिना अभ्यास किये ही कांपते हाथ में क़लम संभाला और अक्षर काग़ज़ पर पूरे लिख डाले। अक्षर टेढ़े-मेढ़े और भोंडे थे। लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी, – अपने उस्ताद का अनुकरण किया। मैंने अक्षरों के उन स्थानों को साफ़ किया, जहां स्याही ज़्यादा फैल गयी थी और वे ज़रूरत से ज़्यादा टेढ़े-मेढ़े हो गये थे। फिर उस्ताद की ही तरह मैंने भी साफ़ किये हुए स्थानों पर लकीरें खींच दीं। अक्षर ठीक हो गये, उन्हें कोई भी अच्छी तरह पहचान सकता था।

यह काम पूरा कर लेने के बाद, जब मैंने उसे अब्बा को दिखाया, तो उन्होंने मेरी जालसाज़ी को न समझते हुए मेरी प्रशंसा की।

सुबह जब मैं अपना काम लेकर उस्ताद के पास गया, तो उनके दिमाग़ में यह बात आयी ही नहीं कि मैंने लिखना सीखने से पहले ही उनसे जालसाज़ी सीख ली है। उन्होंने भी मेरी तारीफ़ की और मुझे अगला पाठ शुरू करने की आज्ञा दे दी।

इस प्रकार मैं बहुत कम समय में ही अलग-अलग अक्षर लिखना सीख गया। अरबी भाषा में अक्षर अलग-अलग तथा मिलाकर भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखे जाते हैं।

मैंने शीघ्र ही अक्षर मिलाकर लिखने का पाठ आरम्भ कर दिया।

उस्ताद ने मुझे नक़ल करने के लिए निम्नलिखित शेर लिखकर दिया :

अलग-अलग लिखने का आनन्द हम उठा चुके,
अब मिलाकर लिखने की तकलीफ़ें झेलनी हैं।

अब सईद अकबर ख़्वाजा ने अपने सामान्य क़लम से अपनी बारीक लिखावट में लिखना शुरू कर दिया। उन्हें अब अपना लिखा हुआ खुरचकर साफ़ करने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। लेकिन मुझे लिखने का अभ्यास न होने के कारण अब भी जालसाज़ी करनी और अक्षर बनाने-मिटाने पड़ते थे।

मेरी ख़ुशनवीसी की शिक्षा समाप्त हो गयी। अब मुझे शेर उतारने का अवसर मिला। लेकिन मेरी लिखावट इतनी ख़राब थी कि उसे मेरे सिवा और कोई नहीं पढ़ पाता था। कभी-कभी तो मैं ख़ुद भी अपना ही कुछ दिन पहले लिखा हुआ नहीं पढ़ पाता था।

केवल कई वर्षों के बाद, और बहुत अधिक लिखते रहने के कारण मेरी लिखावट कुछ सुधरी। लेकिन वह सारी ज़िंदगी भोंडी ही रही। यह सईद अकबर ख़्वाजा से अक्षरों को खुरचकर साफ़ करने का परिणाम था।

'परवरदिगार ख़्वाजा'

हमारे सोकतारे में मीराकानियों (मशहद के आप्रवासियों) का क़ारी महमूद नाम का एक आदमी रहता था। वह बहुत हंसमुख, प्रत्युत्पन्नमति और चतुर था।

उसके अब्बा ने उसे बचपन में ही क़ुरान का सस्वर पाठ सिखाने के मकतब में दाख़िल करा दिया था। वहीं उसे क़ारी का ख़िताब मिला था, जिसका अर्थ होता है क़ुरान का पाठ करनेवाला।

बड़ा होने पर वह दफ़्तर में काम करने लगा और अमीर के प्रांतीय

प्रशासकों के विभिन्न कार्य करने लगा। कुछ समय बाद वह अपने गांव लौटकर जादू-टोने, मंत्रों और दुआओं आदि से इलाज करने लगा...

हमारे सोकतारे में नौजवान लोग अकसर बारी-बारी से, ख़ास तौर से सर्दियों में दावतों का आयोजन किया करते थे। ऐसी ही एक दावत में क़ारी महमूद को भी बुलाया गया।

क़ारी महमूद को सब न केवल उसकी हाज़िरजवाबी और हंसमुख स्वभाव के लिए, बल्कि उसके दुःसाहसपूर्ण स्वतंत्र विचारों के लिए भी प्यार करते थे, हालांकि कोई भी स्पष्ट रूप से उसके साथ अपनी सहमति व्यक्त नहीं करता था। इसी दावत में सईद अकबर ख़्वाजा को भी, उनके बुख़ारा के मदरसे का तालिब-इल्म होने का सम्मान देकर, बुलावा भेजा गया, हालांकि न वह उस मण्डली के सदस्य थे और न ही क़ारी महमूद।

क़ारी महमूद अन्य सभी मेहमानों की तरह उस नौजवान के घर आया, जिसकी उस शाम दावत करने की बारी थी।

लेकिन सईद अकबर ख़्वाजा ने आने में देर कर दी।

सभी मेहमान, जो कि एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र थे, सईद अकबर ख़्वाजा पर शेख़ी दिखाने का सन्देह करने लगे, क्योंकि उनकी धारणा थी कि बड़े आदमी ही हमेशा देर से आया करते हैं।

मेहमानों ने मेज़बान से कहा :

"तुमने क्या हमें भूखों मारने की ठान ली है? अगर तुम्हारे पास कुछ खिलाने को है, तो लाओ! और अगर नहीं है, तो साफ़-साफ़ कहो, ताकि हम अपने-अपने घर का रास्ता नापें।"

मेज़बान ने कहा :

"खाना तैयार है। मैं बस सईद अकबर ख़्वाज़ा के इंतज़ार में हूं। हमने उसे न्योता दिया है, इसलिए उसके आने से पहले शुरू करना अच्छा नहीं लगेगा।"

सबने थोड़ी देर और प्रतीक्षा की।

परन्तु सईद अकबर ख़्वाजा के आने का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया, तो उन्होंने खाना शुरू कर दिया।

सईद अकबर ख़्वाजा आये ही नहीं।

अगले दिन क़ारी महमूद की सईद अकबर ख़्वाजा से रास्ते में मुलाक़ात हो गयी और उसने अन्य सोकतारेवासियों की उपस्थिति का लिहाज़ किये बिना ही उनसे कह दिया:

"कल मेहमानों को आपका दो घंटे से भी ज़्यादा इंतज़ार करना पड़ा। यह अच्छी बात नहीं है!"

"मैं वहां गया था," सईद अकबर ने जवाब दिया, "लेकिन बाहर से ही लौट आया।"

"क्यों?" क़ारी महमूद ने साश्चर्य पूछा।

"मैंने ख़ुद अपने कानों से उस जाहिल मेज़बान को सिर्फ़ मेरा नाम लेकर मेरा ज़िक्र करते सुना – 'फ़लां, फ़लां अभी तक नहीं आया'। किसी अनपढ़ गंवार ने मेरा, बुख़ारा के मदरसे के तालिब-इल्म का बेतकल्लुफ़ी से नाम लेकर ज़िक्र करने की जुरअत की! यह बहुत ही बेइज़्ज़ती की बात है! मैंने फ़ैसला किया: भाड़ में जाये उसकी दावत! मैं कभी ऐसे लोगों की सोहबत में नहीं बैठूंगा।"

क़ारी महमूद ने सईद अकबर ख़्वाजा के मुंह पर ही उनका मज़ाक़ उड़ाया:

"हर आदमी और हर चीज़ का अपना नाम होता है। लेकिन आपको तो अपने अब्बा के दिये नाम पर ही शर्म महसूस होती है। अब शायद मुझे ही आपके लिए कोई सम्माननीय नाम ढूंढ़ना पड़ेगा, ताकि आपको भी शर्म न आये और हम भी उसका बड़े इतमीनान से इस्तेमाल कर सकें।" क़ारी महमूद ने सईद अकबर ख़्वाजा को नया चोग़ा पहनाकर देखने का अभिनय करते हुए सिर झुकाया और उन

पर, नज़र डालकर बोला: "ठीक है, हम आपका नाम 'परवरदिगार' रखेंगे। 'परवरदिगार' अल्लाह के नामों में से एक है। इस नाम से बेहतर कोई नाम है ही नहीं। लेकिन इसके साथ हम 'ख़्वाजा' और जोड़ दें, तो यह ख़ुद अल्लाह के नाम से भी कहीं अधिक सम्माननीय हो जायेगा। मेरे ख़याल में यह नाम आपके लिए बिलकुल उपयुक्त रहेगा और आपकी प्रतिष्ठा को इससे ठेस नहीं पहुंचेगी।"

सब ज़ोर से हंस पड़े।

सईद अकबर ख़्वाजा का चेहरा शर्म से लाल हो उठा। वह समझ गये कि वह बहुत ही विकट परिस्थिति में फंस गये हैं। ग़ुस्से के मारे उन्हें कुछ जवाब तक न सूझा और वह झटके से पलटकर घर की ओर चल दिये।

इस घटना के बाद वह कई दिनों तक घर से बाहर नहीं निकले।

लेकिन इस घटना को कोई नहीं भूला और 'परवरदिगार ख़्वाजा' उनका नाम हमेशा के लिए पड़ गया।

अब्बा

हालांकि मेरे अब्बा तुनक-मिज़ाज और सख़्त आदमी थे, पर वह हमें विरले ही डांटते-फटकारते थे और सज़ा तो उससे भी कम देते थे। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे केवल दो बार सज़ा दी थी।

पहली बार जो सज़ा मुझे मिली, उसका क़िस्सा इस तरह है:

अब्बा ने एक अड़ियल गधा ख़रीदा था। जैसे ही कोई गधे की अयाल को छूता, वह दुलत्तियां झाड़ने लगता और सवार या सामान को ज़मीन पर गिरा देता।

गर्मियों में एक बार अब्बा ने उस गधे को खेत में खूंटियों पर चरने छोड़ा। दोपहर में, जब चिलचिलाती धूप पड़ रही थी, अब्बा ने मुझे

गधे को लाने भेजा, पर साथ ही चेतावनी भी दे दी:

"देखो, उस पर सवार मत होना, कहीं तुमने उसकी अयाल छू दी, तो वह तुम्हें गिरा देगा।"

मैंने खेत में जाकर गधे की छांद खोली और उसे घर हांक ले चला। लेकिन मैंने सोचा कि ख़ुद पैदल जाना और गधे को बिना बोझ लादे हांककर चलाना तो बेवक़ूफ़ी की बात होगी। 'अगर मैं किसी ऊंची जगह से बिना इसकी अयाल छुए इस पर सवार हो जाऊं मज़े से सवारी करता हुआ घर तक पहुंच जाऊंगा।'

मैंने जैसा सोचा था, वैसा ही किया।

मैं गधे को एक नाली में उतार ले गया और बड़ी सावधानी से, उसको हाथ से छुए बिना, उस पर सवार हो गया।

गधा शान्तिपूर्वक खड़ा रहा।

लेकिन जैसे ही गधे ने नाली से निकलना शुरू किया, मैं उसकी पीठ से नीचे फिसलने लगा, काठी तो थी ही नहीं। अपना सन्तुलन बनाये रखने के लिए मैंने अनजाने में दोनों हाथों से उसकी अयाल को पकड़ लिया। गधा दुलत्तियां झाड़ने लगा। मैं जितना कसकर उसकी अयाल पकड़ता, वह उतने ही ज़ोर से उछलने लगा। आख़िर मैं संभल न सका और नीचे लुढ़क गया।

मेरे दाहिने हाथ में सख़्त पीड़ा की एक तेज़ लहर आग-सी दौड़ गयी। मुझे लगा जैसे मेरा हाथ कोहनी पर से काट या तोड़ दिया गया है। उधर गधा दुलत्ती झाड़ता हुआ घर की ओर भाग लिया।

हाथ में दर्द कितना ही तेज़ क्यों न रहा हो, पर उससे भी अधिक कष्ट तो मुझे इस डर से हो रहा था कि अब्बा क्या कहेंगे। मैंने उनका कहना नहीं माना था और मैं निस्सन्देह कड़े से कड़े दण्ड का पात्र था।

मैं बड़ी मुश्किल से खड़ा हुआ। लेकिन हाथ में हो रही असह्य पीड़ा से मैं फिर ज़मीन पर बैठ गया। मुझे लग रहा था जैसे मेरे दिल,

कंधे और हाथ को कोई फ़ौलादी शिकंजे में कसकर उखाड़ रहा है।

उसी समय रास्ते में मुझे अब्बा आते दिखाई दिये। मैंने दांत भींचकर सज़ा भोगने की तैयारी करके अपने आपको क़ाबू में रखने की कोशिश करने लगा।

अब्बा ने मेरे हाथ पर नज़र डालकर कहा :

"मेरा कहना नहीं माना। देखो, अब हाथ तुड़वा बैठे। और यह है भी दायां हाथ। अब लिखा कैसे करोगे?"

अब्बा के इस सवाल ने मुझे इतना हताश कर दिया, जितना कि शायद और कोई भी सज़ा मुझे न कर पाती।

अब्बा ने मेरा हाथ रूमाल से बांध दिया और किसी का घोड़ा मांगकर, मुझे गोदी में लिये, हड्डी बिठानेवाले के पास ग़िजदुवान ले गये।

हड्डी बिठानेवाले ने मुझे देखकर कहा कि मेरा कंधा उतर गया है और हाथ की हड्डी को बिठाना पड़ेगा। उसने इतने ज़ोर से मेरा हाथ खींचा कि मुझे कड़कड़ाहट साफ़ सुनाई दी। पीड़ा असहनीय थी, पर अब्बा और तबीब के सामने डर और शर्म के मारे मैंने चूं तक नहीं की।

अब्बा मेरी सहनशक्ति देखकर बोले :

"शाबाश, बेटा!"

जब मेरा हाथ ठीक हो गया और मैं उस मनहूस दिन के बारे में भूल चुका था, अब्बा ने मुझे बुलाया और हाथ में एक क़मची लेकर एक बार मेरे पैरों पर मारी।

"देखो, आगे से कहना मानना!" उन्होंने सख़्ती से कहा। "अगर फिर कभी मेरा कहना नहीं माना, तो चमड़ी उधेड़ दूंगा। समझे?"

"जी, समझ गया।"

दूसरी बार अब्बा ने मुझे इससे भी कड़ी सज़ा दी।

हमारे गांव से कोई दो किलोमीटर दूर एक बाज़ार था।

एक बार अब्बा ने मुझे नमक ख़रीदने बाज़ार भेजा। घर लौटते समय हमारे एक परिचित रास्ते में मिले। उन्होंने मुझे अब्बा से कहने के लिए कोई बात कही थी।

लेकिन घर लौटकर मैं उनकी बात ही नहीं, बल्कि उनसे हुई मुलाक़ात के बारे में भी भूल गया।

अब्बा मुझसे पूछने लगे कि मुझे बाज़ार में हमारे परिचितों में से कौन मिला था, तब मुझे उस व्यक्ति का स्मरण हो आया।

"और उन्होंने क्या कहा था?" अब्बा ने पूछा।

लेकिन मैं उनका सन्देश बिलकुल भूल चुका था। मैं बात मन से गढ़ने लगा। मैंने शायद कोई बेसिर-पैर की बात कही होगी, इसीलिए अब्बा ने मुझे टोक दिया।

"तुम्हें उनकी बात ठीक से याद भी है या नहीं? कहीं गड़बड़ तो नहीं कर रहे हो?"

"नहीं, नहीं। उन्होंने यही कहा था।" मैं झूठ बोलता रहा।

कुछ दिनों बाद वह आदमी हमारे घर आया।

अब्बा ने अतिथि का अभिवादन किया और मुझे अपने पास बिठाकर उससे पूछा:

"मेहरबानी करके बताइये कि आपने इसकी मारफ़त क्या कहलवाया था?"

अतिथि ने वह सब, जो मुझसे कहा था, विस्तार में बता दिया।

निस्सन्देह मेरी अब्बा से कही बातें उससे बिलकुल मेल नहीं खाती थीं। शर्म के मारे मेरे पसीना छूटने लगा।

अब्बा ने वहीं, मेहमान के सामने, मेरे कान बहुत ज़ोर से खींचे।

"हमेशा ध्यान से काम किया करो। जो सुनो और देखो, उसे याद रखा करो। अगर कोई तुमसे कुछ कहे या कोई काम करने को कहे, तो उसे अच्छी तरह समझ लो और दिल में बिठा लो। अगर

समझ में नहीं आये, तो दुबारा पूछो। लेकिन झूठ कभी मत बोलो। अगर किसी के सामने शर्मिंदगी नहीं उठाना चाहते, तो कभी झूठ मत बोलो। इस बार तुम्हारा क़सूर दोहरा है। पहला तो यह कि तुमसे जो कहा गया था, उसे तुम भूल गये, दूसरा यह कि तुमने अपनी ग़लती मानने के बजाय मुझसे झूठ बोला! अगर तुम सच-सच कह देते कि भूल गये हो, मुझसे झूठ नहीं बोलते, तो मैं इन साहब के सामने तुम्हें सज़ा नहीं देता। यह बात गांठ बांध लो। अच्छा, अब जाकर खेलो!"

मैंने अब्बा की बात गांठ बांध ली। इस घटना ने मेरे सारे जीवन को प्रभावित किया, मुझे सावधानी से काम लेना, सुनी हुई बातों, देखी हुई घटनाओं, चीज़ों और लोगों को याद रखना सिखा दिया। मैं शेरो-शायरी बहुत जल्दी भूल जाता हूं, ख़ुद अपनी भी। लेकिन अपने सुने हुए शब्द, देखी हुई घटनाएं कभी नहीं भूलता।

मेरे साथ जो कुछ भी पहले हुआ, वह मुझे बहुत अच्छी तरह याद रहता है। और निस्सन्देह इसका पूरा श्रेय अब्बा द्वारा मुझे अपनी स्मरण-शक्ति का विकास करने और इसका अभ्यास करने के लिए दी गयी सीख को है...

बुख़ारा का पहला सफ़र

एक बार अब्बा ने मुझे शहर दिखाने और मुहीउद्दीन भाई के पास कुछ दिनों के लिए छोड़ने के लिए बुख़ारा ले जाने का फ़ैसला किया, ताकि मैं मदरसे की ज़िंदगी का आदी हो जाऊं।

सो पतझड़ के एक दिन वह गधे पर सवार हुए और मुझे अपने पीछे बिठाकर सफ़र पर रवाना हो गये।

हम जब बुख़ारा और वाबक़न्द के मध्य स्थित यलंगा गांव से गुज़र रहे थे, तो हमारा गधा रास्ते के किनारे एक छायादार वृक्ष की

छाया में जाकर रुक गया। अब्बा ने क़मची मार-मारकर गधे को आगे चलने के लिए मजबूर कर दिया।

"पिछले साल जब मैं मुफ़्ती की मुहर लेने बुख़ारा गया था," अब्बा ने कहा, "तब मैंने इसी वृक्षा के तले पड़ाव डाला था। एक साल से ज़्यादा हो चुका है, पर गधे को यह अभी भी याद है।"

कुछ क्षण मौन रहकर अब्बा अचानक बोले :

"गधे की याददाश्त आदमी की याददाश्त से अच्छी होती है। आदमी सब जल्दी भूल जाता है। सब याद रखो! सब!"

हम इशा की नमाज़ के समय बुख़ारा पहुंचे और समरक़न्द दरवाज़े से शहर में घुसे। बुख़ारा शहर के दरवाज़े इशा की नमाज़ के लगभग एक घंटे बाद बंद कर दिये जाते थे, और शहर के सभी बाहरी दरवाज़ों की चाबियां मीरशब के हवाले कर दी जाती थीं।

अब्बा ने कहा :

"अगर हमने पांच मिनट की भी देर की होती, तो हमें रात शहर-पनाह के बाहर खुले में गुज़ारनी पड़ जाती।"

शहर में घुप्प अंधेरा छाया था। केवल दरवाज़े के पास पहरेदार की चौकी में एक प्याले में अलसी के तेल का एक चिराग़ टिमटिमा रहा था। आस-पास और कहीं रोशनी नज़र नहीं आती थी। जैसा कि आप जानते ही हैं, बुख़ारा के घरों की सपाट दीवारें रास्ते की ओर होती हैं और उनके किवाड़ व खिड़कियां अंदरूनी अहातों में खुलते हैं। इसी कारण रास्ते में बिलकुल प्रकाश नहीं होता था। दो और तीनमंज़िला मकानों की सपाट दीवारों में जकड़ी गलियां क़ब्रों का स्मरण कराती थीं।

इस निष्ठुर शहर की गलियां अंधेरे में पार करते हुए हम मीर-ए-अरब मदरसे पहुंचे, जिसमें भाई मुहीउद्दीन और सईद अकबर ख़्वाजा पढ़ते थे।

7 730

मदरसे के पश्चिम की ओर से हमें कुछ धुंधली रोशनी दिखाई दी और नगाड़ों व सुरनायों के स्वर सुनाई पड़े। अब्बा ने बताया कि इस समय अमीर जामा मसजिद तथा मीर-ए-अरब मदरसे के बीच कहीं दावत उड़ा रहा है। यह सन् १८८८ की बात है, जो अमीर अब्दुल-अहद के शासन का तीसरा वर्ष था। जब अमीर आर्क में स्थित अपने महल से निकलकर शहर के किसी मकान में ठहरता था, तो उसके बाहर जश्न मनाया जाता था।

बुख़ारा में अपनी उस पहली रात को मुझे ऐयाशी का एक ऐसा नज़ारा देखने को मिला।

छोटे-से चौक में बहुत-से दर्शक जमा हो गये थे। चौक के बीचोंबीच एक अलाव जल रहा था, उसके पास एक क़तार में डफ़ बजानेवाले बैठे थे और कोई बीस सुन्दर लड़के नक़ली चोटियां लगाये गा और नाच रहे थे। चौक के चारों ओर तेल से भरे मिट्टी के बरतनों में डुबाये कपड़ों के टुकड़े मशालों की तरह जल रहे थे। पहरेदार आगे की ओर उमड़ते दर्शकों को लाठियों से पीछे हटा रहे थे।

अब्बा काठी से उतारी ख़ुरजीं मेरे पास छोड़कर गधे को सराय में ले गये और उसे वहीं छोड़कर लौट आये।

फिर हम मीर-ए-अरब मदरसे में गये, जो कि बुख़ारा का प्राचीनतम व सर्वश्रेष्ठ मदरसा माना जाता था।

हम मुख्य दरवाज़े में से निकलकर दायीं ओर मुड़े। वहां दीवार में पत्थर की अंधेरी, तंग और खड़ी सीढ़ियां थीं।

अब्बा मुझे आवाज़ देते हुए ऊपर चढ़ने लगे और मैं उनकी आवाज़ की दिशा में ही हाथों से सीढ़ियां टटोल-टटोलकर उनके पीछे-पीछे चढ़ने लगा।

सीढ़ियां ऊपर जाकर एक बंद जगह में ख़त्म हो गयीं, और अंधेरा वैसा ही बना रहा।

अब्बा ने मदरसे के नियमानुसार एक दरवाज़े पर नाख़ून से धीरे-से दस्तक दी।

दरवाज़ा खुला और हम ऊंची मेहराबोंवाली एक हुजरे में दाख़िल हुए। जिस दरवाज़े से हम अंदर दाख़िल हुए, वही हुजरे का एकमात्र प्रवेशद्वार था।

अंगीठी के ऊपर रखी नीची चौकी पर मोमबत्ती जल रही थी। लेकिन प्रकाश इतना क्षीण था कि चौकी तक ठीक से नज़र नहीं आ रही थी। हुजरे का बाक़ी सारा भाग गहरे अंधेरे में डूबा हुआ था, घुप्प अंधेरे में मेहराबें कहीं बहुत ऊपर ग़ायब हो गयी-सी लग रही थीं, जहां रात्रिकालीन अंधकार का भयानक साम्राज्य था। मुझे वह हुजरा तूता पाशा द्वारा सुनायी गयी परी-कथाओं के किसी भयानक देव के मकान जैसा लग रहा था, जिसमें मैं जैसे अचानक ख़ुद घुस आया था और उसे अब अपने हाथों से छूकर देख सकता था।

जब हम अंदर पहुंचे, तो भाई साहब खाना पका रहे थे, जबकि सईद अकबर ख़्वाजा, जिनका नाम हमारे गांव में 'परवरदिगार ख़्वा-जा' पड़ चुका था, अंगीठी के पास बैठे थे।

हमने दुआ-सलाम की और एक दूसरे से आम सवाल-जवाब किये। उन्होंने हमें अंगीठी के ऊपर रखी चौकी के पास बिठा दिया। इस प्रकार के इंतज़ाम को सन्दाल कहते हैं। फ़र्श में एक चौकोर गड्ढा खोदकर, उसमें कोयले जलाये जाते हैं, फिर उसके ऊपर एक नीची, पर चौड़ी चौकी रख दी जाती है और चारों ओर नमदा या क़ालीन बिछाकर उनके ऊपर गद्दा फैला दिया जाता है। कड़ाके की सर्दी में जिस समय हमारे यहां कमरे गरम रखने का कोई इंतज़ाम नहीं होता था, उस समय सन्दाल के बिना गुज़र करना मुश्किल होता था। चौकी के ऊपर एक बहुत बड़ी रज़ाई डाल दी जाती थी, जिस के नीचे गड्ढे में जल रहे कोयलों की सारी गरमी रुकी रहती थी। लोग उस रज़ाई के अंदर पैर डालकर चौकी

के पास बैठ जाते थे और रात को वही रज़ाई ओढ़कर सुबह तक सुलगते अंगारों की गरमी से अपना बदन गरम रखते थे।

सो हम उस सन्दाल के पास बैठ गये। भाई साहब पुलाव लेकर आये। उन्होंने मुर्ग़ी का ख़ूब तेल डालकर पुलाव बनाया था। खाने के दौरान अब्बा ने पूछा:

"तुम यह मुर्ग़ी कहां से ले आये?"

भाई साहब चुप रहे, पर 'परवरदिगार ख़्वाजा' ने सारा क़िस्सा सुना दिया।

अमीर के जिस जश्न का मैंने ज़िक्र किया है, उसके लिए शाम का खाना भेजने की ज़िम्मेदारी निकटतम मदरसे की होती थी। अमीर के बावरचीख़ाने का एक नौकर शाही आदेश पर मदरसे में आकर एलान करता था कि मदरसे में रहनेवाले सब लोग, जिन्होंने अपने खाने के लिए जो भी पकाया हो, वे उसे लेकर अमीर की सेवा में उपस्थित हों। तालिब-इल्म अपना-अपना तैयार किया पुलाव देगचियों में डाल देते और शाही नौकर उसे उठाकर, पकानेवाले को साथ लिये उस घर में जाता, जहां अमीर ठहरा हुआ होता। वहां अमीर का बड़ा बावरची देगचियों को खोल-खोलकर पुलाव चखता, कुछ को वह स्वीकार कर लेता और बाक़ी को वापस कर देता। चुने हुए पुलाव शाही दस्तरख़ान पर लगाये जाते और देगचियों को अमीर के लिए बनाये गये पुलाव से भरकर उनके स्वामियों को लौटा दिया जाता। इसके अलावा दस तंगा प्रोत्साहन के रूप में भी दिये जाते।

यह दस्तूर बुख़ारा के मदरसों के सभी तालिब-इल्मों को मालूम हो गया। इसलिए जब भी अमीर किसी के घर में ठहरता, तो उसके आस-पास के मदरसों के विद्यार्थी बड़ी लगन से अमीर की कृपा प्राप्त करने के लिए पुलाव पकाते।

उस रात अमीर मीर-ए-अरब मदरसे से थोड़े फ़ासले पर रुका था।

इसलिए उस मदरसे के सभी एक सौ तैंतालीस हुजरों में उस दिन पुलाव पकाया गया था, हालांकि उनमें से अधिकांश में ऐसे छात्र रहते थे, जिनकी माली हालत पूरी सर्दी में एक भी बार पुलाव पकाने लायक़ न थी। लेकिन उन ग़रीबों ने भी कसाई से गोश्त और परचूनिये से चावल उधार ख़रीदकर, ताकि वे कहीं औरों से पीछे न रह जायें, इस आशा से पुलाव पकाया था कि शायद अमीर के बावरची की उन्हीं पर कृपा हो जाये।

सईद अकबर ख़्वाजा ने घमण्ड और शान के साथ कहा:

"आज मदरसे में एक सौ तैंतालीस देगचियों में पके पुलाव में से हमारा पुलाव चुना गया! और यह मुर्ग़ीवाला पुलाव अमीर के बावरचीख़ाने में पकाया गया है।"

इस बातचीत के शुरू में अब्बा सईद अकबर ख़्वाजा की बातें सुनते हुए खाते रहे। लेकिन जैसे ही उनकी समझ में आया कि वह क्या खा रहे हैं, तो उनका चेहरा ग़ुस्से से लाल होने लगा।

मुझे डर लगा कि कहीं वह गधे को हांकने की क़मची उठाकर भाई साहब को पीट न दें। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने बिना कुछ कहे खाने से इनकार कर दिया।

दस्तरख़ान कब का हटाया जा चुका था, पर अब्बा अभी तक जाग रहे थे। उन्होंने न भाई साहब से कुछ कहा और न ही सईद अकबर ख़्वाजा से। उन्होंने उनकी तरफ़ नज़र तक नहीं फेरी। वह किसी दरवेश की तरह आंखें मूंदे और सिर नीचे झुकाये काफ़ी देर बैठे रहे। बीच-बीच में वह केवल ठण्डी उसास छोड़ते, सिर उठाते और वापस झुका लेते।

उस रात वह सो भी पाये या नहीं, मैं नहीं जानता। मैं जल्दी ही घोड़े बेचकर सो गया। मेरी नींद भोर में खुली, जब भाई साहब मोमबत्ती जला रहे थे। अब्बा पहले ही पूरे कपड़े पहनकर सफ़र के

लिए तैयार बैठे थे। जैसे ही उजाला हुआ, अब्बा उठे और मुझसे बोले :

"चलो, बेटा। मैं तुम्हें वापस गांव ले चलता हूं। इन अमीर की जूठन खानेवालों की सोहबत में तुम हमारे पुराने मदरसों के नेक तौर-तरीक़े सीखने के बजाय सिर्फ़ अमीर के बावरचीख़ाने के देग चाटना ही सीख सकोगे।"

मैं आंखों से आंसू बहाता हुआ उनकी चिरौरी करने लगा :

"मुझे, मेहरबानी करके, शहर देखने और मामा मुल्ला देहक़ान से मिलने के लिए यहां कुछ दिन रहने दीजिये।"

अब्बा काफ़ी देर बाद अनिच्छापूर्वक तैयार हुए, पर उन्होंने चिन्ता-मग्न स्वर में कठोरतापूर्वक कहा :

"देखो, इनसे यह काम मत सीखना। अगर तुमने मेरा कहना नहीं माना, तो मैं तुम्हें अपनी आंखों के सामने तक नहीं आने दूंगा।"

भाई साहब अब्बा की ख़ुरजीं उठाकर बाहर ले जाना चाहते थे, पर अब्बा ने उसे उनसे छीन लिया और हुजरे से निकल गये।

हम उन्हें सराय तक छोड़ने गये, जहां हमारा गधा बंधा था। लेकिन अब्बा वहां भी हमसे कुछ नहीं बोले। उन्होंने चुपचाप चौकीदार को भाड़ा चुकाया और सफ़र पर रवाना हो गये।

जिस हुजरे में भाई साहब रहते थे, वह दिन में तो रात से भी अधिक भयानक लगती थी। मदरसे में उसे "भुतहा" हुजरा कहा जाता था। जब हम दिन के उजाले के बाद उस अर्द्धअंधकार में डूबी बड़ी गुफ़ा में घुसते, तो लगता जैसे भूत-प्रेत भागकर कोनों में दुबक गये हैं। उसमें खिड़कियां नहीं थीं। सिल-खड़ी की एक जाली मीर-ए-अरब मदरसे की मसजिद के विशाल गुम्बद की ओर खुलती थी। उस जाली में झांककर देखने पर और अधिक भय लगता था, मानो किसी अज्ञात, रहस्यमय, अबोधगम्य संसार में, किसी अन्य सृष्टि में झांक रहे हों।

मेहराब के शिखर में एक तंग-सी झिरी बनी थी, जिसमें से खुले दिनों ठीक दोपहर के समय फ़र्श पर एक प्याले जितने बड़े हिस्से में धूप आती थी। अंधेरे फ़र्श पर यह चमकता गोला हुजरे में छाये शाश्वत झुटपुटे में किसी विशालकाय हिंस्र पशु की आंख जैसा लगता था, जो अपने शिकार को घूर रही हो।

उस हुजरे में मेरी ज़िंदगी बहुत ही एकरस ढंग से बीत रही थी। सुबह और शाम – गांव से साथ लायी सूखी रोटी और चाय। दोपहर में एक बजे के क़रीब भाई साहब कोई गरम चीज़ पकाते थे। वह भी बहुत रूखा-सूखा और उबाऊ होता था: चावल, पानी डालकर पकाया कोई दलिया या मूंग की दाल, जिसे कभी-कभी चावल के साथ मिलाकर पकाते थे, या फिर रसेदार प्याज़, जो सूखी रोटी के साथ बहुत स्वादिष्ट लगता था।

भाई साहब घर के सारे काम करते थे – खाना पकाना, हुजरे की सफ़ाई करना, कपड़े-लत्ते धोना वग़ैरह। मैं उनकी, जितना मुझसे हो पाता था मदद करता था। लेकिन सईद अकबर ख़्वाजा मेहमान की तरह रहते थे। वह दिन भर सन्दाल के पास बैठे पैर तापते हुए पाठ तैयार करते या लिखते रहते थे और बीच-बीच में बड़ी उतावली से पूछते रहते थे:

"खाना तैयार होने में और कितनी देर है?"

या:

"ज़रा चाय बना देना, थोड़ी तेज़!"

भाई साहब उन्हें हमेशा नम्रतापूर्वक उत्तर देते थे, पर मैं मन-ही-मन उनकी नरमाई और दब्बूपन को अनुचित मानकर खीजता रहता था।

मैं मीर-ए-अरब मदरसे के तालिब-इल्मों के जीवन का अभ्यस्त हो गया।

कई शताब्दियों पूर्व निर्मित मीर-ए-अरब मदरसे की विशाल इमारत मुख्यतः दोमंज़िला थी। पहली और दूसरी मंज़िल के सभी हुजरों में ड्योढ़ियां थीं। कोनों की मीनारों में हुजरे चार मंज़िलों पर बने थे, जबकि अंदरवाले कोनों में केवल तीन मंज़िलों पर। दूसरी मंज़िल पर रहनेवाले तीसरी मंज़िल के हुजरों को "झूलते" हुजरे कहते थे। पहली मंज़िल के सभी हुजरों में केवल एक किवाड़ था, जबकि दूसरी और चौथी मंज़िल के हुजरों में दो थे – एक प्रवेश के लिए, दूसरा छोटा, जो खिड़की का काम देता था और गली की ओर खुलता था। हमारे हुजरे में इस छोटे किवाड़ के बजाय सिल-खड़ी की जाली बनी थी, जो मसजिद के अंदर की ओर, लगभग उसके गुम्बद के नीचे खुलती थी।

उत्तर और दक्षिण की ओर ऊंचे पत्थर के गलियारे बने थे। लेकिन निर्माताओं ने उनमें भी इतने छोटे और नीचे हुजरे बना दिये थे कि उनमें कोई खड़ा नहीं रह सकता था, केवल बैठा या लेटा रह सकता था। बनानेवालों ने यह समझते हुए कि ठोस मेहराबों के नीचे छोटे-छोटे किवाड़ अच्छे नहीं लगेंगे उन्हें फाटकों की तरह चौड़ा और ऊंचा बनाया था।

मदरसे के अधिकांश विद्यार्थी बहुत ही निर्धन थे। सर्दियों में लगभग सभी पतले चोग़े और नंगे पैरों पर रबड़ के जूते पहने घूमते थे। छोटी कक्षाओं के तालिब-इल्म हर मौसम में – गर्मी हो, बरसात हो, बर्फ़ गिरती हो – पक्के, खुले अहाते में शाम को बैठकर अपने पाठ तैयार करते थे। बड़ी कक्षाओं के तालिब-इल्म अंदरूनी गलियारों में बैठकर पढ़ाई किया करते थे।

बड़े तालिब-इल्मों के पास जो मुदर्रिस का ख़िताब पा चुके होते थे, कुछ ख़रीदे हुए हुजरे होते थे और वे बहुत आत्मसन्तुष्ट और घमंडी हो जाते थे। जब भी उनमें से कोई वहां से चला जाता था, तो कोई

उसे अच्छा कहकर याद नहीं करता था, हालांकि उसके सामने उसका पूरा आदर-सम्मान किया जाता था...

हम अपने "भुतहा" हुजरे में ज़्यादा दिन नहीं रहे।

उस हुजरे का मालिक एक सूदख़ोर था। वह भाई साहब से मांग करता था कि वह उसे अच्छा खाना बनाकर खिलाया करें।

शिक्षा-वर्ष के आरम्भ में, जब तक भाई साहब और सईद अकबर के पास गांव से लाया चावल और तेल रहा, वे सूदख़ोर को दो बार खाना खिला चुके थे। लेकिन मेरे आने तक उनका यह भण्डार ख़त्म होने लगा था और बचे-खुचे चावल से उन्होंने "शाही पुलाव" पका लिया था। अब वे हुजरे के मालिक को दावत देने की स्थिति में नहीं रहे थे। और एक ठण्डे, बर्फ़ीले दिन सूदख़ोर ने उनसे हुजरा ख़ाली करने को कह दिया।

तीन दिन तक तलाश करने के बाद अन्त में उन्हें बाज़ार ख़्वाजा मोहल्ले में एक ख़ाली कमरा मिल गया।

यह ऊपरी मंज़िल का कमरा "बालाख़ाना" था, जो एक परचूनिये की दुकान पर बना था। परचूनिया ने मदरसे के बेघर विद्यार्थियों पर दया करके उसे उन्हें मुफ़्त रहने को दे देता था। बालाख़ाने की हालत इतनी ख़राब थी कि उसमें पिछले एक साल से कोई नहीं रह रहा था।

हम ठिकाना बदलने की तैयारियां करने लगे।

हमारा बालाख़ाना हालांकि मीर-ए-अरब मदरसे से लगभग एक किलोमीटर दूर था, फिर भी हम बड़ी आसानी से अपना सारा सामान – दरियां, बरतन और किताबें – एक बार में ही वहां उठा ले गये। भाई साहब तेल से भरा मिट्टी का बरतन और बची-खुची लकड़ी पीठ पर ढोकर पहुंचा आये। हमारे पास कोई आधा बोरी कोयला और बचा था।

लेकिन बोरी हमारे पास थी नहीं और न कोयला भरकर ले जाने के लिए कोई और चीज़ ही थी।

बहुत सोच-विचार के बाद भाई साहब ने कोयले को मिट्टी के घड़े में भरकर ले जाने की ठानी। मुझे उनका यह निर्णय अत्यन्त बुद्धि-मत्तापूर्ण लगा। हमने उसी समय घड़े का पानी उलटकर उसमें कोयला भर दिया।

हमने बड़ी मुश्किल से बहुत बड़ा, भारी घड़ा सीढ़ियों से नीचे उतारा। नीचे भाई साहब ने उसे अपनी पीठ पर लादा। मैंने हाथ में समोवार उठाया, जबकि सईद अकबर ख़्वाजा बहुत शान से अपनी बग़ल में एक किताब दबाकर चल पड़े।

हम इतना भारी बोझ लादकर बाज़ार से नहीं निकल सकते थे, इसलिए लम्बा चक्कर काटकर गलियों में से गुज़रे। बर्फ़ गिर रही थी। ऊबड़-खाबड़ चिकनी मिट्टी के रास्ते पर पैर फिसल रहे थे।

जब हम मोचियों के मोहल्ले में पहुंचे, तो भाई साहब का पैर फिसल गया और वह गिर पड़े। घड़ा तड़ककर टुकड़े-टुकड़े हो गया, कोयला बिखर गया। भाई साहब ने एक दीवार के पास खड़े होकर अपने चोग़े की आस्तीन से बर्फ़ और मिट्टी पोंछी और हम दोनों बिखरे हुए कोयले को उठा-उठाकर दीवार के सहारे जमा करने लगे।

सईद अकबर ख़्वाजा दीवार से पीठ टिकाये खड़े हमारे काम को देखते रहे और वितृष्णा से अपने चोग़े से कोयले की धूल झाड़ते रहे।

उनको ऐसा करते देख भाई साहब का गुस्सा भड़क उठा। वह बिना कुछ बोले लपककर उनके पास पहुंचे और उन्हें बर्फ़ पर गिरा, सीने पर सवार हो, पीटते हुए चिल्ला-चिल्लाकर बोलने लगे :

"जो ख़ुद काम नहीं करता और उसे दूसरों पर टालकर अकड़ता है, शेख़ी बघारता है, उसे यही सज़ा मिलनी चाहिए!"

इस तरह सईद अकबर ख़्वाजा को मैंने दूसरी बार चारों खाने चित पड़े देखा।

भाई साहब 'परवरदिगार ख़्वाजा' की छाती पर से उतरे कि वह अपने चोग़े की बर्फ़ व मिट्टी साफ़ किये बिना ही सिर पर पैर रखकर भाग छूटे। यदि अब तक मैं भाई साहब की नरमाई और धैर्य पर आश्चर्य करता रहा था, तो अब मुझे उनके आवेश में किये न्यायपूर्ण व्यवहार पर और भी अधिक आश्चर्य हुआ। अब जाकर यह अरबी कहावत ठीक से मेरी समझ में आयी: "ख़ुदा बचाये नर्म-स्वभाव के इनसान के तैश से।"

अब मैंने भाई साहब को पहली बार वह क़िस्सा सुनाया कि किस प्रकार एक पागल की ज़ंजीर खोल, मैंने उसे 'परवरदिगार ख़्वाजा' पर छोड़कर उनसे अपना बदला लिया था।

मेरा क़िस्सा सुनकर भाई साहब हंस पड़े:

"तुमने बहुत शाबाशी का काम किया। लेकिन अब्बा को यह बात कभी न बताना, वरना वह बहुत नाराज़ होंगे।"

"नहीं, कभी नहीं। मैंने सिर्फ़ आपको यह बात बतायी है। और किसी को कभी नहीं बताऊंगा।"

हमारे नये ठिकाने में जीना बहुत मुश्किल था।

बालाख़ाना परचूनिये की दुकान के ऊपर बना हुआ था। उसकी पतले-पतले तख़्तों की दीवार सीधी गली की तरफ़ थी। उसमें प्रकाश केवल दरवाज़े में से होकर आता था। और अब जाड़े में उसमें से प्रकाश के स्थान पर ठण्ड अधिक घुस आती थी। कमरे को गरम रख पाना पूर्णतः असम्भव था। हम सन्दाल के पास बैठकर अपने पैर तापते रहते थे, जबकि हमारा बाक़ी सारा बदन कड़ाके की ठण्ड से कांपता रहता था। दो दिनों में ही हमारे दोनों घड़ों में रखा पानी जम जाने से वे तड़क

गये। हमें हौज़ से लाया हुआ सारा पानी एक ही बार में इस्तेमाल करके बाक़ी बचा बाहर गिरा देना पड़ता था। उस कमरे में हाथ-मुंह धोने तक की जगह नहीं थी, हमें बरतन में पानी लेकर बाहर भागना पड़ता था।

हमारे पास अभी कुछ मूंग की दाल बची थी, लेकिन तेल ख़त्म हो चुका था। सो हमें अपने परचूनिये मकान-मालिक से आठ पूल* का पांच मिसक़ाल** बिनौले का तेल ख़रीदना पड़ा। वह दो-तीन दिन चल पाया। परचूनिया तेल तूंबी से नापता था। उसने हालांकि बालाख़ाना हमें ख़ुदा के नाम पर, मुफ़्त रहने के लिए दिया था, पर तेल नापते समय वह हमेशा कम देता था। यदि संयोगवश कभी तूंबी पूरी भर जाती, तो उसे वह हमारे बरतन के पास इस तरह से लाता और उसका हाथ इस दौरान इतनी बुरी तरह कांपता कि कुछ तेल वापस उसकी परात में गिर जाता।

एक रात, जब बहुत ही कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी, हम रात को रहने के लिए अपने मामा मुल्ला देहक़ान के पास उनकी कोठरी में चले गये।

सुबह परचूनिया हमसे बोला:

"बालाख़ाना रात को कभी सूना नहीं छोड़िये, वरना चोर घुस आयेंगे और छत को फोड़कर मेरी दुकान का सारा माल चुरा ले जायेंगे।"

अब परचूनिये की उस ख़ैरात का कारण हमारी समझ में अच्छी तरह आ गया।

मैं अपनी इस यात्रा के दौरान बुख़ारा ना के बराबर ही देख

---

* पूल – एक चौथाई कोपेक के बराबर सिक्का।

** मिसक़ाल – लगभग २५ ग्राम के बराबर।

पाया – शहर न जानने के कारण मैं अकेला जा नहीं सकता था, जबकि भाई साहब को अपनी पढ़ाई करनी होती थी। मैंने केवल रेगिस्तान चौक और मसजिद बाला-हौज़ देखे।

छुट्टी के दिन भाई साहब और मैं किताबों के बाज़ार में जाया करते थे। लेकिन रास्ते में हमें केवल एक दूसरे को रास्ता देने, मुड़ने, अपनी गाड़ी पीछे हटाने या आगे बढ़ाने जैसे मामलों को लेकर झगड़ते गाड़ीवान ही देखने को मिलते थे।

मुझे केवल एक ही बात का सन्तोष था कि मैं अपने मामा मुल्ला देहक़ान के परिवार में जाता-आता रहता था। उन्होंने बुख़ारा में शादी की थी और ससुराल में ही रहते थे। लेकिन उस घर में मेहमानों के लिए बैठक नहीं थी, इसलिए उन्होंने हमारे यहां से थोड़े फ़ासले पर, फ़तहउल्ला क़ुशबेगी मसजिद में एक हुजरा ढूंढ़ लिया था और उसमें लड़कों को पढ़ाया करते थे।

मेरे मामा को पढ़ाते हुए अधिक समय नहीं हुआ था और अभी उनके छात्रों की संख्या काफ़ी कम थी। वह एक-साथ केवल चार-पांच लड़कों को पढ़ाया करते थे। वह 'काफ़िया' यानी अरबी भाषा के वाक्य-विन्यास और 'शमसिया' यानी तर्कशास्त्र की शिक्षा देते थे। पाठ के दौरान उनके तालिब-इल्म आपस में ज़ोर-ज़ोर से बहस किया करते थे। मेरी समझ में नहीं आता था कि वे मामा के पास क्यों आते हैं: पढ़ने या आपस में बहस करने।

मुझे लगता था कि हमारे गांव के मुल्ला हमारे मामा से कहीं ज़्यादा अच्छे ढंग से पढ़ाया करते थे। मुल्ला मन्द स्वर में पाठ पढ़ा करते थे और उनके तालिब-इल्म शान्ति से बैठे सुनते रहते थे। तब हममें से अधिकांश हालांकि कुछ भी नहीं समझ पाते थे, फिर भी हमें कुछ तो समझ पाने का अवसर मिलता था। यहां तो तालिब-इल्म भी आपस में चिल्ला-चिल्लाकर बहस करते रहते थे, मामा उनकी आवाज़ों

को दबाने के लिए और भी ज़ोर से चिल्लाते रहते थे। मुझे लगता कि इतने शोर में कोई कुछ नहीं सीख सकता।

हमें छोड़कर भाग जाने के बाद सईद अकबर ख़्वाजा ने बुख़ारा के आख़ुन्द* आरिफ़ ख़ां के यहां नौकरी कर ली।

भाई साहब के साथ हुए उनके झगड़े को भूल जाने के बाद वह हमारे पास आये और उन्होंने अपनी नौकरी के बारे में बताया।

आख़ुन्द जहां भी जाता, चाहे दावत में, चाहे किसी से मिलने, चाहे किसी के जनाज़े में, 'परवरदिगार ख़्वाजा' उसकी रकाब पर उसके साईस के साथ-साथ चलते।

जब वे अपने गंतव्य पर पहुंचते, तो साईस आख़ुन्द से घोड़ा लेकर उस पर सवार होकर मालिक का इंतज़ार करने लगता। जबकि सईद अकबर ख़्वाजा अपने मालिक के संग उसके घर के दरवाज़े तक जाते, आख़ुन्द जब जूते उतारता, 'परवरदिगार ख़्वाजा' उनकी धूल और कीचड़ झाड़-पोंछकर उन्हें अपनी बग़ल में दबा लेते।

जब आख़ुन्द वापस बाहर आता, तो 'परवरदिगार ख़्वाजा' उसे जूते पहनाते, गृहस्वामी द्वारा उसे दिये गये उपहार संभालते और फिर मालिक की रकाब पर, साईस के साथ-साथ चलकर उसके घर तक जाते।

सईद अकबर ख़्वाजा के कथनानुसार उनका काम बहुत मुश्किल और दौड़-भाग का था, फिर भी उनकी ज़िंदगी अच्छी कट रही थी। वह आख़ुन्द के घर के एक गरम और रोशनीदार कमरे में सोते थे। रोज़ सुबह दूधवाली चाय पीते थे, रोज़ पुलाव खाते थे।

"आप तो हमेशा अपने आप को बहुत ऊंचा समझते थे, अपना

---

* आख़ुन्द – इसलामी पूजा-विधान तथा शरीअत के विशेषज्ञ।

बिस्तर लगाने तक में अपनी हेठी समझते थे। फिर आप ऐसे जीहुज़ूर कैसे बन गये?" भाई साहब ने पूछा।

"जिस आदमी की नौकरी करने को मैं तैयार हुआ हूं, वह मेरे ख़ानदान के बराबर का है। उसका ज्ञान भी मुझसे अधिक है, इसलिए उसकी सेवा-टहल करने में मुझे शर्म नहीं महसूस होती। जबकि अधिकतर लोग, जिनके सामने मैं, आपकी राय में, इतनी शान बघारता था, मुझसे नीचे दर्जे के ख़ानदानों से थे। और अगर कुछ पैदाइश से मेरे बराबर के भी थे, तो भी वे मुझसे कम पढ़े-लिखे थे। इस तरह मेरे पास उनको अपने से नीचा समझने के सभी कारण थे।"

हम परचून की दुकान के ऊपरवाले बालाख़ाने में और कुछ दिन रहने की हालत में नहीं रह गये थे, इसलिए शिक्षा-वर्ष की समाप्ति की प्रतीक्षा किये बिना ही हम दोनों गांव में अपने घर चले गये।

भाई साहब ने मुझे घर पर छोड़ दिया और कुछ दिन आराम करके वापस बुख़ारा लौट गये।

अब्बा को अपने बुख़ारा के अनुभवों के बारे में बताते समय मैंने उन्हें सईद अकबर ख़्वाजा के अक्खड़पन के बारे में भी बताया। अब्बा हंस पड़े और फिर कुछ क्षण सोच में डूबे रहकर बोले:

"असली मर्द कभी अपने बाप के नाम की दुहाई नहीं देता!"

यह बड़े खेद की बात है कि सभी लोग इस विद्वत्तापूर्ण कथन को नहीं समझते और न ही सब उस पर अमल करते हैं।

खेतीबारी

मैंने मदरसों के तालिब-इल्मों के जीवन का परिचय प्राप्त किया, हालांकि मैंने उसे अधिक समय नहीं देखा। अब हमारे घर में मुझे शिक्षा-प्राप्ति के लिए बुख़ारा भेजे जाने की समस्या उठ खड़ी हुई।

लेकिन अब्बा के लिए बुख़ारा के मदरसे में दो बेटों का जीवन-यापन और पढ़ाई का ख़र्च उठाना बहुत मुश्किल था। उन्होंने मुझे अपनी शिक्षा और जीवन-यापन के ख़र्च के लिए स्वयं पैसा कमाने की सलाह दी।

हमारे अहाते में ज़मीन का एक छोटा-सा टुकड़ा ख़ाली पड़ा था, जिसमें अब्बा ने ख़ूबानी के पेड़ लगा रखे थे। उन पेड़ों पर अब तक तीन बार फूल आ चुके थे, इसलिए वहां बैलों से जोताई करना अनुचित होता, क्योंकि उससे ख़ूबानियों के टूटने और उन्हें नुक़सान पहुंचने का डर था।

अब्बा ने मुझे वह ज़मीन खोदकर उसमें कुछ बोने की सलाह दी और कहा कि उसमें जो कुछ पैदा होगा, वह मेरी पढ़ाई पर ख़र्च किया जायेगा।

उन्होंने मुझे एक कुदाली ख़रीद दी और मैं काम में जुट गया। मैंने मिट्टी तीन बार खोदी, ताकि तीन कुदालियों जितनी गहराई तक मिट्टी भुरभुरी और मुलायम हो जाये।

फिर मैं सोचने लगा कि ज़मीन पर हेंगा किस तरह फेरूं। इसके लिए मैंने एक पुराना किवाड़ इस्तेमाल करने की ठानी। लेकिन मेरे हेंगे में दांते तो थे नहीं, इसलिए शुरू में मुझे ढेले कुदाली से तोड़ने पड़े। इसके बाद ही किवाड़ हेंगे की तरह काम में लाया जा सका।

हमीद ख़्वाजा और इकराम ख़्वाजा उस 'हेंगे' को बैलों की तरह खींचने को तैयार हो गये। लेकिन किवाड़ को, जिस पर वज़न के लिए मैं ख़ुद बैठा रहता था, दो-तीन बार खींचने के बाद, उन्होंने और खींचने से इनकार कर दिया।

फिर मैंने दूसरी तरकीब खोज निकाली।

मैंने अपने कुत्ते ख़ैबर को "हेंगे" में जोत दिया और होशियार कुत्ता दो-तीन चक्कर लगाने के बाद जल्दी ही अपना काम समझ गया।

कुछ ही समय में वह मेरे संकेत पर, किसी अनुभवी बूढ़े बैल की तरह, चलने, रुकने और मुड़ने लगा।

हेंगा फेर लेने के बाद मैंने मिट्टी में लीद और पुरानी मिट्टी मिलायी, ज़मीन को एक बार और खोदा, और ज़मीन बोवाई के लिए तैयार हो गयी।

"मुझे क्या बोना चाहिए?" मैंने अब्बा से पूछा।

"लोग कहते हैं: 'ख़ाली बैठे कद्दू ही बो डालो', लेकिन मैं यही कहूंगा: 'शुरूआत के लिए कद्दू बोओ'। तुम पहली बार खेती कर रहे हो, इसलिए कद्दू ही बोओ। यह आसान रहेगा, ज़्यादा मेहनत नहीं मांगता। 'पुलावकद्दू' क़िस्म अच्छी होती है, उसकी ज़्यादा संभाल नहीं करनी पड़ती और फ़सल अच्छी होती है।"

जब मिट्टी धूप से तप गयी और बीज अच्छी तरह पानी पी चुके, तो अब्बा ने उन्हें मुझे दे दिया। मैंने बोवाई कर दी।

बीजों से अंकुर अच्छे निकल आये। मैंने दो हफ़्तों में पौधों के इर्द-गिर्द तीन बार थाले बना दिये। फिर मिट्टी में पानी छोड़ा। यह काम निबटा लेने के बाद अब्बा ने मुझे बताया कि सिंचाई के लिए नालियां कहां खोदी जायें।

बुख़ारा में बोवाई का तरीक़ा ऐसा था – पहले बोवाई की जाती थी, फिर पूरी ज़मीन को सींचा जाता था और उसके बाद सिंचाई-नालियां खोदी जाती थीं। मैंने अपने ज़मीन के टुकड़े में भी यही तरीक़ा इस्तेमाल किया।

अब्बा ने उस साल अपनी ज़मीन पर बहुत मेहनत की थी। उन्होंने एक तनाब * ज़मीन में कपास बोयी और बाक़ी में ज्वार बोयी। लेकिन

---

* एक तनाब – हेक्टेयर का एक चौथाई हिस्सा।

8-730

कपास सूख गयी, अब्बा की सारी मेहनत पर पानी फिर गया, अब हम सारी आशाएं सिर्फ़ ज्वार से ही बांधे हुए थे।

पतझड़ में अब्बा ने खेत में पानी देकर सारी मिट्टी खोद डाली थी। उन्होंने जाड़े में क़ाव्स (नवम्बर का अन्त और दिसम्बर के पहले बीस दिन) के महीने और उसके चालीस दिन बाद खेत में पानी दे दिया था। वसन्त में उन्होंने ज़मीन एक बार और खोदकर उसमें खाद मिला दी थी। हमारे यहां एक पुरानी, टूटी हुई मिट्टी की दीवार थी, जो कई सालों से धूप में ऐसे ही खड़ी थी। अब्बा ने उसकी मिट्टी ढोकर ज्वार के सारे टुकड़े में फैला दी। मैंने इस काम में उनकी पूरी लगन से मदद की। वह गधे पर दोनों तरफ़ मिट्टी से भरी टोकरियां लादते, जबकि मैं उसे हांककर खेत में ले जाता और मिट्टी उसमें फैला देता।

हमने पड़ोसियों से एक बैल मांगकर खेत की दो बार जोताई की, उस पर हेंगा फेरा और अन्त में बोवाई की। बोवाई के बाद अब्बा ने एक बार और हेंगा फेर दिया।

लेकिन ज्वार के अंकुर एक दूसरे से बहुत दूर-दूर निकले, उनके बीच एक-एक क़दम का फ़ासला था। पड़ोसियों ने अब्बा को दोबारा और ज़रा ज़्यादा घनी बोवाई करने की सलाह दी।

"वरना आपकी बहुत-सी ज़मीन बेकार पड़ी रह जायेगी," उन्होंने कहा।

लेकिन अब्बा उनसे सहमत नहीं हुए:

"बुज़ुर्गों की ज़रा वह कहावत याद कीजिये: 'कपास ऐसी हो कि उसमें कुदाल चलाया जा सके और ज्वार ऐसी कि उसमें से ऊंट निकल सके'।"

जब पौधे थोड़े बड़े हुए, तो हमने उनके इर्द-गिर्द तीन बार थाले बनाये।

जब पौधे धूप में सूखने लगते, तो अब्बा सिंचाई कर देते।

सिंचाई के बाद हर पौधे के दस-बारह वृंत निकले। लेकिन अब्बा ने चार-चार वृंत छोड़कर बाक़ी सब काट डाले।

उन्हें उस साल उस एक तनाब ज़मीन से तीस मन ज्वार मिलने की आशा थी।

महामारी

सन् १३०६ हिजरी (जून-जुलाई १८८९) की गर्मियों में बुख़ारा में हैज़े की महामारी फैल गयी। महामारी की मृत्युदर बहुत भयानक गति से बढ़ने लगी।

मुहीउद्दीन भाई को शहर में हैज़ा हुआ और वह गांव लौट आये। मेरे मामा मुल्ला देहक़ान हैज़े के शिकार हो गये। उनका शव उनके महल्ला-ए-बाला स्थित घर में ले आया गया।

अब्बा को अपनी तबीयत कुछ ख़राब महसूस हुई और वह घर पर भाइयों के साथ रुके रहे, लेकिन मां मुझे साथ लेकर मामा को अलविदा कहने नाना के यहां गयीं।

न जाने मां को नाना के यहां छूत लगी या वह बीमार होकर ही घर से चली थीं, पर भाई की मृत्यु से उन्हें इतना दुख हुआ कि वह ख़ुद भी नाना के यहां बिस्तर में पड़ गयीं।

मैं मां को गधे पर बिठाकर बड़ी मुश्किल से घर लेकर आया।

घर पर मुझे अब्बा और छोटे भाई भी बीमार पड़े मिले।

छोटे-से कमरे में एक क़तार में पांच बीमार लेटे रहते थे।

मैं एक को पानी और दूध देकर, दूसरे के पास जाता, उनकी मक्खियां उड़ाता, अगर वे उठते, तो उन्हें सहारा देता।

एक हफ़्ता बीतते बीतते हमारे गांव के हर घर की हमारी जैसी हालत हो गयी। केवल हमारे गांव में ही नहीं, बल्कि सारे इलाक़े में

शायद ही कोई स्वस्थ बच पाया था। लोग मरने लगे।

सोकतारे में, जिसमें कोई तीन सौ परिवार रहते थे, हर रोज़ एक या दो आदमी दफ़नाये जा रहे थे।

उस समय मैं नहीं जानता था कि हमारा परिवार किस रोग से पीड़ित है। गांव में डाक्टर नहीं होते थे, जबकि सोकतारे में तो न कोई ओझा ही था और न ही कोई जड़ी-बूटी से इलाज करनेवाला...

हमारे घर में अब्बा की हालत सबसे ज़्यादा ख़राब थी। वह लगभग हर समय बेहोश लेटे रहते थे। बस बीच-बीच में पानी मांग लिया करते थे।

एक बार उन्होंने आंखें खोलकर मुझसे पूछा:

"तुमने ज्वार में दूसरी बार पानी दिया?"

"नहीं।"

"पहली बार पानी दिये हुए कितने दिन हुए?"

"दस।"

"ठीक है। अभी पानी देना जल्दबाज़ी होगा!" इतना कहकर उन्होंने आंखें मूंदीं और बेहोश हो गये।

इसके बाद वह यही बात दिन में कई बार पूछते रहे।

पहली सिंचाई को जब बीस दिन हुए, तो उनके इसी सवाल के जवाब में मैंने कहा:

"बीस।"

"अब ज्वार में पानी ज़रूर दे देना। अगर दे सकते हो, तो पानी छोड़ने की कोशिश करो। बिना पानी के पौधे सूख जायेंगे।"

मैं कुदाली उठाकर खेत की तरफ़ चल दिया।

मुझे अपने कुत्ते की समझदारी पर बहुत आश्चर्य हुआ। वह, पहले मैं जहां भी जाता था, मेरे पीछे-पीछे भागने लगता था। लेकिन जब से मैं बीमारों की तीमारदारी करने लगा था, ख़ैबर दरवाज़े से

बिलकुल नहीं हटा था। उस दिन जब मैंने खेत जाने की सोची, तो ख़ैबर ने बीमारों पर नज़र दौड़ाकर सिर देहलीज़ पर रख दिया, मानो उसने मेरी जगह लेने की सोच ली हो।

उस साल पानी बहुत था। तिस पर अधिकतर किसान बीमार पड़े थे, वे सिंचाई करने की हालत में नहीं थे।

मैंने काफ़ी आसानी से बड़ी नहर को खोलकर अपने खेत में पानी छोड़ दिया और बीमारों के पास लौट आया।

एक घंटे बाद अब्बा ने आंखें खोलीं और मुझसे पूछा :

"पानी दे दिया ?"

"जी।"

"शाबाश !" उन्होंने आंखें मूंदते हुए प्रशंसापूर्ण स्वर में कहा।

चाचा उस्ताद ख़्वाजा जो ख़ुद भी बीमार थे और अपने सारे परिवार के बीमार पड़े होने के बावजूद अब्बा को देखने और मेरी हिम्मत बंधाने आये :

"तुम्हारे अब्बा ज़रूर ठीक हो जायेंगे। बस उन्हें चार ठण्डे पसीने आने चाहिए।"

चालीसवें दिन अब्बा को पसीना आया और वह होश में आ गये। वह बिना मूर्च्छित हुए शान्ति से लेटे रहे।

सातवें दिन उस्ताद ख़्वाजा हमारे यहां आये और अब्बा पर नज़र डालकर मुझसे बोले :

"अगर इनकी हालत बिगड़े, तो मुझे फ़ौरन बुला भेजना।"

"मुझे मालूम कैसे होगा कि इनकी हालत बिगड़ रही है या सुधर रही है ?" मैंने डबडबाती आंखों से पूछा।

"तुम रोओ मत। मर्द की तरह रहो। अपने अब्बा के लायक़ बेटे बनो। इनकी हालत बहुत ख़राब है। वह शान्ति से इस लिए लेटे रहते हैं, ताकि तुम लोग समय से पहले डर न जाओ। देखो, इन्हें घबराने

मत देना! जब इनकी सांस भारी चलने लगे, गला घरघराने लगे, तो इसका मतलब होगा कि इनकी हालत बिगड़ रही है। तब मुझे बुला लेना... अच्छा, अब मैं चलता हूं, तुम्हारी ख़ाला भी सख़्त बीमार हैं।"

रात आयी। मैंने चिराग़ जला दिया। मेरे अलावा सभी सोये हुए थे। आधी रात होने तक अचानक अब्बा की सांस भारी चलने लगी और उनका गला घरघराने लगा।

मैंने चाचा को बुलाया।

उन्होंने रूई का फाहा पानी में भिगोकर अब्बा के मुंह में कुछ बूंदें टपका दीं।

अब्बा ने आंखें खोलीं। उन्होंने पहले मुझ पर नज़र डाली, फिर चाचा पर:

"एक चम्मच पानी और दो।"

चाचा ने उनके मुंह में दो चम्मच पानी डाल दिया।

"बस!" अब्बा ने कहा और मेरी ओर मुंह किया। "पढ़ो! कितनी ही मुश्किलें क्यों न आयें, पढ़ते रहो!"

उन्होंने आंखें मूंद लीं।

कुछ ही मिनटों में उनकी सांस घरघराहट के कारण रुकने लगी। उस्ताद ख़्वाजा ने फिर रूई के फाहे से पानी की बूंदें अब्बा के मुंह में टपकायीं।

अब्बा ने उठ बैठने की कोशिश की और मेरी ओर देखा, लेकिन फिर ढुलक गये। उनके हाथ कांपे और वह लम्बे लेट गये।

चाचा ने मृत की ठोढ़ी और पैरों की उंगलियां बांध दीं, आंखें बंद कीं और मुझसे बोले:

"मैं जाकर अब अपने बीमारों को देख आऊं। अभी लौटकर आता हूं। तुम अकेले डरोगे तो नहीं?"

"भला कोई अपने सगे बाप से डर सकता है!"

"शाबाश, शेर-बच्चे!" चाचा ने मेरी तारीफ़ की।

सौर संवत के अनुसार मेरे अब्बा उस समय सत्तावन वर्ष के थे।

कुछ समय बाद चाचा लौट आये।

जब वह दूसरी बार आये, तो मां और भाई साहब समझ गये कि अब्बा अब नहीं रहे। छोटे भाइयों को इसका पता केवल सुबह ही चला।

हमारे पड़ोस के गांव में युल्दाशबाय नाम का एक सौदागर रहता था, जो कज़ालिंस्क, आक़-मेचेत, आरेनबुर्ग, क़ज़ाखी स्तेपी और बाशक़ीरिया के शहरों में किशमिश, सूखी ख़ूबानी, हथकरघे के कपड़े के चोग़े और ग़िजदुवानी सूती कपड़े ले जाकर बेचा करता था। वहां से वह रूस की बनी वस्तुएं लेकर आता था।

जब लोग संक्रामक रोगों से मरने लगे, तो उसने कफ़न की बिक्री करना शुरू कर दिया। उसके कथनानुसार उसने कफ़न का व्यापार केवल परोपकार और लोगों की सहायता करने की इच्छा से ही आरम्भ किया था। अपनी उस परोपकारिता का श्रेय लेने के लिए ही उसने मुझे एक सौ तंगा उधार दिये, जो अब्बा को दफ़नाने के ख़र्च के लिए चाहिए थे।

उस्ताद ख़्वाजा ने कहा कि यह सब सामान हम तीस तंगा कम में और कहीं से भी ख़रीद सकते थे, यदि हमारे पास नक़द पैसा होता।

मुझे ख़र्च के लिए बीस तंगा और चाहिए थे। परोपकारी मुझे इस शर्त पर बीस तंगा देने को तैयार हुआ कि मैं उसको पच्चीस तंगा लौटाऊंगा।

मातम शुरू होने के आरम्भ के दिनों में ही हमारी गाय भी अचानक बीमार हो गयी और मर गयी, न जाने मेरे अनाड़ीपन के कारण या

किसी और कारण।

मां बोलीं:

"हम पर आनेवाली सारी बलायें, ख़ुदा करे, इस गाय पर पड़ें। अगर यह कुछ पहले मरी होती, तो शायद तुम्हारे अब्बा ठीक हो जाते। अब हमें तुम्हारे और तुम्हारे भाइयों के नाम पर बछड़े की क़ुरबानी देनी चाहिए।"

उन्होंने मुझसे कहा कि मैं बछड़े को ले जाकर ख़ैरात में ख़्वाजा ख़ां को दे आऊं, जो एक अपंग, लूले, लंगड़े फ़क़ीर थे।

मैं बछड़ा लेकर उनके पास गया, पर ख़्वाजा ख़ां ने स्पष्ट शब्दों में उसे लेने से इनकार कर दिया:

"अब तो मुझसे ज़्यादा इसकी ज़रूरत तुम लोगों को है। मैं तो ख़ैरात पर गुज़र-बसर कर लेता हूं। लेकिन तुम लोग तो ख़ैरात पर जीने के आदी नहीं हो। और कोई नहीं जानता कि आगे तुम लोगों की ज़िंदगी कैसे कटेगी।"

लेकिन मां ने बछड़े को दोबारा उनके पास, उसे हमारे स्वास्थ्य के नाम पर स्वीकार करने की विनती के साथ भेजा। इस बार मैंने ख़्वाजा ख़ां को किसी तरह मां की विनती स्वीकार करने को मना ही लिया।

बुज़ुर्गों का कहना था कि मेरे भाइयों को मौत का अब कोई ख़तरा नहीं रहा, पर मां दिन पर दिन कमज़ोर होती जा रही थीं।

भाइयों का स्वास्थ्य पहले से कुछ बेहतर था, उन्होंने खाना खाना शुरू कर दिया था।

मैंने ज्वार में समय पर पानी दे दिया था, लेकिन चिड़ियों से मैं उसकी रक्षा नहीं कर पा रहा था। ज्वार के पकने की देर थी कि गौरैयों के झुण्ड के झुण्ड उस पर टूट पड़ने लगे। कुछ गुच्छों पर तो उन्होंने एक भी दाना न छोड़ा। लेकिन स्वस्थ गुच्छे भरे-भरे रहे।

गौरैयों के हमले इतने विनाशकारी नहीं होते थे, जितने कि काले कौवों के। सोकतारे में वे बहुत बड़ी संख्या में मौजूद थे। एक गौरैया दस-बारह दाने चुनकर तृप्त व सन्तुष्ट हो उड़ जाती। लेकिन कौवे गुच्छों पर बुरी तरह टूट पड़ते थे और उनका पेट किसी तरह भरता ही नहीं था। मुझे डर था कि हमारी सारी ज्वार बरबाद हो जायेगी और उसके साथ-साथ हम भी। अब्बा को दफ़नाने के लिए लिया गया क़र्ज़ चुकाने की आशा और हमारी जाड़े की ख़ुराक—सब कुछ केवल ज्वार पर निर्भर करता था। घर में हमारे पास थोड़ा बहुत आटा था, लेकिन वह एक महीने से ज़्यादा किसी तरह नहीं चलता। हमें हर क़ीमत पर ज्वार की रक्षा करनी थी। लेकिन आख़िर मैं बीमार मां को लाचार छोड़कर खेत में चिड़ियां उड़ाने तो जा नहीं सकता था।

उन्हीं दिनों मेरे एक मामा अली ख़ां, अपने एक गांववाले के साथ, हमारा हाल-चाल पूछने आये। उन्होंने बताया कि मामा मुल्ला देहक़ान को दफ़नाने के बाद उनके घर में सभी बीमार पड़े हैं—नाना, नानी और बाक़ी सब घरवाले भी। उनकी पत्नी और उनकी सभी भाभियां भी मर गयीं। वह ख़ुद भी सख़्त बीमार रहे थे। अब अपनी तबीयत ठीक होने पर नाना और नानी ने उन्हें हमारा हाल लेने भेजा है।

मां की चिन्ताजनक हालत देखकर मामा अली ख़ां ने उन्हें अपने घर, महल्ला-ए-बाला ले जाने का फ़ैसला किया।

"हमारे मां-बाप अभी जीवित और स्वस्थ हैं, जबकि यहां तुम अकेले हो, फिर छोटे भी हो, तुम्हारे लिए भाइयों की संभाल कर पाना भी मुश्किल होगा।"

हम इसके लिए तैयार हो गये।

मामा अली ख़ां ने दो डण्डों की सहायता से एक स्ट्रेचर बनाई, उसे दो गधों पर बांधा और स्ट्रेचर पर रज़ाई डालकर उस पर मां को लिटा दिया। मां को उन्होंने कढ़ा हुआ एक परदा ओढ़ा दिया और

उन्हें अपने गांव ले चले।

मैं नहीं जानता कि मां से विदा लेते समय मेरे भाई क्या सोच रहे थे, पर मेरा दिल टुकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा था। मैं केवल इसलिए अपने मुंह से कोई आवाज़ नहीं निकलने दे रहा था कि उससे कहीं बीमार निराश न हो जायें।

मैंने मां की आंखों में झांककर देखा। उनकी मृतप्राय आंखों से आंसू निकलकर उनके सूखे, पीले पड़े चेहरे पर ढुलक रहे थे।

गधों के चलते ही मां ने मुझे आशीर्वाद दिया।

"हज़ार साल जिओ, बेटे!"

वे पेड़ों के नीचे से निकलकर मुड़े और आंखों से ओझल हो गये।

मैं मन-ही-मन अपने आप को तसल्ली दिलाता रहा: 'नहीं, मेरे अब्बा और अम्मी का साया एक साथ मेरे सिर पर से नहीं उठ सकता। वह ज़रूर लौट आयेंगी!'

लेकिन दुःख के आंसुओं के कारण मेरी आंखें जल रही थीं।

अब मैं अपना अधिकांश समय खेत में बिताता था। घर मैं केवल पानी उबालने, खाना पकाने और उसे बीमारों को खिलाने के लिए ही जाता था।

शाम को, जब बिलकुल अंधेरा हो जाता, मैं घर लौटकर सो जाता। सुबह पौ फटने से पहले ही मैं फिर खेत रवाना हो जाता। वहां चिड़ियां एक जगह से उड़ाये जाने के बाद दूसरी जगह जा बैठतीं और ज्वार के मोती-से दाने चुगने लगतीं। चिड़ियां मेरी गुलेल से उन पर होनेवाली ढेलों व पत्थरों की बौछार की बिलकुल परवाह नहीं करतीं। लेकिन इस काम में चाचा उस्ताद ख़्वाजा के बेटे इकराम ख़्वाजा ने मेरी बहुत मदद की।

उसने मुझसे आदमी के हाथ जितना मोटा और एक हाथ लम्बा लकड़ी का एक टुकड़ा काटने को कहा। फिर उसने उसे गोल करके

रंदा फेरा, बरमे से उसके एक सिरे से लगभग दूसरे सिरे तक छेद किया, लेकिन आर-पार नहीं होने दिया, बल्कि एक तरफ़ से उसमें एक और छोटा-सा छेद किया और उसको लकड़ी की 'बन्दूक़' नाम दिया।

उन दिनों हमारे गांव में अपनी पुरानी 'बन्दूक़ें' लेकर पहाड़ों में शिकार करनेवाले बहुत-से शिकारी थे। बारूद भी वे ख़ुद ही तैयार करते थे। इकराम ख़्वाजा ने एक शिकारी से थोड़ी बारूद मांग ली। उसने लकड़ी की नहीं में बारूद भरकर ऊपर से रूई ठूंस दी और उसे चिड़ियों की तरफ़ करके निचले छेद में पलीता लगा दिया।

जैसे ही आग की लपट बारूद तक पहुंची, धमाका हुआ और नली के टुकड़े-टुकड़े हो गये। समझ में नहीं आता कि मैं और वह कैसे सही-सलामत रह गये।

लेकिन बारूद की बू के कारण चिड़ियां उड़ गयीं और एक घंटे तक नज़र नहीं आयीं।

इकराम ख़्वाजा ने पहली लकड़ी से भी एक ज़्यादा मोटी लकड़ी लेकर फिर 'बन्दूक़' बनायी। लेकिन इस बार उसने उसमें बारूद पहले से कम भरी। उसे दाग़ने पर नली फटी नहीं, लेकिन चिड़ियां डरकर उड़ गयीं।

वे लौटकर आतीं, तो हम फिर 'बन्दूक़' दाग़ देते।

इस प्रकार हम ज्वार की फ़सल की रक्षा करने में सफल रहे।

अगले दिन इकराम ख़्वाजा ने एक शिकारी से थोड़ा सीसा मांगकर उसके छर्रे बना लिये। वैसे उसके छर्रे शिकारी के छर्रों से छोटे बने और बाजरे के दानों जैसे लगते थे। फिर भी उन छर्रों और लाठी की बन्दूक़ की मदद से इकराम ख़्वाजा गौरैयों और जंगली कबूतरों को मारते रहे। जंगली कबूतरों को हम अलाव में भूनकर वहीं खेत में खा लेते थे। एक बार उसने चार जंगली कबूतर मारे। मैंने उन्हें वहीं

भून लिया और दो अपने बीमार भाइयों को दे आया।

ज्वार के गुच्छे सफ़ेद होकर लगभग पूरे पक चुके थे। उन दिनों चाचा उस्ताद ख़्वाजा, जो मेरे अब्बा की मौत के बाद ख़ुद बिस्तर पर पड़ गये थे, ठीक हो गये और लाठी टेकते हुए खेत में मेरे पास आये। ज्वार पर नज़र डालकर उन्होंने कहा:

"अब पके गुच्छे काट लेने चाहिए। उनको एक अलग ढेर में जमा कर लो, वरना अगर सारी फ़सल एक साथ पक गयी और बिखरने लगी, तो तुम अकेले समेट नहीं सकोगे।"

उन्होंने खेत के किनारे एक समतल टुकड़े की ओर इशारा किया।

"इसे यहां जमा कर लो, यहां ज़मीन सूखी और समतल है। यहां गाहने में आसानी रहेगी।"

मैं उसी दिन से फ़सल काटने में जुट गया।

अब मैं रात को भी खेत में ही रुकने लगा।

मैंने ज्वार के उन डंठलों से, जिनके गुच्छे काट चुका था, अपने लिए एक मढ़ैया बना ली।

जितने ज़्यादा गुच्छे मैं काटता गया, उतने ही ज़्यादा डंठल मेरी मढ़ैया के लिए जमा होने लगे। मढ़ैया आरामदेह होती गयी और पानी व हवा के लिए भी अभेद्य होती गयी।

अन्त में इतने डंठल जमा हो गये कि मेरा आधा समय तो उन्हें घर ढोकर ले जाने में ही ख़र्च होने लगा।

इकराम ख़्वाजा रात को मेरे साथ ही उस मढ़ैया में सोता था: उसकी मां सौतेली थी, इसलिए उसका घर जाने को मन नहीं करता था। वे लड़के, जो महामारी के प्रकोप से बच गये थे और स्वस्थ हो चुके थे, हमारे पास आ जमा होते थे। हम बातें करते आधी रात गये तक बैठे रहते थे। फिर वे अपने-अपने घर चले जाते, और वे, जिनकी सौतेली मांएं थीं, रात को मढ़ैया में हमारे साथ रुक जाते थे।

खेत की वह रात

रात को ठण्ड बराबर बढ़ती जा रही थी। हड्डियों तक बेध जानेवाली पतझड़ की हवा सूइयों जैसी चुभती थी। पाला चांदनी में ताज़ा बर्फ़ की तरह चमकता रहता था।

सभी जानते थे कि उस रात बहुत कड़ाके की ठण्ड पड़ेगी, सब कुछ जम जायेगा, इसलिए पूरी फ़सल समेट लेनी चाहिए। मैं भी यही सोचता रहा कि कल सारी ज्वार समेट लेनी चाहिए, हालांकि खेत में अभी भी आधी से ज़्यादा फ़सल पड़ी थी। पहला पाला पड़ने के बाद बिलकुल देर नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लोग अपने मवेशियों को चरने के लिए सीधे खेतों में छोड़ देते हैं और बारिश भी शुरू हो जाती है। तब सारी ज्वार बरबाद हो जायेगी। लेकिन मैं अकेला ऐसी भरपूर फ़सल कैसे समेटूं?

मैं यही सोच रहा था कि इकराम ख़्वाजा मेरे पास आ पहुंचा। वह जाड़े के मारे ठिठुर रहा था। उसने शिकायत की:

"मैं एक रज़ाई लाना चाहता था, उनमें से, जो मां छोड़ गयी थीं, पर सौतेली मां ने नहीं दी। मैंने अब्बा से कहा, तो वह बोले: 'इनकी हालत अभी सुधरी ही है, अगर हम इनका कहना नहीं मानेंगे, तो यह नाराज़ हो जायेंगी और शायद फिर बीमार पड़ जायें। ठण्ड से तुम मर थोड़े ही जाओगे, कोई बात नहीं, जाओ।"

तीन लड़के और आये। उनमें से एक ने मुझसे पूछा:

"तुम अपनी मां की ग़मी में महल्ला-ए-बाला क्यों नहीं गये?"

मुझे लगा जैसे उसने मुझसे सवाल पूछने के बजाय मुझ पर उबलते पानी की देगची उलट दी है। लगा जैसे चक्की का पाट मुझे कुचलता, तोड़ता घूमने लगा है। मैं समझ गया कि मेरी मां नहीं रहीं। इस लड़के को कहीं से मेरी मां की मौत का पता चल गया है और इसने मुझसे

इस तरह का सवाल पूछकर, जो इसे शायद अधिक उपयुक्त लगा, मुझे अपनी इस ग़मी की ख़बर दे दी है। मैं रोया नहीं, बुत की तरह बैठा रह गया। मुझे लगा जैसे मेरा ख़ून जम गया है।

मेरी आंखों में आंसू नहीं थे, लगा जैसे मुझमें सब सूख गया है। मैं सोचने लगा: 'अब मैं क्या करूं? मैं बारह साल की उम्र में बीमार भाइयों के साथ बिलकुल अनाथ हो गया... भाई साहब ठीक होने पर बुख़ारा पढ़ने चले जायेंगे। तब मुझे ही छोटे भाइयों को पालना-पोसना पड़ेगा। मेरी पढ़ाई का क्या होगा? कितनी इच्छा थी मेरी पढ़ने की! अब्बा ने भी मरते वक़्त मुझसे पढ़ाई जारी रखने को कहा था!'

एक लड़का ग़ुस्से में बोला:

"हमें इससे कुछ पूछने के बजाय इसे ढाढ़स बंधाना चाहिए। हिम्मत से काम लो!" उसने मुझसे कहा। "देखो, इकराम ख़्वाजा भी तो बिना मां के जी रहा है।"

"तुम दिल छोटा मत करो!" इकराम ख़्वाजा ने कहा। "वक़्त के साथ सब ठीक जाता है। मुझे मां के बिना जीते हुए दस साल हो गये, मेरा कुछ नहीं बिगड़ा।"

चुप खड़े लड़कों में से एक ने इकराम ख़्वाजा को टोक दिया:

"तुम्हारी मां नहीं है," उसने इकराम ख़्वाजा से कहा, "लेकिन तुम्हारे अब्बा हैं, सौतेली मां हैं... जबकि यह तो बाप और मां दोनों को एक साथ खो बैठा। इसे ज़्यादा मुश्किल होगी।"

"सौतेली मां के पंजे में पड़ने से तो बिना मां के जीना बेहतर है!" इकराम ख़्वाजा ने कटुता से उत्तर दिया।

कठिन परिस्थितियों में फंस जाने पर आदमी किसी भी तरह अपने को तसल्ली दिलाने की कोशिश करता है। मैं इकराम ख़्वाजा के सौतेली मां के बारे में कहे शब्दों को याद करके ही अपने को तसल्ली दिलाता रहा।

'अगर मेरी मां के मरने के बाद अब्बा दूसरी शादी कर लेते, तो मेरा क्या हाल हुआ होता? सौतेली मां मुझे प्यार न करके मुझे घर से निकाल देती, मां की एक भी रज़ाई न देती और ऊपर से अब्बा को भी मुझे घर से निकाल देने के लिए भड़काती। अब हालांकि मेरे मां-बाप नहीं रहे, फिर भी मैं ख़ुद अपना मालिक तो हूं: अनाज मेरा है, गधा भी मेरा हो गया, छोटे भाई मेरा कहना माना करेंगे। यह कहने की बात ही नहीं कि मुझे दुःख बहुत है, पर इससे वह कहीं अधिक होता, अगर मुझे सौतेली मां के ताने सुनने पड़ते!'

मैं इस प्रकार दुःख में अपने को तसल्ली दिलाता रहा।

लेकिन मेरे दोस्त जब सो गये, तब मुझे महसूस होने लगा कि इस विशाल संसार में मैं अब कितना अकेला रह गया हूं।

मुझे रो पड़ने की इच्छा हुई, फर मैंने अपने पर क़ाबू रखा। मैं सोये हुए दोस्तों की नींद ख़राब नहीं करना चाहता था, आख़िर वे मुझे तसल्ली दिलाने आये थे, मेरे अनाथ जीवन की पहली रात को मेरा साथ देने आये थे और इसी कारण पाले में भी मेरे चारों ओर सो रहे थे।

मेरा मन किया कि अपना ध्यान बंटाने के लिए मुझे कुछ-न-कुछ तो करना ही चाहिए। मुझे बेदिल का एक शेर याद आ गया, जिसे अब्बा अकसर पढ़ा करते थे, और मैं धीरे से गा उठा:

ओ, कहां हो तुम, गुमनामी, आओ,
मेरी मदद करो, आओ!
फिर दर्द जाग उठा है मेरे
ग़मगीन सीने में।

अचानक मुझे दूर कहीं बैलों को खेत में हांक रहे किसानों का गीत सुनाई दिया।

ग़िजदुवान ज़िले में किसान रात के दस बजे से ही खेत में बैलों

की मदद से हेंगा फेरना या जोतना शुरू कर देते थे, ताकि मिट्टी में नमी रहते, झुलसती धूप में मिट्टी सूख जाने से पहले ये काम निबटा लें। पर पतझड़ की लम्बी रातों में वे खेतों में काम थोड़ा देर से शुरू करते थे, ताकि उसे ठण्डक रहते पूरा कर लें। पतझड़ की उन रातों में वे बहुत देर तक सख़्त मेहनत करते थे। उनके आनन्द का एकमात्र स्रोत गीत होते थे।

हमारे इलाक़े में लोगों को शायरी के वृत की बहुत अच्छी समझ थी और वे अच्छा गाया करते थे। पढ़ना न जानने के कारण ये गीत ज़बानी, पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत में मिलते रहते थे। हमारे यहां सोवियत काल में ग़िजदुवान के बाबाक़ुल फ़ैज़ुल्लायेव * जैसे अद्भुत गीतकार और वाबकन्द के शाहनज़र साहिबोव ** जैसे संगीतकार हुए हैं।

उन गीतों में से अनेक में उस ज़माने के मेहनतकशों के जीवन, विशेषतः किसानों के जीवन का बहुत अच्छा वर्णन मिलता था। मज़ाक़िया व हास्य-रस के गीत बहुत थे, पर किसान उन्हीं गीतों को अधिक गाते थे, जिनमें उनकी मेहनत और आशंकाओं के बारे में अधिक सत्य होता था और जो उनके जीवन के अधिक निकट होते थे।

रात के कुहासे में, मेरे अनाथ जीवन की उस पहली रात को, खेतों में गा रहे उन किसानों ने बेदिल की एक ग़ज़ल छेड़ दी। दूर से एक दूसरे किसान ने उनका साथ दिया।

मौन बैठे उस ग़ज़ल को सुनते हुए मुझे अपना दुःख कुछ कम होता हुआ प्रतीत हुआ, मेरे दिल को कुछ राहत मिली :

आंसुओं का कारवां ले चला मैं साथ एक आह के।
झुलस रहा था दिल मेरा दाग़ से तपते लोहे के।

---

* बाबाक़ुल फ़ैज़ुल्लायेव (१८९७–१९६४) – ताजिकिस्तान के लोक-गायक।
** शाहनज़र साहिबोव (१९०३–१९७३) – ताजिकिस्तान के लोकप्रिय संगीतकार।

मिला न कोई यार सिवा इस ज़ख़्म के मुझे अपने जुनून में,
भटकता रहा हूं मैं सूरज की तरह इस फ़रेबी दुनिया में।
ऐ बदबख़्त बेदिल, सज़ा मिली है तुझे तड़पता रह दोस्तों से दूर!
फंसा है तू दलदलों में ग़म के और है एक बेक़ाफ़िया शेर।

जब पहले किसान का गीत ख़त्म हुआ, तो दूसरे ने, जो दूर था, हफ़िज़ का गीत गाना शुरू कर दिया:

ऐ सुबह की हवा! कह दे मेरी
उस निर्मल आंखोंवाली हिरनी से,
कि मैं जुदाई के ग़म में तड़पता
अकेला भटक रहा हूं रेगिस्तान में...

वे उस शान्त, नीरव रात को, निस्सीम विस्तार में, इसी तरह भोर होने तक गाते रहे।

जैसे ही दिन निकलने को हुआ, वे चुप हो गये। मेरे दोस्त जाग गये, बातें करने लगे और मैं आगे गीत नहीं सुन सका।

उस रात को बीते साठ वर्ष हो चुके हैं। लेकिन वह मेरे लिए सदा अविस्मरणीय रहेगी। मैं उसे कभी नहीं भूल सकूंगा। मां का साया मेरे सिर से उठने के बाद की यह मेरी पहली रात थी।

फ़सल की कटाई

मेरे पड़ोसियों ने, दोस्तों ने मेरी मदद की। उन्होंने मुझे गधे और घोड़े दिये, जिनकी मदद से मैंने ज्वार की फ़सल उठा ली। हमारे इलाक़े के लिए यह फ़सल अभूतपूर्व थी।

मैंने सबसे पहले युल्दाशबाय को अब्बा को दफ़नाने के ख़र्च का उधार चुकाने के लिए एक सौ बीस पूद (१ पूद – लगभग १६ किलोग्राम) ज्वार दे दी। बिचौलियों ने ज्वार का भाव सवा तंगा

9–730

प्रति पूद आंका, हालांकि बाज़ार भाव ८ पूद पर दो तंगा ज़्यादा था। लेकिन मुझसे यह ढुलाई ख़र्च के लिए वसूल कर लिया गया।

युल्दाशबाय ने मुझसे इस मद में एक सौ पच्चीस तंगा वसूल किये और पच्चीस तंगा नक़द क़र्ज़ के लिये। सारा क़र्ज़ चुकाने के बाद मेरे पास अभी चालीस पूद पकी ज्वार बची थी। अधपके दाने मैं बिना तौले घर उठा ले आया।

एक हफ़्ते बाद मेरे मामा अली ख़ां आये। उन्होंने कहा कि हमें उन्हें एक सौ तंगा देने हैं, जो उन्होंने हमारी मां के दफ़नाने पर ख़र्च किये हैं। हमने उन्हें एक सौ साठ पूद अधपके गुच्छे, उसे पके गुच्छे से आधी क़ीमत के मानकर, दे दी। बाज़ार में उसका भाव सात तंगा प्रति पूद था, लेकिन दो तंगा प्रति पूद उन्होंने ढुलाई का ख़र्च माना।

इसके बावजूद हमारा गधा पूरे जाड़े अधपके गुच्छे खाता रहा। सोकतारे के बुज़ुर्गों में से किसी ने भी ऐसी फ़सल होते कभी नहीं देखी थी।

उस साल उस्ताद ख़्वाजा ने भी आधे तनाब में ज्वार बोयी थी। लेकिन उनके यहां केवल चौबीस पूद पके और सोलह पूद अधपके गुच्छे ही हुए, हालांकि उनके बेटे इकराम ख़्वाजा ने चिड़ियाओं को अपने खेत के ऊपर पर भी नहीं मारने दिये थे।

बुज़ुर्ग मुझसे कहने लगे:

"इतनी अच्छी फ़सल होना कोई अच्छा शगुन नहीं है। तुम्हारे अब्बा सईद मुराद ख़्वाजा इसी वजह से मरे हैं।"

मैं तब केवल बारह साल का लड़का था, पर बुज़ुर्गों की इस बुद्धिमानी से सहमत नहीं हुआ: "अब्बा ने एक तनाब में कपास बोयी थी, पर वह सूख गयी। उनकी मेहनत बेकार गयी, लेकिन इस असफलता से उनका स्वास्थ्य सुधरा नहीं। फिर ज्वार की यह फ़सल उनकी जान कैसे ले सकती है?"

पुलावकद्दू की खेती से, जो कि काश्तकारी का मेरा प्रथम प्रयास था, मुझे बहुत अच्छी फ़सल भी मिली।

पतझड़ में मैंने कद्दू उठाकर अब्बा के कारख़ाने में जमा कर लिये। उनसे पूरा कमरा छत तक अट गया। अधपके और कच्चे कद्दुओं को मैंने घर के इस्तेमाल के लिए अलग रखा।

जाड़े में मैंने कद्दुओं की बिक्री शुरू कर दी और इसके लिए अपने कड़े नियम बना लिये।

ग़िजदुवान में सप्ताह में दो बार शनिवार और बुद्धवार को बाज़ार लगा करता था। हर बाज़ार के दिन मैं एक बोरी में सोलह कद्दू डालकर ले जाता और उन्हें एक-एक करके बेचता।

गधे को हर बार सराय में बांधने के मुझे दो पूल देने पड़ते थे, बेचने की इजाज़त के लिए चार पूल। चार पूल की मैं अपने लिए एक मीठी रोटी ख़रीदता था, चार पूल के अंगूर और बीमार भाइयों के लिए दो मीठी रोटियां। इस तरह हर बाज़ार के दिन मैं बाईस पूल ख़र्च करता था। हफ़्ते में एक बार मैं आधा किलो गोश्त ख़रीदकर घर ले आता था।

थोड़ा पैसा जोड़कर मैंने भाइयों और अपने लिए कुछ कपड़े ख़रीद लिये। और इसके बाद बचे पैसे से मैंने वसन्त में एक मेमना ख़रीद लिया।

इस प्रकार मैं अपने परिवार का मुखिया बन गया।

परिवार का मुखिया

उस साल अपने परिवार में मैं बाप भी था, मां और कमानेवाला भी। मुहीउद्दीन भाई अभी कमज़ोर थे। छोटे भाई बड़ी मुश्किल से मरते-मरते बच पाये थे और वे मेरी कुछ मदद नहीं कर सकते थे।

हमारे पास मां के सुखाये हुए कुछ शहतूत बचे थे। हमारी एक पड़ोसन ने मुझे उनका हलवा बनाना सिखा दिया। मैं हफ़्ते में दो बार हलवा बनाता और हम उसे ज्वार की रोटी के साथ खाते।

मैं ज्वार चक्की पर ले जाकर आटा पिसा लाया। इब्राहीम ख़्वाजा की बीवी सुलतान पाशा हमें हर हफ़्ते उस आटे की रोटियां सेंककर दे देती थीं। उस जाड़े में हमारा मुख्य भोजन ज्वार ही रहा।

मैं बाज़ार जाता, खाना पकाता, कपड़े धोता, कपड़े फटने पर उन्हें रफ़ू करता, सीता। अब मुझे कितनी ख़ुशी होती थी यह सोचकर कि लड़कियों के मकतब में मुझे कपड़े धोना सिखाया गया।

जाड़े के मध्य में भाई साहब स्वस्थ हो गये। लेकिन वह घर पर ज़्यादा दिन नहीं रुके और शीघ्र ही हमारे गांव से सोलह किलोमीटर के फ़ासले पर स्थित गांव तबारियान में मुल्ला होकर चले गये, ताकि अपने अगले साल के ख़र्च के लिए कुछ कमा सकें।

हम तीन भाई घर पर रह गये।

सिराजुद्दीन आठ साल का था। हालांकि वह बिलकुल ठीक हो चुका था, लेकिन अभी भी काफ़ी कमज़ोर था और पीला-सा लगता था। वह लाठी का सहारा लेकर चलता था। उसे कभी भूख नहीं लगती थी।

मेरा सबसे छोटा भाई किरामुद्दीन, जो चार वर्ष का था, बीमारी के बाद जल्दी ही स्वस्थ हो गया। लेकिन उसका बदन अजीब था—क़द काफ़ी ऊंचा, पर सिर उसके अनुपात से बहुत बड़ा, गरदन मोटी और सीना चौड़ा। वह सीना आगे निकाले, शान से, डग भरता हुआ चलता था। वह विरले ही मुसकराता था, हमेशा बड़ों की तरह गम्भीरता से बोला करता था। वह बहुत बुद्धिमान और चतुर था।

एक बार मुहीउद्दीन भाई मुल्ला बनने के बाद अपने गांव से गोश्त, चावल और तेल लेकर पुलाव पकाने घर पर आये। उन्होंने ख़ुद पुलाव

पकाया और उस्ताद ख़्वाजा और उनके बेटे इकराम ख़्वाजा को भी न्योता दिया। हम सन्दाल के चारों ओर बैठकर पुलाव खाने लगे।

पुलाव में गोश्त के टुकड़ों के बीच एक मज्जेवाली हड्डी निकल आयी। भाई साहब ने हमारी परम्परानुसार उसे हममें से सबसे बड़े, चाचा उस्ताद ख़्वाजा की ओर बढ़ाया।

"मेरे दांत नहीं हैं," चाचा ने कहा, "तुम ख़ुद ही खा लो।"

हम सब भाई साहब से छोटे थे, इसलिए उन्होंने किसी और से अनुरोध किये बिना उसे ख़ुद ही चचोड़ना शुरू कर दिया।

हड्डी काफ़ी बड़ी और मज़बूत थी। भाई साहब ने उसे दोनों हाथों से पकड़ा और ज़ोर-ज़ोर से चचोड़ने लगे।

बीच में उन्होंने आंखें उठाकर देखा, तो किरामुद्दीन को ग़ुस्से से घूरते पाया।

"तुम ऐसे क्यों देख रहे हो," भाई साहब ने पूछा।

"आप हमारे ख़ैबर की तरह हड्डी चबा रहे हैं," छोटे भाई ने ग़ुस्से से कहा।

हम सब हंस पड़े। मुझे उसका चुटीला जवाब बहुत पसंद आया।

"लगता है तुम शायर बनोगे!" मैं कह उठा।

मेरे शब्दों का अर्थ न तो वह ही समझ पाया और न ही बड़े।

लेकिन मैंने देखा कि मुहीउद्दीन इस बात पर मुझसे बहुत नाराज़ हैं। मैंने छोटे भाई को भाई साहब के साथ बदतमीज़ी करने के लिए डांटने के बजाय उसे बढ़ावा जो दिया।

मरणासन्न अब्बा के अन्तिम शब्दों से मेरी पढ़ाई करने की इच्छा और भी दृढ़ हो गयी थी। लेकिन अब मैं बुख़ारा जाने की अपनी सारी आशाएं त्याग चुका था – यह एक असम्भव स्वप्न हो गया था।

मुहीउद्दीन अनेक कठिनाइयों के बावजूद बड़ी लगन से पढ़ते रहे। लेकिन मुझे अपने छोटे भाइयों का मां-बाप की तरह पालन-पोषण

करना था। क्योंकि मैं अगर बुख़ारा चला जाता, तो छोटे भाई मर गये होते। मुझे अब अपने सारे स्वप्न और आशाएं त्यागकर उनके पालन-पोषण में जुट जाना था। इसलिए मैंने गांव के मुल्ला से पढ़ना छोड़कर घर-गृहस्थी का काम संभाल लिया।

वसन्त में कद्दुओं की बिक्री से जुड़ी रक़म से मैंने एक मेमनेवाली भेड़ ख़रीदी और उन्हें इस आशा से चराने लगा कि पतझड़ तक उनमें से एक को हम बेच देंगे और दूसरे को अपने लिए काट लेंगे।

मैं उन्हें ज़्यादातर मज़ार के आस-पास की झाड़ियों में चराता था, क्योंकि उस ज़मीन का मालिक कोई नहीं होता था और वहां घास भी घनी और ताज़ा होती थी। बाक़ी किसान पूर्वजों के भय से, अजदहों, देवों और मानव-भेड़ियों के डर से वहां भेड़ें नहीं चराते थे।

मुझे टेकरी पर बैठकर खेतों, घरों के आगे लगे बाग़ीचों को देखने और क़ब्रों के पत्थरों पर खुदे हुए लेखों को पढ़ने में बहुत आनन्द आता था।

एक क़ब्र के पत्थर पर बहुत सुन्दर अक्षरों में निम्नलिखित पंक्तियां उकेरी हुई थीं:

कितना दिल दुखता है दुनिया में
बेरहम क़िस्मत का राज देखकर!
वह देर-सवेर तुझे और मुझे जुदा कर देगी एक दूसरे से।
पल भर की इस ज़िन्दगी में हम
चाहे दो दिन भी साथ न रह पाये हों,
बिछुड़ना हमेशा के लिए, ए दोस्त मेरे,
क़िस्मत में हमारी बदा है।

एक अन्य क़ब्र के पत्थर पर सादी की ये पंक्तियां अंकित थीं:

जमशेद ने पत्थर पर यह शेर उकेरा है
गुज़री मुलाक़ात के चश्मे पर:
"इकट्ठा हुए बहुत-से यहां,
कुछ तो नहीं रहे, और बाक़ी दूर जा चुके हैं।"

वसन्त बीतने पर जब मज़ार के आस-पास की घास सूख गयी, तो मैं भेड़ों को चराने के लिए नदी के किनारे पर उतर गया, जिसे आबदाग़ (जल-शाद्वल) कहते थे। ज़रफ़शान में बाढ़ आने पर यहां घाटी में पानी आ जाता था और काफ़ी दिन जमा रहता था, इसलिए वहां की घास अच्छी होती थी। हमारे गांव के सारे चरवाहे अपने मवेशियों को यहां चराया करते थे।

जानवरों को चरने के लिए छोड़कर हम बेद-मजनुंओं की छाया में तरह-तरह के खेल खेलते रहते।

भूख लगने पर हम आस-पास और सिंचाई नहरों के किनारे जंगली लोबिया की फलियां तोड़ते और उन्हें नमकीन पानी में उबालकर खाते।

कभी-कभी, जब हमारा भाग्य बहुत ही साथ देता, तो हमें नदी के छिछले पानी में छोटी-छोटी मछलियां पकड़ने में सफलता मिल जाती। उन्हें हम वहीं भूनकर खा लेते। यह खाना हम सबको बहुत ही अच्छा लगता।

लेकिन पतझड़ से पहले ही हमें नहरों के किनारे जानवर चराना बंद करने को मजबूर होना पड़ गया। नदी किनारे की सारी ज़मीन अमीर की सम्पत्ति मानी जाती थी। उस ज़मीन पर खेती करनेवाले किसानों को अपनी फ़सल का चालीस प्रतिशत अमीर को देना होता था।

उन दिनों ग़िजदुवान इलाक़े में लगान की वसूली कोई क़ारा बेग करता था। वह बदमाश बहुत ही निर्दयी और क्रूर आदमी था। वह चालबाज़ी, धोखाधड़ी, ज़बरदस्ती और हर तरह के झूठे वादों से किसानों से उनकी सारी फ़सल हथिया लेता था। इसके अलावा इस तरह हेर-फेर करता था कि किसान अमीर के क़र्ज़दार भी हो जाते थे।

जिस साल उस ज़मीन पर किसान खेती नहीं करते और वहां घास उग आती, तो उनसे खर-पतवार का टैक्स वसूल कर लिया जाता था।

लेकिन नदी किनारे की ज़मीन खेती के योग्य नहीं थी। किसी ने कभी भी उसे जोतने की कोशिश नहीं की थी। क़ारा बेग ने उन किसानों पर, जिनकी ज़मीनें उस ज़मीन से लगती थीं, खर-पतवार कर लगा रखा था।

उस ज़मीन पर मवेशी चरते हुए नज़र आ जाने पर उसने उनके मालिकों से अमीर की ज़मीन पर चराई करने के लिए कर लगाने का निश्चय किया और सब चरवाहों को अपने सामने हाज़िर होने का हुक्म दिया। लेकिन चरवाहे भांप गये कि यह अच्छा शगुन नहीं हैं और वे फ़ौरन अपने मवेशी हांक ले गये। इस घटना के बाद से हम अपने मवेशी केवल खेतों में बची खूंटियों पर चराने लगे।

उस साल हमें अब्बा से विरासत में मिली ज़मीन में कुछ पैदा नहीं हुआ। मैं अकेला उस ज़मीन को नहीं जोत सकता था।

अब्बा के एक दोस्त, मिर्ज़ा मूमिन मेरी मदद को आये। उन्होंने मुझसे बीज लेकर अपनी उस ज़मीन में, जिसमें उनकी कपास सूख गयी थी, वसन्तकालीन जौ और जाड़े के गेहूं बो दिये और मुझसे बोले :

"इस खेती को तुम ख़ुद संभालना। सारी फ़सल तुम्हारी होगी। मुझे बस मेरे बैलों के लिए भूसा दे देना।"

लेकिन दुकानदार ने मुझे धोखा दिया, वसन्त के जौ के बजाय उसने मुझे जाड़े के जौ दे दिये। इसलिए अंकुर निकलकर शुरू में तो कुछ बढ़े, पर बाद में उनकी बाढ़ रुक गयी और फिर मुरझा गये। गेहूं सारा सूख गया। उस खेती से मुझे बोने के लिए एक दाना भी न मिला।

विगत वर्ष कद्दू की बहुत बढ़िया फ़सल होने पर, मैंने इस साल उसी टुकड़े की बहुत अच्छी तरह जोताई की और फिर कद्दू के बीज बो दिये। तब मुझे यह मालूम नहीं था कि एक ही ज़मीन के टुकड़े में

लगातार दो साल एक ही चीज़ की खेती नहीं करनी चाहिए। कद्दू के बहुत सारे पुष्प निकले, जिन्हें हमारी शायरी में बहुत सुन्दर नाम दिया गया है– झूठ के फूल। और मुझे एक भी कद्दू न मिल सका।

इस प्रकार उस वर्ष मुझे अपनी खेती से कुछ न मिला। और तो और उस साल हमारे ख़ूबानी व शहतूत के पेड़ों को भी पाला मार गया और हमें अपने बड़े पेड़ों से भी कुछ न मिल सका।

बैतबरक

जब मेरी शिक्षा पाने की आशाओं पर तुषारापात हो गया, अचानक मेरे लिए शिक्षा पाने बुख़ारा जाने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी।

सन् १८८९ के शरद में मेरी नानी ने, जो सत्तर की हो चुकी थीं और बहुत कमज़ोर हो गयी थीं, अपनी मौत से पहले मुझे और मेरे भाइयों को एक नज़र देख लेने के इरादे से हमें अपने पास बुलाया।

मैंने भेड़ें इकराम ख़्वाजा को संभलायीं, मकान में ताला लगाया और गधे पर सवार हो, एक भाई को अपने पीछे और सबसे छोटे को अपने आगे बिठाकर महल्ला-ए-बाला रवाना हो गया।

उन दिनों हमारे एक पड़ोसी, मुल्ला अब्दुसलाम के यहां बुख़ारा से अमीरात के बड़े क़ाज़ी मरहूम अब्दुशुकूर के बेटे शरीफ़जान मख़दूम आये।

मुल्ला अब्दुसलाम उस मदरसे के एक मुदर्रिस के सहायक थे, जिसमें भाई साहब पढ़ा करते थे। इसलिए मुल्ला अब्दुसलाम ने भाई साहब को मेहमान की ख़ातिरदारी में उनकी मदद करने के लिए बुला लिया। यह मालूम पड़ने पर कि मैं नानी के पास रह रहा हूं, उन्होंने मुझे भी बुला लिया।

शरीफ़जान मख़दूम अपने मित्रों और नौकर-चाकरों के साथ आये

थे। उनके सम्मान में पड़ोसियों को भी बुलाया गया। भाई साहब ने बैठक में दस्तरख़ान बिछाया और मेहमानों को चाय देने लगे। मैं चबूतरे पर बैठा समोवार में चाय का पानी उबाल रहा था। चाय बनाकर मेहमानों को केतलियां भिजवा रहा था। जब मैं चबूतरे पर बैठा कपड़े से केतलियां पोंछ रहा था, कमरे से एक लड़का निकलकर मेरे पास आया। वह क़द में मेरे बराबर था, लेकिन मुझसे कमज़ोर और दुबला था।

वह उदास मुख-मुद्रा में चबूतरे पर बैठ गया और मुझसे बोला:

"मौलाना जलालुद्दीन रूमी कहा करते थे:

> कभी गांव न जाना, आदमी वहां कुंद हो जाता है,
> नज़र उसकी धुंधला जाती है, अक़ल भी कुंद हो जाती है।"

फिर एक ठण्डी सांस लेकर कहने लगा: "लेकिन मैंने मौलाना की सलाह नहीं मानी और यहां आ पहुंचा। कितना उबाऊ लगता है यहां! न किसी के साथ बात कर सकता हूं, न ही बैतबरक में मुक़ाबला कर सकता हूं।"

मैंने पूछा:

"यह बैतबरक क्या होती है?"

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा:

"क्या तुम कुछ पढ़े-लिखे हो?"

"थोड़ा बहुत।"

"तुम्हें कुछ बैतें याद हैं?"

"कुछ तो याद हैं।"

"बैतबरक में मुक़ाबला इस तरह होता है: मैं एक बैत पढ़ूंगा, तुम जवाब में मेरी बैत के अन्तिम अक्षर से आरम्भ होनेवाली बैत पढ़ोगे। यह सिलसिला तब तक चलता रहेगा, जब तक कि हम में से कोई उसका जवाब न दे सके। तब, जो जवाब न देगा, वह हारा माना

जायेगा। इसके अलावा एक ही बैत को दोबारा नहीं पढ़ा जायेगा।"

"मैं मुक़ाबला करने को तैयार हूं।"

उसने एक बैत पढ़ी, मैंने जवाब दिया, फिर उसने जवाबी बैत पढ़ी। इस तरह हम कोई पन्द्रह मिनट तक एक दूसरे को जवाब में बैत सुनाते रहे, मैं उससे उन्नीस न निकला। मुझे काफ़ी शायरी कंठस्थ थी, पर वह मुझे कम लगी। थोड़ी देर में मुझे जवाब देने में कठिनाई अनुभव होने लगी। मेरा प्रतिद्वंद्वी मुझसे तेज़ था और बड़ी जल्दी उपयुक्त बैत सुना देता था। मैं महसूस करने लगा कि इस खेल में वह काफ़ी अनुभवी है और उसे एक ही अक्षर से आरम्भ होनेवाले अनेक शेर याद हैं।

लेकिन उसके उच्चारण से मैं समझ गया कि अधिकांश बैतों का अर्थ उसे मालूम नहीं है।

अपने प्रतिद्वंद्वी की यह कमज़ोरी पकड़कर मैं चालाकी से काम लेने लगा। मैं उन बैतों को, जो मेरे काम की न थीं, उनके बीच के शब्दों से शुरू करके पढ़ने लगा। इस प्रकार शब्दों के स्थान परिवर्तन से बैत का भावार्थ गड़बड़ होता था, पर मेरा प्रतिद्वंद्वी इसे समझ नहीं पा रहा था।

अन्त में उसने एक बैत पढ़ी, जिसका अन्तिम अक्षर "ज" था। मुझे "ज" से शुरू होनेवाले केवल दो शब्द मालूम थे और मैं उनमें से किसी एक को बैत के आरम्भ में रखने की सोचने लगा। लेकिन इतनी जल्दी में कुछ बन नहीं पा रहा था। इस बीच मेरा प्रतिद्वंद्वी पीछे पड़कर मेरा ध्यान भंग कर रहा था:

"जल्दी बोलो! या तो जवाब दो या हार मानो!"

और ऐसी कठिन परिस्थिति में मुझे कुछ सूझ ही आया। मैंने पढ़ा:

जोजू मोजू जोजू मोजू जोजू मोजू।
यह सब जोज है – आगे जोज और पीछे मोज।

अगर इन पंक्तियों को बैत माना जा सकता है, तो ये मेरी पहली शायरी थी।

मेरा प्रतिद्वंद्वी इस बात पर ज़ोर देता हुआ बहस करने लगा कि प्रथम अक्षर "ज" नहीं "ज़" है। मैं हठ करने लगा कि यह शब्द "ज" से लिखना चाहिए। मैं मन-ही-मन हंस रहा था। क्योंकि मैंने जो बैत पढ़ी थी, उसका कोई अर्थ नहीं होता था और जो शब्द मैंने बताया था, उसका अस्तित्व ही नहीं था। मेरी क़िस्मत से मेरे प्रतिद्वंद्वी को इस बात की समझ ही नहीं थी।

हम जब बहस में उलझे हुए थे, घर में से एक काना आदमी, शरीफ़जान मख़दूम का एक ख़िदमतगार बाहर निकला। हमारी बहस सुनकर उसने हमें सलाह दी:

"शरीफ़जान मख़दूम से पूछना चाहिए, वह बता देंगे कि आप दोनों में से कौन सही है।"

मेरे प्रतिद्वंद्वी ने पेंसिल से काग़ज़ पर मेरी बैत लिखी, उसकी लिखावट बहुत सुन्दर थी, और अपने कथन के प्रति पूर्णतः आश्वस्त व्यक्ति की मुख-मुद्रा में बैठक में गया। दो मिनट बाद वह वहां से भीगी बिल्ली की तरह बाहर निकला और मेरे पास आकर ग़ुस्से में बोला:

"तुम्हें शरीफ़जान बुला रहे हैं।"

"किसकी बात सही निकली?" मैंने शंकालु व्यक्ति की तरह भोलेपन से पूछा।

उसने कुछ जवाब दिये बिना फिर कहा:

"जल्दी जाओ, शरीफ़जान तुम्हें बुला रहे हैं।"

लेकिन मैं नहीं गया। मैं अपना फटा, गंवारू चोग़ा पहने, शहर में बड़े हुए, आदर के अभ्यस्त आदमी के पास, जिसके सेवक भी साफ़-सुथरे शहरी पहनावे में घूमते थे, कैसे जा सकता था।

मिनट भर बाद भाई साहब बाहर आकर मुझसे बोले:

"शर्माओ नहीं, तुम्हें बुलाया है, तो जाओ।"

मैंने बैठक में जाकर दरवाज़े से ही सलाम किया।

बैठक लोगों से भरी थी। उनमें से अधिकतर ने सफ़ेद अमामे लगाये हुए थे। उनमें बुज़ुर्ग भी थे। सम्मानित स्थान पर कोई पच्चीस वर्ष का, गोरे चेहरे और घुंघराले बालोंवाला एक युवक बैठा था। यही शरीफ़जान मख़दूम थे।

मुझ पर ग़ौर से नज़र डालकर उन्होंने पूछा:

"तुम्हारा क्या नाम है?"

"सदरुद्दीन।"

"बहुत अच्छा। तुमने मिर्ज़ा अब्दुल वाहिद से बैतबाज़ी में मुक़ाबला किया था?"

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया, पर कुछ नहीं कहा।

"तुम्हारी बात सही है। 'जोज' 'ज' से शुरू होता है, न कि 'ज़' से।" फिर बोले: "क्या तुम पढ़ने के लिए बुख़ारा नहीं जाना चाहोगे?"

मैंने सिर झुका लिया और कुछ नहीं कहा। लेकिन मैंने जब सोचा कि मेरे लिए आगे पढ़ पाना असम्भव है, तो मेरी आंखों से आंसू निकल पड़े।

तब भाई साहब ने कहा:

"हमारे मां-बाप मर चुके हैं। हमारे छोटे भाई भी हैं। और यह अकेला उन्हें पाल-पोसकर बड़ा कर सकता है। इसलिए इसके लिए आगे पढ़ने की कोई सम्भावना नहीं है।"

"फिर भी किसी न किसी तरह इसे पढ़ाना चाहिए। यह बहुत होशियार लगता है। मेरे 'सर्वज्ञ' को," उन्होंने मिर्ज़ा अब्दुल वाहिद की ओर इशारा किया, "बैतबरक में हराना कोई मज़ाक़ नहीं है।"

तब मेज़बान मुल्ला अब्दुसलाम भी बोल उठे:

"मैं कोशिश करूंगा ताकि यह आगे पढ़ने जा सके!" फिर वह मेरी तरफ़ देखकर बोले: "जाकर जल्दी से चाय का पानी उबालो।"

मैं बाहर चला गया।

उस बातचीत से मुझमें आश्चर्यजनक हर्ष का संचार हो उठा, मेरा उत्साह दूना हो उठा।

मुझे इस बात की ख़ुशी हो रही थी कि शरीफ़जान ने मेरी "जोज" के "ज" से शुरू होने की बात को सही ठहराया, हालांकि मुझे वैसे भी उसकी सत्यता में पूरा विश्वास था। मुझे इस बात की भी ख़ुशी हो रही थी कि वह मेरी चालाकी नहीं समझ सके, और यदि समझ भी गये, तो उन्होंने मेरा भेद नहीं खोला और दूसरों के सामने मुझे शर्मिंदा नहीं किया। ख़ुशी इस बात की भी हो रही थी कि इस बातचीत के बाद मेरी यात्रा में आनेवाली सारी बाधाएं दूर हो गयीं और मैंने अपनी बुख़ारा यात्रा में उत्पन्न होनेवाली हर कठिनाई पर विजय पाने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

दो दिन बाद मेहमान चले गये।

मैंने भाई साहब से और उनके उस्ताद से अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मेरी सहायता करने का अनुरोध किया।

अन्त में हम इस निर्णय पर पहुंचे कि छोटे भाईयों को नानी के पास छोड़ दिया जाये और भाई साहब के साथ मैं बुख़ारा चला जाऊं।

मुल्ला अब्दुसलाम बोले:

"फ़िक्र की कोई बात नहीं, यह मदरसे में किसी तरह रह लेगा। आख़िर हमने इतने बड़े आदमी से यह काम करने का वादा किया है। इसे तुम्हें बुख़ारा ले जाना चाहिए।"

मुझे बाद में पता चला कि शरीफ़जान वही शायर हैं, जिन्होंने अत्यन्त काव्यमय संस्मरण लिखे हैं।

बैतबरक के उस मुक़ाबले के दिन से ही मिर्ज़ा अब्दुल वाहिद मुंज़िम मेरे अत्यन्त घनिष्ठ मित्र हो गये और अपने अन्तिम क्षणों तक मेरे मित्र रहे।

बुख़ारा यात्रा की तैयारी

उस ज़माने के रिवाज के अनुसार, हमें बुख़ारा रवाना होने से पहले अपने मरहूम मां-बाप की बरसी और छोटे भाइयों का ख़तना करना था। यदि हम ऐसा न करते, तो हम स्वधर्मत्यागी माने जाते। लेकिन इन संस्कारों के लिए बहुत पैसे की ज़रूरत थी।

मुहीउद्दीन भाई और मैंने कितना ही क्यों न सोचा, पर हमें कोई तरकीब न सूझ सकी।

काफ़ी सोच-विचार करने के बाद हमने अपने अब्बा से विरासत में मिला महल्ला-ए-बाला में स्थित मकान बेचने और उससे मिली रक़म से अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का निश्चय किया। मैंने कहा:

"इस मकान की हमें कोई ज़रूरत नहीं है। हम फिर कभी लौटकर यहां नहीं आयेंगे। और अगर हमने नाना और नानी की ज़िंदगी में इसे नहीं बेचा, तो कोई ठग इसे हमसे हथिया लेगा।"

भाई साहब मुझसे सहमत हो गये।

हमने जल्दी ही वह मकान बेच दिया और सब सोकतारे चले गये।

वहां हमने पहले बरसी की और अगले दिन ही छोटे भाइयों के ख़तना की दावत दी।

जब छोटे भाई स्वस्थ हो गये, तो मैंने अपनी भेड़ें बेच दीं, भाइयों और अपने लिए कुछ कपड़े सिलवा लिये। इन सब कामों के बाद मेरे

पास पांच तंगा बच रहे थे, जिन्हें मैंने अपने ख़र्च के लिए रख लिया।

छोटे भाइयों के लिए मैंने सूखे शहतूत और ख़ूबानियों का काफ़ी हिस्सा छोड़ दिया और बाक़ी अपने लिए बांध लिया।

रज़ाई-गद्दों व तकियों में से मैंने उतना ही साथ लिया, जितना कि मेरे या भाइयों के काम आ सकता था, बाक़ी सब मिट्टी की तश्त-रियां, देग और कपड़े धोने की नांदें वग़ैरह घर पर ही बांधकर रखा दीं।

अब्बा का छोड़ा हुआ एक तांबे का देग और तेल रखने के लिए एक बड़ा-सा घड़ा था, जिन्हें वह मदरसे में रहते समय इस्तेमाल किया करते थे। उन्हें मैंने अपने साथ ले चलने का फ़ैसला किया।

भाई साहब ने गधा बेच दिया और हमने ख़ैबर को उसी बुज़ुर्ग चरवाहे को लौटा दिया, जिससे हमने उसे छः महीने के पिल्ले के रूप में लिया था।

मैं अपने भाइयों और उनका सारा सामान महल्ला-ए-बाला में नानी के पास छोड़ आया।

इस तरह मैं अब अपनी बुख़ारा यात्रा के लिए पूरी तरह तैयार था।





अन्य ताजिक लेखकों की कहानियां

पुस्तक के इस भाग में हाजी सादिक़, सातिम उलूग़-ज़ादा, फ़ज़लुद्दीन मुहम्मदियेव, सत्तार तुरसून, पुलात तालीस (पुलातोव तोल्सतोय), रसूल हादी-ज़ादा, मारूफ़ बाबाजान, अब्दुसलाम अताबायेव, बहराम फ़िरोज़, अब्दुराफ़े रबियेव, बाल्ता आरती-क़ोव, रहीम जलील और सारबान की कहानियां शामिल हैं।



हाजी सादिक़

हाजी सादिक़ का जन्म सन् १९१३ में कानिबादाम नामक शहर के एक दस्तकार के परिवार में हुआ था। उन्होंने संगीत पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् एक सामूहिक फ़ार्म में कार्य किया। सन् १९३६ से वह एक पत्रकार के रूप में कार्य कर रहे हैं। लेखक की प्रारम्भिक रचनाएं सन् ३० के दशक में प्रकाशित हुईं। हाजी सादिक़ मुख्यतः लघु कथाएं लिखते हैं। उनमें प्रमुख स्थान व्यंग्यात्मक रचनाओं तथा हास्यरस की कहानियों को प्राप्त है, जिनमें से अनेक दिन-प्रतिदिन के जीवन में तथा लोगों की चेतना में विद्यमान अतीत के नकारात्मक अवशेषों को लक्ष्य करके लिखी गयी हैं।

हाजी सादिक़ ने सन् १९४१–१९४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में सक्रिय भाग लिया।

हरफ़नमौला

"जवान मर्द के लिए चालीस हुनर भी कम हैं।" "बल ज्ञान में है, धन में नहीं।" "पैसा दो पल का, विद्या जन्म भर की।" "हुनर खाता नहीं, उल्टे खिलाता है।"

ये सब लोकोक्तियां हैं। इनमें ज्ञान का निचोड़ भरा है। अगर अच्छी कहावतों व लोकोक्तियों के लिए प्रतियोगिता करवायी जाती तो ये लोकोक्तियां—विशेषकर पहली लोकोक्ति को प्रथम स्थान प्राप्त होता। मैं इन सभी लोकोक्तियों को बचपन से जानता हूं। मेरे स्वर्गीय पिता हमेशा इन्हें उद्धृत किया करते थे।

"पैसा दो पल का," वे कहते थे, "और विद्या जन्म भर की, पर क्योंकि तेरी बुद्धि विद्या प्राप्ति में नहीं लगती, इसलिए अच्छा हो तू कोई हुनर सीख ले। अगर तू आदमी बनना चाहता है तो अपना व्यवसाय चुन ले। बल ज्ञान में है, धन में नहीं। अगर कर सकता है तो एक से अधिक व्यवसाय में निपुणता हासिल कर हरफ़नमौला बनने की कोशिश कर। कहते हैं कि जवान मर्द के लिए चालीस हुनर भी कम हैं क्योंकि हुनर खाता नहीं, उल्टे खिलाता है।"

"अच्छी बात है, पर शुरू किससे करूं?" मैंने एक दिन पिता से पूछ लिया।

"पिता की जायदाद पाने से पिता का धन्धा सीखना ज़्यादा अच्छा है," उन्होंने उत्तर दिया। "शुरू में रसोइये का धन्धा सीख, वहीं से सब पता चल जायेगा।"

सच कहूं तो पिता का व्यवसाय मुझे रुचता नहीं था। हमेशा उसमें कोई न कोई कमी निकल ही आती थी। पहली बात तो उसमें यह थी कि हर एक के स्वाद को सन्तुष्ट कर पाना असम्भव था। अगर

खाने में नमक कम पड़ जाये तो डांट-फटकार और अगर ज़्यादा हो जाये तो भी वही बात। दूसरी बात – खाने की गन्ध। केवल आपके कपड़े ही नहीं, आपका सारा व्यक्तित्व उस गन्ध से रच जाता है। उस गन्ध को लेकर ज़रा अपनी दिलरुबा के पास जाइये तो सही, वह आपसे बात करना भी पसन्द नहीं करेगी। फ़ौरन आपसे नाता तोड़ लेगी। इसके अलावा इस काम में हज़ार झंझट : अब बाज़ार जाओ, लकड़ी काटो, अब चूल्हा जलाओ, बर्तन धोओ ... कोई एक काम हो तो गिनाया जाये। यह व्यवसाय नहीं, ज़िन्दगी का घुन है – तब मेरा यही ख़याल था।

तब ... उन दिनों मेरी इच्छा नट या शहनाई बजानेवाले का धन्धा अपनाने की होती थी। उन दिनों मुझे लगता था कि यह सबसे अच्छा व्यवसाय है – न कोई परेशानी, न कोई झंझट, बस मौज ही मौज। हज़ारों दर्शक व श्रोता तालियां बजाकर स्वागत करते हैं। कोई भी त्योहार तुम्हारे बिना पूरा नहीं होता।

पर क्या किया जाये? पुराने ज़माने की कहावत है कि पिता की इच्छा भगवान की इच्छा होती है। आख़िर मुझे देगची संभालनी ही पड़ी। तीन साल तक पिता के साथ रहकर प्रशिक्षण प्राप्त किया। पुलाव बनाना तो ऐसा बढ़िया सीख कि लोग खाने से अघाते ही नहीं थे। पिता से कहते थे कि आपका शिष्य तो कमाल का है। मुझे उन लोगों की प्रशंसा निश्चय ही अच्छी लगती थी, पिता को भी इससे प्रसन्नता होती थी।

"तो बेटे," पिता ने कहा, "अपने सौभाग्य की आधारशिला में पहली ईंट तुमने रख दी है, अब बाक़ी ईंटें भी रख लो। शुरू में मैं तुम्हें दहक़ानबाय कारीगर के पास चर्ख़ा बनाने की शिक्षा प्राप्त करने भेजूंगा, उसके बाद गदाबाय बढ़ई के पास, नईम पेन्टर, सलीम संगत-राश, संगीन हज्जाम, गुलमुहम्मद क़साई के पास ..."

कुल मिलाकर पिता ने चालीस व्यवसाय एक-साथ गिना दिये — ठीक चालीस। उनके द्वारा इन व्यवसायों का वर्णन सुनते समय मैं सोच रहा था कि अगर शहनाई बजाने और लग जाऊं तो इकतालीस व्यवसाय हो जायेंगे। इकतालीसवां व्यवसाय होगा वह। इकतालीसवां, एं...? "शाबाश तुझे, शराफ़!" मैं खुद अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने लगा।

पर क्या मुझे इन सब व्यवसायों को सीखने के लिए समय मिल जायेगा? रसोइये के व्यवसाय को सीखने में मुझे तीन साल लग गये। अगर चालीस व्यवसायों को तीन से गुणा किया जाये तो एक सौ बीस साल हो गये। इस समय मेरी उम्र अठारह साल है, जब तक चालीस व्यवसायों में कुशलता हासिल करूंगा मेरी उम्र एक सौ अड़तीस साल की हो जायेगी। इतनी लम्बी उम्र पाना निश्चय ही बड़े सौभाग्य की बात है। पर तब मैं काम करना कब शुरू करूंगा? सारी उम्र तो सीखने में ही निकल जायेगी। और फिर... कौन जानता है इतने साल मैं जीवित भी रह पाऊंगा या नहीं?

संक्षेप में कहूं तो यह सर खपानेवाला मसला था। पर बाद में सहसा मेरे दिमाग़ में एक विचार कौंधा: आख़िर मुझे हर व्यवसाय में तीन साल लगाने की क्या ज़रूरत है? दो साल क्यों नहीं? एक क्यों नहीं? एक साल में दो व्यवसायों में भी निपुणता हासिल कर लूं तो क्या कोई मुझे खा जायेगा? कौन रोक सकता है मुझे ऐसा करने से? कोई नहीं। "मुझे इसी पर अमल करना चाहिए," मैंने अपने आपसे कहा।

पिता के मित्र दहक़ानबाय कारीगर ने मुझे सहर्ष अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। उन्हें "दिवकार" अर्थात् कुशल, शीघ्रता से कमाल का काम करनेवाले कारीगर के नाम से जाना जाता था। मुझे भी उन्होंने इसी तरह का प्रशिक्षण देने का प्रयत्न किया। मुझे

वे अपने सगे बेटे की तरह् मानते थे। पिता की मृत्यु के बाद मुझे इसका विशेष रूप से आभास हुआ। दहक़ानबाय कारीगर की पत्नी गुलशन ख़ाला भी मुझे बेटा कहकर ही पुकारती थीं, खाने के समय अच्छा-अच्छा भोजन मुझे ही परोसती थीं। मैं ख़ुद भी महसूस करता था कि मैं उनका योग्य उत्तराधिकारी बन सकता हूं।

"अगर तू अपनी गन्दी आदत छोड़ दे तो तू काम में पारंगत बन सकता है," वे मुझसे कहते।

मेरी 'गन्दी आदत' यह थी कि उनके कारख़ाने से बाहर जाते ही मैं फ़ौरन उसे बन्द कर नट का तमाशा देखने या सुलतान शहनाई-वादक के पास शहनाई बजाना सीखने के लिए निकल पड़ता। मेरा दुर्भाग्य यह था कि दहक़ानबाय कारीगर शहनाई को बिलकुल भी सहन नहीं कर पाते थे। उन्होंने मुझे कई बार चेतावनी दी कि मैं सुलतान शहनाईवादक के पास भी न फटकूं। धमकी दी कि अगर मैंने ऐसा किया तो वे मेरी टांगें तोड़ देंगे। मैंने चुप्पी साध ली और धमकी को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दिया।

एक बार मैंने देखा कि वे बड़े दु:खी नज़र आ रहे थे।

"आज तू कहीं इधर-उधर मत जाना। घर व कारख़ाने को तेरे ज़िम्मे छोड़े जा रहा हूं," वे बोले। "मैं अपने बूढ़े पिता को देखने जा रहा हूं। उनकी हालत बहुत ख़राब है। अगर मैं कल शाम तक वापस नहीं लौटा तो मेरे पीछे-पीछे चले आना। समझा?"

"जी, हां," मैं बोला।

"भूलेगा तो नहीं?"

"जी नहीं।"

दहक़ानबाय कारीगर और उनकी पत्नी दोनों ही चले गये। मैंने सोचा कि चलो सुलतान शहनाईवादक के यहां चलें, थोड़ी देर शहनाई बजाकर आत्मा ठंडी कर लें, फिर आकर काम संभाल लूंगा। यह

शैतान चर्ख़ा कहीं भागा थोड़े ही जा रहा है।

जैसा सोचा वैसा ही किया। शहनाई हाथ में आने पर मैं दीन-दुनिया सबको भूल गया। सुलतान शहनाईवादक के साथ तीन दिन तक एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में घूमते हुए शादी-ब्याह व पारिवारिक त्योहारों में बाजा बजाते रहे। चौथे दिन दूर के एक मुहल्ले में पहुंचे। सारे मुहल्ले का ओर-छोर छान मारा पर कहीं शादी-वादी का निशान तक नहीं दिखाई दिया। ऐसा लगता था जैसे किसी ने इस मुहल्ले में शादी-ब्याह न होने तथा बच्चों के जन्म न लेने का शाप दे दिया हो।

हम कर ही क्या सकते थे, बस, आगे बढ़ गये। टांगें जवाब देने लगीं, पेट में चूहियां दौड़ने लगीं, पर जेब में चाय-चपाती ख़रीदने के लिए कानी कौड़ी भी नहीं थी।

"रुक, रुक," सहसा सुलतान शहनाईवादक हर्षित होकर चिल्लाया। "ज़रा उस फाटक की तरफ़ तो देख, देख रहा है न? लगता है वहां कोई बहुत बड़ी शादी की तैयारियां हो रही हैं। फाटक खुला हुआ है – ज़रूर अतिथियों के स्वागत के लिए होगा। लोग उनके इन्तज़ार में हैं। चल, जल्दी जा वहां। मैं तेरे पीछे-पीछे आता हूं। जल्दी क़दम बढ़ा, मूर्ख!"

मुझे भी ख़ुशी महसूस हुई। शीघ्रता से क़दम उसी ओर बढ़ा दिये। इस तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया कि फाटक के पास खड़े लोगों के चेहरे पर दुःख के भाव हैं। मैं तो जैसे उड़कर फाटक के अन्दर चला गया और लगा शहनाई बजाने। अभी मैंने पहला बंद समाप्त भी नहीं किया था कि मेरी दृष्टि अपने सामने खड़े दहक़ानबाय पर पड़ गयी। वे क्रुद्ध शेर की तरह दांत पीस रहे थे। उनकी आंखों से चिनगारियां निकल रही थीं। उन्होंने एक झटके से मेरी शहनाई खींची और छत पर फेंक दी। फिर मेरे मुंह पर इतने ज़ोर का एक तमाचा मारा कि कान झनझना उठा। मेरी आंखों के आगे अंधेरा छा गया।

जहां खड़ा था, वहीं गिर पड़ा। कोई होश ही नहीं रहा। मुझे सिर्फ़ इतना याद है कि कोई कह रहा था:

"ये मूर्ख आवारा लोग शादी-ब्याह और ग़मी में कोई फ़र्क़ ही नहीं कर पाते।"

इस तरह मुझे दहक़ानबाय दिवकार और सुलतान दोनों ही से विदा लेनी पड़ी।

तदुपरान्त भाग्य ने मेरा पल्ला संगीन हज्जाम से जोड़ दिया। संगीन हज्जाम अधेड़ उम्र का आदमी था। वह हर समय ग़ुस्से में बड़बड़ाता रहता था। उसे हर बात से चिढ़ थी। ज़रा भी चूक हो जाये या मामूली-सी भी ग़लती हो जाये तो समझो कि तुमने दो दिन दो रात तक बड़बड़ाहट सुनने व डांट-फटकार खाने का काम कर लिया। यहीं पर मुझे इस बात का एहसास हुआ कि दो कान होना कितने बड़े सौभाग्य की बात है – एक कान से सुनो और दूसरे से निकाल दो। कहीं मेरा एक ही कान होता तो सिर का कभी कचूमर निकल जाता। संगीन हज्जाम की सारी डांट-फटकार को रखने के लिए उसमें जगह ही नहीं निकलती।

क़रीब दो महीने के बाद एक बार मुझे एक बूढ़े का सिर घोटना पड़ा। मैंने अभी उसका सिर छुआ ही था कि वह डर के मारे कांप उठा और लगा चीख़ने:

"अरे... अरे, बाल काट रहा है या चमड़ी छील रहा है?"

संगीन हज्जाम ने उसी समय मेरे हाथ से हजामत बनाने का ब्रश लिया, मुझे अपने साथ दूकान की देहरी तक ले गया और एक लात जमाकर बोला:

"भाग यहां से, मूर्ख। जाकर आवारा शहनाई बजानेवाला बन। आदमी बनना तेरे बस की बात नहीं।"

"बडे पते की बात कही है तूने," मैंने मन-ही-मन कहा। "तेरे

जैसा आदमी बनने से तो अच्छा है आवारा शहनाई बजानेवाला।"

मैं अब नईम पेन्टर के पास चला गया। उसने मेरी बात ध्यान से सुनी पर बोला:

"पेन्टर बनने के लिए प्रतिभा की ज़रूरत होती है—साथ ही तीक्ष्ण बुद्धि और धैर्य की भी। अपने काम को प्यार करना भी आना चाहिए।"

"मैं प्यार करता हूं," मैंने कहा। "मेरी तीक्ष्ण बुद्धि की मेरे स्वर्गीय पिता भी तारीफ़ करते थे। कहते थे तुझमें प्रतिभा है और धैर्य भी। अगर नईम जैसा चित्रकार तेरा हाथ पकड़ ले तो तू अपने काम में अच्छा पारंगत हो जायेगा।"

"तो ठीक है, मैं तुझे सिखाने को तैयार हूं," नईम पेन्टर ने कहा।

शुरू-शुरू में वह मुझसे काफ़ी ख़ुश रहा। उसे छींक भी आती तो मैं तुरन्त "हुज़ूर को किसी चीज़ की ज़रूरत तो नहीं है" भाव से उसकी ओर देखने लगता। वह अपने दोस्तों से मेरी प्रशंसा करता कि आख़िर उसे ऐसा शिष्य मिल ही गया है जिसे वह बिना किसी हिच-किचाहट के अपनी कला सौंप सकता है।

पर अभी दो महीने भी नहीं बीत पाये थे कि मैं स्वयं उस दिन को कोसने लगा जब मैंने उसका शिष्य बनने का निर्णय लिया था। मेरे साथ तो 'आकाश से गिरे और खजूर में अटके' वाली कहावत लागू हो गयी। बड़ा मुश्किल काम साबित हुआ यह। एक फूल का चित्र बनाओ तो पसीने की सात धारें बहने लगती हैं, दिल ख़ून उगलने लगता है। और फिर ऊपर से उसका बड़बड़ाना सुनो। बड़बड़ाने में वह हज्जाम से बीस ही था। ज़रा भी लाइन खींचने में ग़लती हुई या रेखा थोड़ी ज़्यादा गहरी हो गयी तो उसके हिसाब से मुझे रंग वग़ैरह एक तरफ़ रखकर सोच लेना चाहिए कि यम की अदालत में जाने का दिन आ पहुंचा।

"अरे बौड़म, महामूर्ख, तेरी अंगुलियां हैं या हेंगी?" वह चालू हो जाता। "ऐसे हाथों से तो तू भाड़ तक नहीं झोंक सकता।"

'अगर यह मुझे अभी जीने नहीं दे रहा है तो बाद में क्या होगा?' मैंने सोचा। अभी तो रंग करने का ही काम सौंपा है इसने, लगता है जब ख़ुद चित्र बनाना शुरू करूंगा तो तमाचों का स्वाद चखना पड़ेगा। इसलिए देर करने से अच्छा है अभी छुट्टी ले लूं।'

"माफ़ कीजिए, उस्ताद, लगता है, मुझसे ग़लती हो गयी। मैं चित्रकार बनने के लायक़ नहीं हूं," एक दिन मैंने उससे कह ही दिया। "मुझे मेहरबानी करके छुट्टी दे दीजिये।"

"बड़ी ख़ुशी के साथ," वह बोला। "तू चालीस साल लगाने पर भी चित्रकार नहीं बन सकता। अच्छा होगा तू हलीम हलवाई के यहां काम सीखने चला जा। वहां शायद तू कुछ कर दिखाये।"

उसके इन शब्दों से मेरे दिल को बुरी तरह चोट लगी। 'आप देखियेगा,' मैंने मन-ही-मन कहा, 'मैं अपने काम में हरफ़नमौला बनूंगा आप आंखें फाड़े देखते रह जायेंगे।'

और मैं सलीम संगतराश के पास काम सीखने चल दिया।

पर मेरा दुर्भाग्य! सलीम संगतराश मेरे वहां पहुंचने के दो दिन पहले मर चुका था। स्वर्गीय संगतराश अपने काम में पारंगत था, सारे इलाक़े में उसका नाम था। अफ़सोस, भाग्य ने साथ नहीं दिया, और भी बुरा यह हुआ कि क़साई गुलमुहम्मद पशुचिकित्सक बनकर सामूहिक फ़ार्म में काम करने चला गया। गदाबाय बढ़ई, जिसका बच्चों के अत्यधिक सुन्दर पालने व झूला-कुर्सी बनाने में बड़ा नाम था, फ़र्नीचर बनानेवाले कारख़ाने में काम करने लगा। तभी मुझे शहनाई की याद आ गयी। मुझे वह अपनी ओर खींचे जा रही थी। क्या किया जाये? यौवन का स्वप्न! मनोरंजन! प्रेम!

"अरे... तू यहां कहां से आ टपका?" सुलतान शहनाईवादक

ने मुझे देखकर आश्चर्य से कहा। उसने मेरा ठंडे दिल से स्वागत किया। "अभी तक यूं ही डोल रहा है क्या?" उसने पूछा, और फिर थोड़ी देर चुप रहकर पुनः बोला कि अब वह कठपुतली थियेटर में काम करता है। एक भिखारी की तरह शादी-ब्याह के लिए दर-दर भटकने की उसकी अब कोई इच्छा नहीं है।

"और तू," उसने कहा, "अभी तक पहले की तरह ही जी रहा है–एक काम छोड़ा, दूसरा अपनाया नहीं। सोच भाई, तू देख ही नहीं पा रहा है कि सात आदमियों की अक़्ल से एक आदमी का अनुभव–ख़ासकर उस व्यक्ति का, जो अपने काम में माहिर है–ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। पर अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। किसी सामूहिक फ़ार्म में पलस्तर करनेवाले का या माली का काम खोज ..."

ज़रा सोचिये तो आप, वह मुझसे कैसे बात कर रहा था, क्या राय दे रहा था मुझे! मुझे यानी उस व्यक्ति को, जो अच्छा-बुरा जैसा भी हो, छः-सात शिल्पकलाओं का जानकार था, पलस्तर करनेवाले का या माली का काम करने की सलाह दे रहा था। 'अपनी गप किसी और को सुनाना, मेरे दोस्त,' मैंने मन-ही-मन कहा। शहनाई बजानेवाला भी मेरे पीछे पड़ गया! ख़ैर, इन्तज़ार कर, मैं अपने काम में ऐसा हरफ़नमौला बनूंगा कि तू सपने में भी नहीं सोच सकता। तू कभी मुझे याद करेगा।"

कहते हैं जब भाग्य ख़राब होता है तो चारों ओर से विपत्ति आ घेरती है। लाठी टूट जाती है पर सांप नहीं मरता। जिसके पास भी मैं काम सिखाने की प्रार्थना लेकर गया उन सभी ने, कुछ इस तरह जैसे आपस में मिलकर फ़ैसला कर लिया हो, दृढ़तापूर्वक एक ही स्वर में उत्तर दिया।

"वृक्ष अपने एक ही स्थान में जमे रहने से फलते-फूलते हैं। तुम्हें भी चाहिए कि अपना स्थान ढूंढ़ो। तुम्हारी अब वह उम्र भी नहीं

रह गयी है जिसमें तुम कोई नया धंधा सीखो। अच्छा रहेगा अगर ... "

मुझे खुद भी पता था कि अच्छा क्या रहेगा। कल सार्वजनिक भोजनालय के कार्यकर्त्ताओं ने मेरे श्रमिक जीवन की रजत-जयंती मनायी। आज से पच्चीस साल पहले मैंने पुनः रसोइये का काम संभाला और आज के दिन तक उसी काम में डटा हुआ हूं। एक शानदार सम्मेलन में वाणिज्य मंत्री के एक आदेश की घोषणा की गयी: रेशम के कारखाने के प्रधान रसोइये शराफ़ शराफ़ोव को "सोवियत वाणिज्य के श्रेष्ठ कार्यकर्त्ता" की उपाधि प्रदान की जाती है तथा मानपत्र भेंट किया जाता है। मुझे "श्रेष्ठ श्रम के लिए" एक और तमग़ा तथा "सम्मान पदक" भी प्राप्त हुआ है। काश, इस समय मुझे सुलतान शहनाईवादक, नईम पेन्टर व संगीन हज्जाम देख रहे होते। अगर मेरे स्वर्गीय पिता व दहक़ानबाय कारीगर देखते तो शायद बहुत खुश होते। संभवतः मुझे भी वे "दिवकार" के काम से पुकारते। हमारे कारख़ाने के मज़दूर मुझे इसी नाम से संबोधित करते हैं।

हाल ही में मैंने अपने बेटे को मास्को रवाना किया है। उसने खाद्य पदार्थ उद्योग के इंस्टीट्यूट में प्रवेश लिया है। चलते समय मैंने उसे सीख दी:

"व्यवसाय में महारत हासिल करना, बेटे। कहावत है कि पैसा दो पल का, विद्या जन्म भर की; और जवान मर्द के लिए चालीस हुनर भी कम हैं!.."



सातिम उलूग़-ज़ादा

लेखक का जन्म सन् १९११ में वारज़िक नामक गांव के एक निर्धन किसान के परिवार में हुआ था। सन् १९१६ में उन्होंने ताजिक अध्यापक संस्थान से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। इसी संस्थान में वह ताजिक साहित्य के अध्यापक रहे। तत्पश्चात् सातिम उलूग़-ज़ादा ने पत्रकारिता के क्षेत्र में पदार्पण किया, सम्पादक-मण्डल में सचिव रहे और उसके बाद ताजिकिस्तान के लेखक संघ की प्रबन्धपरिषद के अध्यक्ष पद पर कार्य किया। सन् १९४१-१९४५ में वे महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में सक्रिय रहे और ताजिक सोवियत समाजवादी जनतंत्र की विज्ञान अकादमी के वैकल्पिक सदस्य बने। उन्होंने साहित्य सेवा एक समालोचक तथा साहित्य मर्मज्ञ के रूप में आरम्भ की। सन् ३० के दशक के अन्तिम दौर से लेखक के कृतित्व में प्रमुख स्थान गद्य लेखन को प्राप्त है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उन्होंने अनेक सफल नाटक लिखे हैं। ऐतिहासिक नाटक "रूदाकी", "अबू-अली-इब्न-सीना", "महामहिम का राजदूत" उनके सफल नाटक रहे हैं, इसके अलावा समसामयिक विषयों पर भी जैसे

"आग में", "ख़ज़ानों के खोजी" नाटक लिखे गए। लघु उपन्यास "सज्जन मित्र", "हमारे जीवन का प्रभाव", वृहत उपन्यास "वासे", उपन्यास "धरती का कायापलट" भी पाठकों के बीच चर्चित रह चुके हैं।

आशु-कवि की मौत

शिवाजी... हिन्दुस्तान के यशस्वी आशु-कवि... कभी उनके गीत जन मानस में तूफ़ानी हलचल सी मचा देते थे।

झरनों की कलकल, तूफ़ान की कड़क, शोर मचाती समुद्री लहरों की गड़गड़ाहट, बुलबुल के सुरों का कम्पन, आरोह-अवरोह – सभी कुछ तो है उनके गीतों में।

इस महान कवि, अद्वितीय लोककथाकार और अतुलनीय गायक के यश का डंका दूर-दूर तक बजता था। जिस किसी ने भी एक बार उनके गीत को सुना, वह जीवन भर के लिए उनका प्रशंसक बनकर रह गया। और जो ऐसे सौभाग्य से वंचित रहा, वह आजीवन एक टीस, एक कसक-सी अनुभव करता रहा।

शिवाजी के विशाल हृदय में अगणित सुर, ताल, लय का खजाना सुरक्षित था, उनका मस्तिष्क दन्तकथाओं व लोककथाओं का कोष था और वे स्वयं बुद्धि व ज्ञान के आगार थे।

आशु-कवि अपने गीतों में हिन्दुस्तान की महानता का यश गान करते थे, उसके वीर पुत्रों की शौर्य गाथा गाकर सुनाया करते थे।

हिन्दुस्तान विद्रोह की लपेट में था। दिल्ली, मेरठ, बनारस, लखनऊ व कानपुर में हिन्दू व मुसलमान सिपाहियों ने मिलकर विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया था और विदेशी शक्ति के विरुद्ध ख़ूनी

जंग का जिहाद छेड़ दिया था। हज़ारों शोषित नगरवासियों व किसानों ने सिपाहियों के इस विद्रोह को अपना समर्थन दिया। निरंकुश अंग्रेज़ शासकों के मज़बूत राजसिंहासन तले विद्रोह की आग धधक उठी।

अठारह सौ सत्तावन की ग्रीष्म ऋतु के चिन्ता, क्षोभ व आशा से परिपूर्ण इन दिनों में शिवाजी के गीतों में जो आवेग था, वह इससे पहले कभी देखने में नहीं आया था।

एक माह पूर्व कानपुर के विद्रोहियों ने साहसी वीर नाना साहब के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना को घोर पराजय का मुंह दिखा दिया था। स्वयं सेनानायक व्हीलर भी समरभूमि में खेत रहा था। हिन्दुस्तान की धरती पर पचास वर्ष से म्यान में तलवार न रखनेवाले वृद्ध सेनानायक को उसके अनुभव, ज्ञान और सैन्यकला ने कोई भी सहायता न दी। अंग्रेज़ों का भूतपूर्व गढ़ कानपुर स्वतन्त्र हो गया था। अब वह विद्रोहियों के हाथ में था। अब वहां स्वतंत्रता का प्रतीक झण्डा लहरा रहा था।

नाना साहब अपनी रणयात्रा पर निकलनेवाले थे। वे कलकत्ता से कानपुर तक बढ़ आयी अंग्रेज़ सेना के विरुद्ध लड़ने के लिए अपनी सैनिक टुकड़ियों का नेतृत्व करनेवाले थे। यह लड़ाई ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई होनी थी। शायद इसी लड़ाई में स्वतंत्रता के पवित्र संघर्ष का फ़ैसला होना था।

महान रणयात्रा की पूर्वसंध्या पर नाना साहब ने एक भोज का आयोजन किया। उनकी इच्छा थी कि अतुलनीय गायक शिवाजी के गीतों का आनन्द लिया जाये, उनके नये महाकाव्य का श्रवण किया जाये। शिवाजी के अतिरिक्त इस समय और कोई उनके वीर-रस के भाव को समझने में असमर्थ था, जिसकी इस समय नाना साहब को सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी, और इसकी ज़रूरत उनके सेनानायकों और साहसी बहादुर सिपाहियों को भी थी।

शिवाजी उस दिन नाना साहब के अतिथि थे।

गंगा के किनारे स्थित, जुलाई के सूर्य की किरणों में चमचमाते हुए, चटकीले रंगों से मण्डित रंगबिरंगे ख़ेमे कई कोसों तक फैले हुए थे। ख़ेमों के मध्य में और उनके चारों ओर हाथी और ऊंट, गाय व घोड़े पदक्षेप कर रहे थे, घर-गृहस्थी के ढेरों सामान के गट्ठर, घोड़े की काठी-ज़ीन और दूसरे साज़ बिखरे पड़े थे और पगड़ी पहने हुए सिपाही इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे। इस सैनिक शिविर को देखकर यायावरों के विशाल डेरों की याद ताजा हो रही थी।

हरे, लाल और श्वेत रंगों से मण्डित सेनापति नाना साहब का ख़ेमा शिविर के केन्द्र में स्थित था। पक्षियों के झुण्ड में जैसे मोर अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित कर लेता है, उसी तरह वह भी आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। ख़ेमे के ऊपर लाल हरे रंग का ध्वज लहरा रहा था। ख़ेमे के भीतर से चहकते हुए उल्लसित स्वर सुनाई पड़ रहे थे, तथा संगीत व गायन की आवाज़ें आ रही थीं।

नाना साहब का ख़ेमा अच्छा-खासा महल जैसा ही था। उसका आकार बहुत बड़ा था, उसमें कई कक्ष थे। ख़ेमे के आधारस्तम्भ स्वर्ण-मंडित थे। ख़ेमे के प्रवेशद्वार पर एक भीमकाय भालाबरदार पहरा दे रहा था। अतिथिकक्ष में दो सौ व्यक्तियों के लिए पर्याप्त स्थान था। ख़ेमे के फ़र्श पर सुन्दर क़ीमती क़ालीन बिछे हुए थे। फुर्तीले सेवक सोने की थालियों में पकवान परोस रहे थे। एक विशिष्ट जगह के ऊपर कुछ ऊंचे स्थान पर पच्चीकारी किये हुए स्वर्ण सिंहासन में मराठा राज्य के उत्तराधिकारी चालीसवर्षीय साहसी व कुशल सेनानायक नाना साहब विराजमान थे। नाना साहब के दोनों ओर उनके वीर साथी, सलाहकार और विश्वासपात्र व्यक्ति बैठे हुए थे।

कुछ हटकर क़ालीन बिछे हुए एक वर्गाकार चबूतरे पर संगीतकारों के मध्य बैठे, चौड़ी घनी दाढ़ीवाले दीर्घकेशी वृद्ध आशु-कवि शिवाजी अपने नये महाकाव्य का पाठ कर रहे थे।

11–730

कितना भावावेश था यशस्वी आशु-कवि के उस नये महाकाव्य में, हृदय में हलचल मचा देनेवाली कैसी शक्ति निहित थी उनके उस गायन में!

"सौ वर्षों की दासता की ज़ंजीरें अब जर्जर हो गयी हैं, टूट चुकी हैं!" शिवाजी गा रहे थे। "स्वतंत्रता अमर रहे! दुश्मन ने हिन्दुस्तान को शक्ति से नहीं, छल से जीता है। शेर लोमड़ी के जाल में फंस गया था, पर अब वह जाल को तोड़कर स्वतंत्र हो गया है!" आशु-कवि का स्वर ऊंचा उठता जा रहा था। "ओ लुटेरे, अत्याचारी! क्रुद्ध शेर से सावधान रह, उससे अपनी जान बचा! दुश्मन विश्वासघात करता है, देशद्रोहियों को ख़रीदता है, मातृभूमि के गद्दारों की खोज करता है, पर इस बार उसे कोई देशद्रोही मिलने को नहीं, अब यह फिर कभी नहीं दोहराया जायेगा!" आशु-कवि का जोशीला स्वर गूंज रहा था। "दिल्ली में विद्रोहियों के यशस्वी शूरवीर नेता भटखान, लखनऊ में साहसी सरदार अहमदशाह, झांसी में हिन्दुस्तान की यशस्विनी बेटी रानी लक्ष्मीबाई, इलाहाबाद में निडर लियाक़त अली ख़ां और कानपुर में अद्वितीय नाना साहब अंग्रेज़ों के काल हैं। स्वतंत्रता के झंडे तले हिन्दू व मुसलमान कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे हैं। हिन्दू व मुसलमान परस्पर भाई-भाई हैं। भारतवासियों की एकता की जय! स्वतंत्रता अमर रहे! ओ नीच, घृणित शत्रु! तेरा नाश होकर रहेगा। सारे देश में एक आग भड़क उठी है, जिसमें तू जलकर राख हो जायेगा। ओ छली, बेशर्म अंग्रेज़! देशद्रोहियों को खोजना छोड़ दे। हिन्दुस्तान उन लोगों का देश है, जो अपनी मातृभूमि के प्रति निःस्वार्थ प्रेम व भक्ति रखते हैं..."

ऐसा था शिवाजी का नया महाकाव्य।

अभी श्रोताओं के उल्लासपूर्ण अनुमोदन की आवाज़ें थम भी नहीं पायी थी कि प्रवेशद्वार पर एक हृष्ट-पुष्ट सिपाही आ खड़ा हुआ:

सम्पूर्ण शरीर धूल-धूसरित, सिर के घाव पर मैली पट्टी, कपड़ों पर रक्त के धब्बे, कमर में तलवार, ख़ंजर और होल्स्टर में पिस्तौल। वह हरावल से आ रहा था।

"महाराज," नाना साहब को झुककर प्रणाम करते हुए उसने कहा। "मुझे हमारे सेनापति ने भेजा है। फ़तेहपुर के निकट अंग्रेज़ों की जासूसी टुकड़ी से हमारी मुठभेड़ हो गयी थी। चार जासूसों को हमने क़ैद कर लिया। उनमें से एक ..." तभी सिपाही शिवाजी पर एक उड़ती निगाह डालकर चुप हो गया, जैसे उस अन्तिम बात को, जो उसे कहनी थी, कहने की सामर्थ्य ही खो चुका हो।

"उनमें से एक... बताओ, बताओ कौन?" नाना साहब ने पूछा।

"हां, महाराज, मैं उसे यहां अपने साथ ले आया हूं," सिपाही ने उत्तर में कहा। "वह अंग्रेज़ नहीं, हिन्दू है।"

"हिन्दू?"

"हां, महाराज, उसका घोड़ा गोली लगने से मर गया था, इसीलिए हम उसे पकड़ पाये। अगर हुक्म हो तो हाज़िर करूं।"

हुक्म हुआ और सिपाही ने क़ैदी को हाज़िर कर दिया।

क़ैदी गठीले बदन का सुन्दर नवयुवक था। उसकी वर्दी फटी हुई थी, बाल बिखरे हुए थे, पैरों में जूते नहीं थे। वह शस्त्रविहीन था। उसकी विशाल आंखों में भय की छाया थी। जैसे ही क़ैदी ने देहरी पर पांव रखा, शिवाजी अपने स्थान पर छटपटाकर रह गये। उनकी आवाज़ में आतंक समा गया। तीव्रता से उसकी तरफ़ एक क़दम बढ़ाकर वे चीखे:

"सन्दीप!"

क़ैदी ने तत्क्षण ही हथेलियों से अपना चेहरा ढक लिया। पिता की नज़र से नज़र मिलाने की शक्ति उसमें नहीं थी। स्पष्ट था कि उसकी आत्मा के किसी कोने में अभी भी कुछ नैतिकता शेष थी।

हां, अंग्रेज़ों की सैनिक वर्दी में वह युवक सन्दीप ही था, शिवाजी का इकलौता बेटा।

वह कलकत्ता में ब्रिटिश कॉलेज में पढ़ता था और किसी कारणवश इन गर्मियों की छुट्टियों में पिता के पास कानपुर नहीं आ सका था।

आज वह कारण स्पष्ट हो गया था। वह अंग्रेज़ों का भाड़े का टट्टू बन चुका था।

सन्दीप का रूप-रंग बदल गया था उसका सांवला चेहरा पीला पड़ गया था। क्षण भर में ही उसके हाथ-पांव शक्तिहीन हो चुके थे। उसकी कमर झुक गयी, लड़खड़ाते क़दमों से वह घिसटकर कोने की ओर गया और एक खम्भे का सहारा लेते हुए फ़र्श पर गिर गया।

नाना साहब व उनके अतिथियों ने आशु-कवि से आंख बचाने की कोशिश की।

शिवाजी की स्वाभिमान से भरी गरदन झुक गयी थी। उनकी आंखों की चमक ग़ायब हो चुकी थी। उनमें अब अंधेरा था। वे धरती पर नज़र गड़ाये खड़े थे।

'ओ छली, बेशर्म अंग्रेज़! देशद्रोहियों को ढूंढ़ने की कोशिश न कर।' इस समय उनके महाकाव्य के ये शब्द उन्हें अपना मज़ाक़ उड़ाते लग रहे थे, उनके कानों में विषैले धिक्कार की तरह गूंज रहे थे।

आशु-कवि ने अपनी दिवंगता पत्नी का स्मरण किया और मन-ही-मन उससे बातें करने लगे:

'ओ, राधा! तुम्हें याद है हमने अपने एकमात्र पुत्र के कैसे मीठे सपने देखे थे, कितनी उम्मीदें संजोयी थीं, क्या-क्या योजनाएं बनायी थीं। तुम्हारे निधन का दुःख अब तक मेरी छाती को जला रहा है; पर क्षमा करना, इस क्षण मैं स्वयं को सौभाग्यशाली महसूस कर रहा हूं कि तुम पुत्र के विश्वासघात को देखने के लिए जीवित नहीं हो। इस तरह चली गयीं जैसे जानती थीं कि हमारे माथे पर यह कलंक का टीका

लगेगा, सम्भवतः इसी लिए तुमने इस दुनिया को छोड़ने में देर नहीं लगायी ताकि यह दिन न देखना पड़े। मैं अब क्या करूं, राधा, मौत से भी बदतर इस अपमान को कैसे सहन करूं? हे ईश्वर! मैं अपनी पत्नी के साथ ही क्यों नहीं चला गया?'

इस दौरान सेनानायक सन्दीप की जिरह की जा रही थी। वह बड़ी मुश्किल से अपने पांवों पर खड़ा हो पा रहा था, उसका शरीर रह-रहकर कांप रहा था। जीवित बच पाने की उसे कोई उम्मीद नहीं थी, मन-ही-मन वह अपने जीवन से विदा भी ले चुका था, अतएव नाना साहब के प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे रहा था। हां, वह स्वेच्छा से भाड़े का सिपाही बना था। उसे वचन दिया गया था कि युद्ध में शौर्य व साहस दिखलाने के एवज़ में युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद उसे ऊंचा पद और अच्छा वेतन दिया जायेगा, बढ़िया निश्चिन्त जीवन जीने का अवसर मिलेगा। कलकत्ता में उसने सार्जेण्ट का लघुअवधि प्रशिक्षण प्राप्त किया था। कल उसने स्वेच्छा से जासूसी करने के लिए स्वयं को भेजने का प्रस्ताव रखा था। हां, जनरल हैवलक पूरी तरह सशस्त्र सेना के साथ कानपुर के लिए प्रस्थान कर चुका है। उसकी सेना में इतने घुड़सवार व इतने पैदल सैनिक हैं, इतनी तोपें और...

जिरह समाप्त हो गयी। नाना साहब ने हैवलक के विरुद्ध युद्ध करने के लिए तुरन्त प्रस्थान करने का निर्णय किया।

"कल तक देर हो जायेगी। आज ही रात चल देना चाहिए," उन्होंने घोषणा की और सेनानायकों को अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियों के प्रस्थान की तैयारी करने का आदेश दिया।

शीघ्र ही सेनानायक खेमे से बाहर चले गये।

तदनन्तर नाना साहब ने सन्दीप की ओर, जो स्वयं को भाग्य के भरोसे छोड़े उनके सम्मुख खड़ा था, दृष्टिपात किया। उस पर एक उड़ती नज़र डालकर उन्होंने अपना सिर झुका लिया, हथेलियों को

छाती के पास लाकर एक युग्म बनाया, और उंगलियों से मुहरवाली अंगूठी पर हाथ फेरते हुए गहन विचारसागर में निमग्न हो गये। उपस्थित लोग देशद्रोही को दी जानेवाली सज़ा को सुनने के लिए सांस रोककर इन्तज़ार कर रहे थे। न्याय का तक़ाज़ा था कि देशद्रोही को मौत की सज़ा दी जाये, पर शिवाजी की उपस्थिति में उनके पुत्र को मृत्युदण्ड दे पाना सहज नहीं था, क्योंकि वे उन्हें बहुत प्यार करते थे और उनके प्रति करुणाभाव रखते थे। सभी उपस्थित अतिथि इस भावना को समझ रहे थे। अभागे बाप को अचेत करने के लिए यह घटना ही काफ़ी थी कि उसका पुत्र देशद्रोही निकल गया। इस पर मृत्युदण्ड... बूढ़े बाप का हृदय क्या उस भयावह क्षण को सहन कर पायेगा जब जल्लाद की तलवार उसके बेटे की गरदन पर पड़ेगी?

अन्ततः नाना साहब ने घोषणा की।

"क़ैदी ने हमें शत्रु के विषय में बहुमूल्य और विश्वस्त सूचनाएं दी हैं," उन्होंने धीरे-धीरे बोलते हुए कहा। "अतएव मैं उसकी सत्यता तथा उसकी युवावस्था को ध्यान में रखते हुए उसे क्षमा करता हूं।"

नाना साहब के अपने स्वभाव के विरुद्ध दिये गये इस अप्रत्याशित फ़ैसले से सभी लोग स्तब्ध रह गये।

पर ठीक इसी समय शिवाजी उछलकर सामने आ गये और चीख़कर बोले:

"नहीं, महाराज, आप इसे माफ़ करते हैं, पर मैं नहीं करूंगा। देशद्रोही को मृत्युदण्ड मिलना ही चाहिए। मेरी इच्छा है कि इसे मौत की सज़ा दी जाये। मेरी इच्छा को ध्यान में रखकर ही आख़िरी फ़ैसला कीजिये, महाराज। यहां पर मुझे आपसे कहीं अधिक बड़ा अधिकार प्राप्त है, महाराज, क्योंकि मैंने ही उसे यह जीवन दिया था। और जो मैंने दिया है उसे लेने का मुझे अधिकार है।"

यह कहकर शिवाजी अविश्वस्त क़दमों से आगे बढ़े और दृढ़

हाथों से एक योद्धा की म्यान से दुधारा ख़ंजर निकालकर पुत्र के निकट आ खड़े हुए।

"पुत्र की हत्या करना पाप है, पर देशद्रोही की हत्या करना पुण्य," वे आवेश में बोले। "पर यदि देशद्रोही पुत्र ही हत्या करना पाप हो तो, हे शिव, तू मुझे क्षमा करना।" और कराहते हुए उन्होंने वह पैना ख़ंजर पूरी ताक़त के साथ पुत्र की छाती में घुसेड़ दिया।

सन्दीप निःशब्द उनके पांवों तले आ गिरा।

रक्त रंजित ख़ंजर को हाथ में लेकर शिवाजी दरवाज़े की ओर भागे और ख़ेमे से बाहर निकल गये।

"हर-हर महादेव!" शिवाजी गरज उठे और ख़ेमों, सिपाहियों के दलों, हाथियों, ऊंटों, गायों, बैलगाड़ियों और सामान के गट्ठरों के बीच से भागते हुए दूर निकल गये। "हर-हर महादेव! देशद्रोही मुर्दाबाद! मैं शिवाजी हूं, बहुत गा लिये मैंने गीत। बस, अब बहुत हो चुका। हे गंगा मां! हर-हर महादेव!"

चिलचिलाती धूप में वे आधे कोस तक यों ही भागते चले गये, पर किसी ने उन्हें नहीं रोका। उन्हें भागते देखकर हाथी, ऊंट, गायें और घोड़े तक चौंक उठे और कुछ समझ में न आने के कारण घबरा से गये। अन्ततः शिवाजी एक स्थान पर थककर गिर गये।

सभी ओर से सिपाही दौड़कर उनके पास आ पहुंचे। आशु-कवि चारों खाने चित्त पड़े थे। उनकी सांस रुक गयी थी। फैले हुए हाथों की हथेलियां रेतकणों से ढक गयी थीं, पर रक्तहीन मृत उंगलियों में जकड़े हुए ख़ंजर की मूठ अभी तक दिखाई दे रही थी।

धार्मिक प्रथा के अनुसार शिवाजी का अंतिम संस्कार कर दिया गया। उनकी राख को पवित्र गंगा के जल में प्रवाहित कर दिया गया। बारह तोपों से बारह बार सलामी दी गयी। इस तरह लोगों ने अपने प्रिय आशु-कवि को एक वीर का सम्मान देकर अन्तिम विदा दी।



फ़ज़लुद्दीन मुहम्मदियेव

कथाकार फ़ज़लुद्दीन मुहम्मदियेव का जन्म समरक़न्द में सन् १६२८ में एक जिल्दसाज़ के परिवार में हुआ था। हाई स्कूल पास करने के पश्चात् उन्होंने एक सामूहिक फ़ार्म में समयपाल का कार्य किया। अनेक वर्षों तक वह पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य करते रहे। सन् १६६२ में उन्होंने मास्को में उच्चस्तरीय साहित्य के पाठ्यक्रम में शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वह व्यंग्यात्मक पत्रिका "ख़ारपुश्तक" (कांटा-चूहा) के मुख्य सम्पादक बने और ताजिकिस्तान के लेखक संघ के प्रबन्धमण्डल के सचिव भी।

उनकी प्रारम्भिक कहानियां तथा लेख सन् १६५० से प्रकाशित होने आरम्भ हुए। तब से अब तक लेखक के अनेक कहानी-संग्रह, निबंध-संग्रह तथा उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। लेखक की लम्बी कहानियां "छोरवाला घर" तथा "परलोक की यात्रा" के लिए उन्हें ताजिक सोवियत समाजवादी जनतंत्र का रूदाकी पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है। फ़ज़लुद्दीन मुहम्मदियेव की कृतियां समसामयिक विषयों को समर्पित हैं और उनमें तीव्र संघर्ष देखने को मिलता है।

मल्ल-युद्ध

१

पहलवान को मील भर दूर से ही पहचाना जा सकता है। पहलवान देखने में रोबदार तो लगते ही हैं, इसके अलावा अपने बाह्य रूप को विशिष्टता प्रदान करने के उनके अपने-अपने तरीक़े भी होते हैं। उदाहरण के लिए एक पहलवान अपने प्रतिद्वन्द्वी को भयभीत करने के लिए लम्बी तलवार जैसी मूंछें रखना पसन्द करता है, तो दूसरा अपनी चाल को ऐसा भारी-भरकम बना लेता है कि धरती हिल उठे और तीसरा बोरे जैसे बड़े भारी-भरकम पेट से अपने प्रतिद्वन्द्वी को दहशत में डाल देना चाहता है। यों यह बात सबको पता है कि मल्ल-युद्ध करते समय ऐसा भारी पेट लाभ पहुंचाने के स्थान पर मुसीबत ही खड़ी करता है।

पर अहमद बेग इस तरह के पहलवानों से बिलकुल ही अलग था। उसे पहली बार देखनेवाला व्यक्ति कभी कल्पना भी नहीं कर सकता कि किसी भी तरह से असामान्य न लगनेवाला यह व्यक्ति एक लम्बे समय तक काफ़ी बड़े क्षेत्र के श्रेष्ठ पहलवान का लगातार ख़िताब पाता रहा होगा। पर इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि अहमद बेग देखने में बिलकुल मामूली लगता है। डील-डौल उसका ठीक-ठाक है, क़द भी औसत से कुछ लम्बा ही है, छाती चौड़ी, हाथ-पैरों की मांसपेशियां सुदृढ़, सिर बड़ा और माथा ऊंचा व खुला हुआ है। पर सच कहा जाये तो इस प्रकार के शरीर में पहलवानों जैसी कोई ख़ास बात नज़र ही नहीं आती। उसका डील-डौल एक सामान्य काश्तकार

जैसा था। अपनी छीदी मूंछों को वह इस तरह लापरवाही से रखता था कि उन बेचारियों को पता ही नहीं चलता था कि उन्हें किस तरफ़ को बढ़ना है – ऊपर या नीचे, या फिर कानों की ओर। चाल उसकी दृढ़ और नपी-तुली थी, पर उसमें यशस्वी पहलवानों की भव्यता की ज़रा भी झलक नहीं मिलती थी।

कुछ लोगों का कहना था कि अहमद बेग बड़ा चालाक है, वह जान-बूझकर ऐसा आवरण ओढ़े रहता है जिससे मल्ल-युद्ध के समय प्रतिद्वन्द्वी की सतर्कता जाग न सके, और उसे अचानक अपने प्रतिद्वंद्वी को अड़ंगी देकर ज़मीन पर बिछाने का मौक़ा मिल जाये। पर दूसरे लोग पूछते हैं कि अगर अहमद बेग चालाकी से ही विजय पाता है, तो वह उन पहलवानों को भी पराजित करने में क्यों समर्थ हो जाता है जो उसकी एक-एक हरकत से अच्छी तरह वाक़िफ़ रहते हैं? नहीं, चालाकी का इसमें कोई स्थान नहीं है। यह शक्ति और कौशल का ही कमाल है। चालाकी से आज तक किसी भी पहलवान को यश नहीं मिला ...

ताजिक राष्ट्रीय मल्ल-युद्ध प्रतियोगिता अपने तरह की अनोखी प्रतियोगिता है। इसमें विजय प्राप्त करने के लिये फुरती, हाथ-पैरों की शक्ति, कमर के पुट्ठों की दृढ़ता और शक्तिशाली गरदन – सबकी आवश्यकता होती है। यदि आपमें शक्ति है, पर चुस्ती का अभाव है तो आपसे शक्ति में आधा जवान भी जिसमें कौशल पूरी तरह विद्यमान है, मोंढ़ा लगाकर आपको चारों खाने चित्त कर सकता है, आपको अखाड़े के बीच तक पहुंचने दिये बिना ही! दूसरी ओर यदि आप कुशलता में संसार के सबसे कुशल पहलवान से भी एक हज़ार गुना अधिक कुशल हों, पर यदि ठीक समय पर आप अपने कौशल का उपयोग करने से चूक गये, तो भी विजय आपके हाथ से

फिसलकर दूर भाग सकती है।

अहमद बेग के प्रतिद्वन्द्वी उस पर न शक्ति से विजय प्राप्त कर सके और न कौशल से ही। मक्खन बिलोनेवाली पुरानी रई की तरह जिसका आधे से भी अधिक हिस्सा ज़मीन में गड़ा हो, अखाड़े के बीचों-बीच खड़ा वह ऐसा लगता था जैसे ज़मीन से ही उग आया हो। सत्तर दावों को जाननेवाला उसका प्रतिद्वन्द्वी देखता रह जाता था कि कब वह धरती पर चारों खाने चित्त पड़ गया।

किसी भीमकाय पहलवान से भिड़ते समय अहमद बेग कुशलता से उसे अखाड़े के कई चक्कर लगाने के लिए विवश कर देता और जब वह पूरी तरह थक जाता तो फुर्ती से टंगड़ी देकर उसे नीचे गिरा देता।

पर उसकी विजय में और उसके जीवन में लोगों को कुछ भी असाधरण देखने को नहीं मिला, अतएव उसके विषय में तरह-तरह की अविश्वसनीय अफ़वाहें फैलने लगीं। एक अफ़वाह तो यह थी कि अहमद बेग साधारण आदमी नहीं है, उस पर किसी दैवी शक्ति की छत्र-छाया रहती है। कहते थे कि उसे किसी पीर का संरक्षण प्राप्त है। हर पहलवान व्यायाम अवश्य करता है–या तो समय-समय पर अपने समान शक्तिशाली पहलवान से कुश्ती लड़कर अभ्यास किया करता है, या फिर डम्बेल या ऐसी ही किसी अन्य चीज़ के साथ अभ्यास करता है। पर अहमद बेग को व्यायाम करते हुए किसी ने आज तक नहीं देखा। जब से अहमद बेग काश्तकारी के अपने पैतृक धंधे में लगा, उसे हल जोतने, अनाज व सब्ज़ियां उगाने, बाग़ीचे की देख-भाल करने और सिंचाई के लिए नालियां खोदने के अतिरिक्त और किसी काम के लिए समय ही नहीं मिलता था... लेकिन इस पर भी जब कभी भी वह अखाड़े में उतरता, तो वर्षों से व्यायाम करनेवाला प्रतिद्वन्द्वी भी उसके सम्मुख टिक नहीं पाता था।

सच तो यह है कि काश्तकारी का दैनिक श्रम भी अखाड़े में किये जानेवाले किसी व्यायाम से कम नहीं होता। इसके अतिरिक्त सफ़ेद पहाड़ी की उन खड़ी ढलानों में, जहां कोई दूसरा लकड़ियों का गट्ठर सिर पर रखकर चलने की हिम्मत तक नहीं कर सकता था, वहां टोली-नायक के निर्देश पर हल चलाने और बुवाई करने के लिए सिर्फ़ अहमद बेग को ही भेजा जाता। अहमद बेग हल में बैलों को जोतता था। लकड़ी के हल को भी उसने अपने हाथ से ही बनाया था। इस हल को एक हल-रेखा से दूसरी में एक हाथ से उठाकर रख देना सिर्फ़ अहमद बेग के वश का ही काम था।

कहते हैं कि एक दिन जब वह हल जोत रहा था हरकारे ने आकर सूचना दी कि दोपहर के खाने के बाद कुश्ती की प्रतियोगिता का आयोजन किया गया है, जिसमें अहमद बेग को अनिवार्य रूप से भाग लेना है। अहमद बेग ने इसमें भाग लेने से इनकार कर दिया क्योंकि वह अगले दिन तक टोलीनायक को ज़मीन के उस टुकड़े की जुताई का काम पूरा कर देने का वचन दे चुका था। हरकारा यों ही ख़ाली हाथ वापस लौट गया, पर घण्टे भर बाद देह-ए-बाला गांव के एक किसान के साथ वापस लौट आया। उसके साथ खेल व शारीरिक व्यायाम की क्षेत्रीय समिति का अध्यक्ष भी था। अध्यक्ष ने सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष से प्रार्थना की कि जब तक अहमद बेग प्रतियोगिता में व्यस्त रहता है, तब तक के लिए किसी और को उसके स्थान पर काम करने के लिए भेज दिया जाये।

अहमद बेग के पास क्षेत्रीय केन्द्र जाने के अतिरिक्त अब और कोई चारा नहीं था। पर अभी इतना भी समय नहीं बीता था कि जिस में चाय की एक घूंट ली जा सके, ख़बर आयी कि अहमद बेग के स्थान पर काम करनेवाला किसान खड़ी ढलान से गिर गया है और उसके कन्धे में बुरी तरह चोट आयी है।

महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध में चार साल तक हिटलर की फ़ासिस्ट फ़ौजों के साथ लोहा लेने के बाद अहमद बेग बिना कोई चोट खाये सही-सलामत वापस आ गया, इस घटना के कारण भी उस समय उसके बारे में तरह-तरह के क़िस्से सुनाई देने लगे थे। पूरे पहाड़ी गांव में शायद ही कोई ऐसा घर था जहां युद्ध में शहीद या घायल लोगों के लिए मातम न मनाया गया हो। पर अहमद बेग जैसा गया था, वैसा ही सही-सलामत लौट आया। हां, एक बार युद्ध में उसके नज़दीक कहीं एक गोला फट गया। अहमद बेग खाई में कूद तो गया, पर उसके ऊपर इतनी ढेर सारी मिट्टी गिरी कि वह उसके नीचे दब गया। उसकी रेजीमेन्ट के साथियों ने मिट्टी खोदकर अहमद बेग को ज़िन्दा बाहर निकाल तो लिया, पर इसके बाद वह पूरे महीने भर तक कुछ नहीं सुन सका। उसके सिर में कुछ इस तरह भन-भन होती थी जैसे बर्रों के पूरे छत्ते ने वहां अड्डा जमा लिया हो। रह-रहकर उसके कानों में तेज़ सीटी-सी बजने जैसी आवाज़ें होती थीं। जब चिकित्सक उससे कुछ प्रश्न पूछते तो उसे सिर्फ़ उनके होंठ हिलते दिखाई देते और "गुम-गुम-गुम" या "बम-बम-बम" की आवाज़ के अतिरिक्त और कुछ सुनाई नहीं देता।

एक महीने बाद अहमद बेग अपनी टुकड़ी में वापस लौट आया।

जब अहमद बेग गांववालों को अपने युद्ध के क़िस्से सुनाता तो वे बड़े सम्मान के साथ ध्यान लगाकर सुना करते थे। उसके क़िस्सों में न कोई चालाकी होती और न बनावट। वह अपनी ओर से न तो बढ़ा-चढ़ाकर कुछ कहता और न अपने को हीरो दिखाकर शान बघारने का कोई प्रयास ही करता। पर फिर भी गांववाले आपस में बातें करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुंचते थे कि कुछ भी कहो, अहमद बेग मामूली आदमी नहीं है।

२

अहमद बेग की मनोदशा अच्छी नहीं थी। भारी चिन्ता ने उसे घेर रखा था। इस नौबढ़ मुहम्मद मुराद ने न जाने कितनी बार उसका अच्छा-भला दिन ख़राब कर दिया था।

अहमद बेग अपने दोस्त सलीम से मिलने जा रहा था। उन दोनों को साथ-साथ ही शादी की एक दावत में जाना था। किसी ने उसे पीछे से आवाज़ दी। अहमद बेग ने देखा तो पता चला कि मुहम्मद मुराद था। मुहम्मद मुराद ने अपनी बायीं बग़ल में पांच पूद आटे का बोरा ऐसे आसानी से दबा रखा था जैसे वह कोई हल्का रोयां हो। मुहम्मद मुराद ने पास आकर बोरे को धरती पर रखे बिना ही सम्मान प्रदर्शन के लिए अपना ख़ाली हाथ छाती पर रखकर अहमद बेग को झुककर सलाम किया, और तत्पश्चात् अहमद बेग के बढ़े हुए हाथ से हाथ मिलाने लगा।

"अस्सलाम अलैकुम। ख़ैरियत से तो हैं? तबीयत कैसी है? बड़े कम नज़र आते हैं आजकल। दावत के आयोजक ने आटा लाने की प्रार्थना की थी। आप भी वहीं चल रहे हैं ना? तो फिर चलिये, साथ-साथ चलते हैं," मुहम्मद मुराद तोते की तरह बड़बड़ किये जा रहा था और साथ ही अहमद बेग की उंगलियों को अपने लौहहस्त में लेकर और ज़ोर से दबाये जा रहा था।

अहमद बेग का उसके साथ ज़ोर आज़माने का इरादा नहीं था। वह खीझ तो रहा था पर युवा पहलवान के अभिवादन और प्रश्नों का उत्तर नम्रता से दे रहा था, साथ ही साथ उसके हाथ से अपनी उंगलियों को धीरे-धीरे छुड़ाने का प्रयत्न भी कर रहा था।

अगर कोई इस समय सड़क पर उन दो पहलवानों के शांतिपूर्ण वार्त्तालाप को सुनता और उनके मिले हुए हाथों को देखता तो उसे

सम्भवतः यही लगता कि युवा पहलवान अपने से बड़ी उम्र के यशस्वी पहलवान के प्रति सम्मान प्रकट कर रहा है। पर उस युवा पहलवान के मन में तो दूसरी ही बात थी...

अहमद बेग ने अपनी नाक आगे बढ़ाकर सूंघ लिया कि मुहम्मद मुराद ने शराब पी रखी है। यह देखकर कि युवा पहलवान उसकी उंगलियां घायल कर सकता है, अहमद बेग ने एक झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया।

मुहम्मद मुराद के होंठ एक ऐंठ के साथ फड़के। उसकी अधखुली आंखों में दुष्टता की चमक उभर आयी। उसने पुराने पहलवान के हाथ को दुबारा पकड़ने की कोशिश की, पर अहमद बेग ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए धीरे से कहा :

"बोरे को तो ज़मीन पर रख लेते कम-से-कम..."

अहमद बेग के शब्दों में भर्त्सना का पुट था, और यह संकेत था कि इस तरह बोरे को बग़ल में दबाये-दबाये ही ऐसे लापरवाही से अपने बुज़ुर्गों का अभिवादन करना कोई अच्छी बात नहीं है।

मुहम्मद मुराद ने बोरे को ज़मीन पर रख दिया, पर बोरा एक तरफ़ को झुककर गिरने लगा था। इस पर अहमद बेग ने मुंहवाले हिस्से से बोरे को पकड़ा और अपने बायें हाथ से आसानी से उठाकर दीवार के सहारे टिका दिया।

"बेटे..." अहमद बेग ने सीधे मुहम्मद मुराद से आंखें मिलाकर कहा। बड़े होने के नाते वह युवा पहलवान को नेक सलाह देना चाहता था कि वह शराब मुंह से न लगाये। कुछ लोग शराब को आनन्द पाने के लिए पीते हैं और कुछ लोग अपने को ज़्यादा बुद्धिमान और शक्तिशाली दिखाने के लिए। मुहम्मद मुराद निश्चय ही असली पहलवान है, इसलिए उसे किसी भी कारण से पीने से बचना चाहिए। अहमद बेग यही कहना चाहता था, अपने

सच्चे हृदय से उसके प्रति मंगलकामना प्रकट करना चाहता था, पर जब उसने मुहम्मद मुराद की आंखों में अपने लिए खुली घृणा के भाव तथा चेहरे पर उपहास की झलक देखी, तो उसके शब्द गले में ही अटककर रह गये।

ऊपरी तौर पर आदर प्रकट करने और भेंट होने पर ज़मीन तक नीचे झुककर अभिवादन करने के बावजूद यह युवक उसके प्रति किसी अज्ञात कारण से मन-ही-मन शत्रुता का भाव रखता है, यह सन्देह अहमद बेग को इससे पूर्व भी हो गया था। पर अब शराब पीने के बाद उसके मन के वे भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो गये थे। यह देखकर अहमद बेग की मनोदशा बिगड़ गयी। उसकी आत्मा में जैसे एक काला बादल छा गया। उसे लगा कि जैसे इस क्षण कोई परम दुर्भाग्य की घटना घटित हो गयी है। उसके मन की शांति का सहारा भरभराकर गिर पड़ा...

३

दावत में अहमद बेग अपने दोस्त सलीम मुअल्लिम * के साथ पहुंचा। सलीम के साथ उसकी बचपन से दोस्ती थी। गरम ** के शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में शिक्षा पाकर सलीम शिक्षक बन गया। वाह्य छात्र के रूप में इन्स्टीट्यूट की पढ़ाई समाप्त करने के बाद सलीम को विद्यालय का प्रधानाध्यापक बना दिया गया। तत्पश्चात उसका चुनाव ग्राम सोवियत के अध्यक्ष के रूप में हो गया। पर उसने कभी भी अहमद बेग से अपनी दोस्ती नहीं तोड़ी। एक लम्बे अरसे से उसने स्कूल में पढ़ाना छोड़ दिया था, पर उसे अब भी लोग पहले की तरह सलीम मुअल्लिम के नाम से पुकारते थे।

इन दोस्तों को गांव के सम्मानित लोगों के साथ बरामदे में बिठाया

---

* मुअल्लिम – अध्यापक, मास्टर।

** गरम – ज़िले का नाम।

गया और उनके सम्मुख थालियों में मिठाइयां, फल और दूसरे पकवान परोसे गये।

दावत सुबह से ही शुरू हो गयी थी। पर शाम को निमन्त्रित मेहमान विशिष्ट सम्मानित अतिथियों की कोटि में आते थे, अतएव गृहस्वामी इस बात का विशेष ध्यान रख रहा था कि उनकी ठीक ढंग से ख़ातिर-दारी की जाये।

छायादार शहतूत के पेड़ के नीचे मिट्टी के चबूतरे पर युवक-समुदाय इकट्ठा था। एक सम्मानित स्थान में कृषिविज्ञ बैठे हुए थे, उसके दोनों तरफ़ शिक्षक, पशुचिकित्सक और उनसे हटकर कुछ दूरी पर वे युवक बैठे हुए थे जो अक्सर सामूहिक फ़ार्म के प्रशासक मंडल के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहते थे और गांव की युवा सम्पदा माने जाते थे। इन्हीं लोगों के मध्य मुहम्मद मुराद भी बैठा था। वह दोशाम्बे और अन्य शहरों में हुए मल्ल-युद्ध के बारे में ज़ोर-ज़ोर से बोल रहा था।

युवकों की आवाज़ हर क्षण तेज़ होती जा रही थी। गायक बारी-बारी से आंगन के बीचोंबीच उपस्थित होकर रुबाब तथा डफ़-वाद्यों की संगत में अपना गायन प्रस्तुत कर रहे थे। शहरी कलाकारों की नक़ल करते हुए अपने गायन के मध्य वे भी अतिथियों के बीच चहलक़दमी करने लगते थे।

अहमद बेग का ध्यान गीतों की तरफ़ नहीं था। 'शायद भावनाओं को नियन्त्रण करनेवाली ग्रन्थियां उम्र ढलने के साथ-साथ कमज़ोर पड़ती जा रही हैं,' वह सोच रहा था। दस साल या पांच ही साल पहले कोई उसका अपमान कर जाता तो वह स्वयं पर नियन्त्रण कर लेता था। 'हाथ की पांचों उंगलियां बराबर नहीं होतीं,' सोचते-सोचते उसे एक लोकोक्ति का स्मरण हो आया: 'अगर कोई नीच सज्जन व्यक्ति से ऊपरी आसन में बैठता है तो कोई बात नहीं, क्योंकि समुद्र में कूड़ा-कचरा उसकी ऊपरी सतह पर ही रहता है, जबकि मोती तल

में होता है।' ...तो कुछ साल पहले तक वह आसानी से अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण कर लेता था, पर अब अगर कोई उसकी मनोदशा ख़राब कर देता है तो उसे पूरे हफ़्ते भर बेचैनी बनी रहती है।

अजीब बात है, इस मुहम्मद मुराद को मुझसे क्या चाहिए? आस-पास के सभी पहलवानों को पछाड़ चुका है, काफ़ी पुरस्कार भी हासिल कर चुका है, तीनों पड़ोसी इलाकों में सम्मानित पहलवान का मान-पत्र भी इसे मिला है, कई बार दोशाम्बे हो आया है, एक बार पड़ोसी गणतंत्र – संभवत: फ़्रुन्ज़े – की यात्रा करने का अवसर प्राप्त कर चुका है... उसके लिए यह काफ़ी नहीं क्या? अहमद बेग पर ज़रूर ही मोंढ़ा लगाना चाहता है, और वह भी सार्वजनिक रूप से, सभी लोगों की आंखों के सामने।

पर अहमद बेग चार साल हुए कुश्ती लड़ना बंद कर चुका है। अब पुन: प्रतियोगिताओं में भाग लेना उसे ठीक नहीं लगता। पहलवानी करना जवान पुरुषों का काम है। उसके हमउम्र पहलवान कभी के अखाड़े छोड़ गये। आख़िर मल्ल-युद्ध के भी तो कुछ अलिखित नियम होते हैं।

क्या यह ठीक रहेगा कि उन सभी नियमों की परवाह न करते हुए इस बदतमीज़ नौबढ़ को पाठ पढ़ा दिया जाये? पिछले वर्ष इस काम को पूरा करने के लिए दो मौक़े मिले थे। पहला मौक़ा तो ख़ैर बहुत ग़लत समय पर मिला था। तब अहमद बेग शहर से लौट रहा था। शहर के अस्पताल में उसकी पत्नी बीमार पड़ी थी, और तब वह उसी के ग़म में डूबा हुआ था। उस समय इलाक़ाई केन्द्र के खेल के मैदान में मल्ल-युद्ध की प्रतियोगिता चल रही थी। मुहम्मद मुराद अपने से प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले पहलवानों को चुनौती देता हुआ अखाड़े में उछलकूद मचा रहा था। उसने ट्रेकसूट पहन रखा था। पिंडलियां खुली हुई थीं। मैदान में क़ालीन जैसी बिछी कोमल घास पर नंगे पांव उछलते हुए उसकी बिना आस्तीनोंवाली जैकेट के दोनों

और हवा में उड़ते हुए उसे द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत लड़ाकू मुर्ग़े का रूप प्रदान कर रहे थे। बीच-बीच में वह सिर से टोपी उतारकर अपने पसीने से लथपथ चेहरे पर पंखा झलने लगता और इसी बीच चुनौती-भरी दृष्टि से अग़ल-बग़ल देखने लगता। स्पष्ट लग रहा था कि इस बीच वह अपने कई प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर चुका है और अब नये प्रतिद्वन्द्वी की प्रतीक्षा में अखाड़े में चक्कर लगा रहा है। पर किसी में इतना साहस नहीं था कि उसके विरुद्ध भिड़ने के लिए अखाड़े में उतरे।

अहमद बेग को देखकर मुहम्मद मुराद ने अपने शरीर को आधा झुकाते हुए सलाम किया और फिर खुले आम घमण्ड के साथ सिर ऊपर उठाते हुए पुराने पहलवान पर अर्थपूर्ण दृष्टि डालने लगा।

"शाबाश बेटे, तुम्हें कभी थकान न हो," अहमद बेग ने उसे ज़ोर से आवाज़ दी और अपने रास्ते चला गया।

दूसरी बार इसी अखाड़े में उसे सलीम मुअल्लिम लेकर आया। प्रतियोगिता के प्रधान निर्णायक ने एकमात्र लकड़ी की बेंच से, जो चिनार की छाया में पड़ी हुई थी, लड़कों को हटाकर सम्मानित अभ्यागतों को बैठा दिया। यह प्रतियोगिता अक्तूबर त्योहार के कुछ ही पूर्व सम्पन्न हुई थी। पूरे इलाक़े से लगभग तीस पहलवान इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए इकट्ठे हुए थे। प्रतियोगिता में विजयी पहलवानों को ट्रांज़िस्टर, घड़ियां, सूट, चोग़े और नाना प्रकार की दूसरी वस्तुएं पारितोषिक के रूप में प्रदान की गयी थीं।

मुहम्मद मुराद ने अपने अंतिम प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर दिया था। दूर के पहाड़ी गांवों से आये हुए दो-तीन अन्य लड़कों को, जो उसके साथ ज़ोर आज़माने का ख़तरा मोल लेना चाहते थे, चारों खाने चित्त कर दिया था। तत्पश्चात् वह अपनी खूंटी पर बंधे हुए घोड़े की तरह अखाड़े के चारों ओर नथुने फुलाते हुए कुलांचें भरने लगा। वह

आदतन अपनी टोपी से मुख पर हवा करता जा रहा था। उस युवा पहलवान की गरदन शक्तिशाली थी, हाथों की मांसपेशियों की तुलना तरबूज़ों से की जा सकती थी। उसके हाथ, पांव, गरदन और छाती जैसे अंगों की मांसपेशियां उछली पड़ रही थीं और देह की प्रत्येक गति के साथ हिलने लगती थीं। शरीर पर चू आये पसीने की बूंदें अस्ताचल-गामी सूर्य के प्रकाश में चमक रही थीं।

कोई भी उससे भिड़ने के लिए मैदान में नहीं उतरा। तब मुहम्मद मुराद लाल कपड़े से ढकी मेज़ के पास गया और निर्णायकों के कान में झुककर कुछ कहने लगा। शारिरिक व्यायाम समिति के अध्यक्ष ने उत्तर में अपने कन्धे उचका दिये।

अहमद बेग अपने मित्र सलीम मुअल्लिम के साथ बातें कर रहा था। सहसा तभी अप्रत्याशित रूप से उसके कानों के ठीक ऊपर किसी की आवाज़ गूंजी: "अहमद बेग अका! अहमद बेग अका!" उस बेंच के पास आकर, जहां दोनों दोस्त बैठे बातें कर रहे थे, प्रधान निर्णायक बोला। "मुहम्मद मुराद पूछ रहा है कि क्या आपने सचमुच ही अब कभी अखाड़े में न उतरने का फ़ैसला कर लिया है?"

अहमद बेग का चेहरा लज्जा से लाल हो उठा। ओह, अब समझा कि इन सब कानाफूसियों और कन्धे उचकाने का क्या अर्थ था! युवा पहलवान ऐसे ही नहीं उचक रहा है, सचमुच ही उससे... ख़ैर ठीक है। कहावत है कि जो होता है, अच्छे के लिए होता है... अब उसके लिए और कोई चारा नहीं रहा। वह उसकी चुनौती को स्वीकार करेगा...

पर सलीम मुअल्लिम ने उसका कंधा दबाकर उसे अपने स्थान पर ही बैठे रहने को विवश किया। तत्पश्चात् निर्णायक को सम्बोधित करते हुए उसने कहा:

"तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि अहमद बेग ने एक लम्बे अरसे से कुश्ती लड़ना छोड़ दिया है। फिर अब क्यों पूछ रहे हो?

कमाल करते हो, तुम क्या आसमान से उतरकर आये हो?"

निर्णायक ने क्षमा-प्रार्थना के स्वर में कुछ शब्द बुदबुदाये और अपने स्थान पर लौटकर प्रतियोगिता के समाप्त होने की घोषणा कर दी।

दर्शकगण एक-एक कर विदा होने लगे।

अपने प्रशंसकों की भीड़ से घिरे मुहम्मद मुराद ने अहमद बेग के पास से गुज़रते समय उसकी ओर देखा तक नहीं। उसे इनाम में चोग़ा और घड़ी मिली थी। जान-बूझकर ऊंची आवाज़ में वह बोला:

"हर बार घड़ी ही देते हैं, घड़ियों की दूकान खोलनी है क्या मुझे?"

अहमद बेग सोच में डूबा हुआ चल रहा था। उसकी बग़ल में चल रहा सलीम मुअल्लिम अपनी विनोदोक्तियों से मित्र का मनोरंजन करने का प्रयास कर रहा था।

"किस सोच में डूबे हुए हो? पोतेवाले बन चुके हो पर अब भी पहलवानी की तरफ़ खिंचे जा रहे हो। अगर ऐसा ही मन कर रहा है, तो आओ, मुझसे दो-दो हाथ कर लो।"

"तुमसे?"

"और क्या? भूल गये क्या, बचपन में हम दोनों कैसे कुश्ती लड़ते थे? मुझे याद है, दो-तीन बार तो मैंने ही तुम्हें पटकनी दे दी थी..."

अहमद बेग अनिच्छा से मुसकराया और मज़ाक़िया अन्दाज़ में बोला:

"बिल्कुल सच है पर यह सब बचपन की बात थी। अब तुम हमारी ग्राम सोवियत के अध्यक्ष हो, अर्थात् ख़ुद ही सोवियत सत्ता हो। और जिन्होंने इस सत्ता से टक्कर लेने की कोशिश की, उनका भाग्य किसी मे छिपा नहीं..."

शोरबा कभी का खाया जा चुका था युवा गायक का गीत जारी था। विनोदी पुरुषों के बीच हाज़िरजवाबी की प्रतियोगिता हो रही थी। बरामदे में बैठे अधेड़ उम्र के लोग एक दूसरे को अपने अतीत के क़िस्से सुना रहे थे। युवकों की टोली के गोल घेरे में थोड़ी-थोड़ी देर में विषयान्तर हो जाता था। उनकी चहलकदमियों के बीच मुहम्मद मुराद का तीखा, ऊंचा स्वर अलग से पहचाना जा रहा था।

"अजीब लड़का है," उसकी तरफ़ इशारा करते हुए सलीम मुअल्लिम ने कहा। "तुम्हारे साथ भिड़ने के लिए बहुत हाथ-पैर मार रहा था।"

"हां," अहमद बेग ने पुष्टि की।

"मुझे उसकी यह बात पसन्द नहीं है। कल ज़रूर बात करूंगा उससे।"

"कहोगे क्या?"

"घबराओ मत, क्या कहना चाहिए, यह मैं अच्छी तरह जानता हूं।"

सहसा अहमद बेग ने अनुमान लगा लिया कि उसके मित्र के मस्तिष्क में कौन-सा विचार घूम रहा है। चाहे कुछ भी कह लें, अहमद बेग पूरी ज़िन्दगी किसान ही रहा और किसान लोग होते बड़े सरल-हृदय हैं। उसकी समझ में अब कहीं जाकर आया कि दोस्त का उसके बारे में क्या ख़याल है। अहमद बेग की पहलवानी की अब केवल यादें ही बाक़ी रह गयी थीं। इसीलिए पिछले वर्ष अक्तूबर में त्योहार के दिनों सलीम ने अहमद बेग को अखाड़े में नहीं उतरने दिया और अभी भी वह इसी बात को ध्यान में रखकर मुहम्मद मुराद के साथ बातचीत करना चाहता था। उसके दिमाग़ में बिठा देना चाहता था, उसे चेतावनी

देना चाहता था कि अहमद बेग से भिड़ने का ख़याल छोड़ दे। ख़ुदा का शुक्र है कि अभी अहमद बेग अपने दोस्त से आज सुबह की उस घटना का ज़िक्र नहीं कर पाया था, जब वह सड़क पर खड़ा उसका इंतज़ार कर रहा था। वरना सलीम मुहम्मद मुराद को ग्राम सोवियत में बुलाकर उसके कान अवश्य उमेठ देता... ओह, कितनी थू-थू होती दुनिया में तब उसकी!..

"सलीम," अहमद बेग ने धीरे से अपने दोस्त के कान में कहा। वह नहीं चाहता था कि आस-पास के लोग उनकी बातचीत सुनें। "मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूं..."

"कहो, मैं सुन रहा हूं।"

"तुम मेरे साले को जानते हो? हां, हां, क़साई को। उसमें एक मज़ेदार ख़ूबी है। मान लो तुम किसी भेड़ को काटना चाहते हो तो वह तुमसे मांग करेगा कि उसे वह भेड़ दिखा दी जाये। वह भेड़ को गर्दन के पिछले हिस्से से पकड़कर ऊपर उठा लेगा, और फिर धरती पर छोड़कर उसका शरीर टटोलेगा। और फिर तुमसे कह देगा कि आपकी भेड़ का कुल इतना वज़न है, इसमें से इतना मांस निकलेगा और इतनी चर्बी। काटने के बाद अगर तुम्हें तोलने का समय मिल जाये तो तुम देखोगे कि जितना मांस और जितनी चर्बी उसने बताई थी, उतनी ही निकली, उससे एक किलोग्राम भी इधर-उधर नहीं।"

"हां... हां... मैं भी जानता हूं एक ऐसे आदमी को। नरज़ी चक्कीवाला अनाज के बोरे पर नज़र डालते ही उसका सही-सही वज़न बता देता है।"

"शाबाश, तो तुम मेरी बात समझ ही गये..."

"हां, फिर भी तुम कहना क्या चाहते थे?"

"जब मैं कुश्ती लड़ा करता था तो पहली ही नज़र में अपने प्रतिद्वन्द्वी की ताक़त का अन्दाज़ा लगा लेता था।"

“और अब ?”

अहमद बेग एक मिनट तक चुपचाप बैठा रहा, और फिर बोल पड़ा :

“अब भी।”

“तो तुम उसको पाठ पढ़ा सकते हो?” सलीम मुअल्लिम ने चबूतरे की तरफ़, जिस पर युवावर्ग बैठा हुआ था, इशारा करते हुए कहा। “तब फिर अब तक चुप क्यों थे?”

“ईर्ष्यालु है वह। अब तक मैं अपनी ज़बान से यह शब्द निकालना नहीं चाहता था। ईर्ष्यालु। बीस साल का भी नहीं हुआ है, लड़का-सा ही है अभी, पर कितनी दुष्टता भरी हुई है उसमें। जब उसके मन में अपने लिए इतनी घृणा देखता हूं तो आत्मा कलक उठती है।”

“अजीब आदमी हो तुम भी, अहमद बेग!”

“मान लो, ऐसा कोई ईर्ष्यालु हमारी उम्र का होता तो मैं उसकी तरफ़ ध्यान न देता... कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं होती। पर इस बीससाले ईर्ष्यालु का क्या किया जाये? आंखें उसकी काली हैं। काली आंखों की हमारे शायरों ने ख़ूबसूरत-ख़ूबसूरत चीज़ों से तुलना की है, पर विश्वास कर, मेरे भाई, उसकी काली आंखें मुझे बर्रे की तरह, बिच्छू की तरह काटने लगती हैं...”

“हां, नज़र तो उसकी तीखी है,” सलीम मुअल्लिम ने सहमत होते हुए कहा, और फिर कुछ सोचते हुए चुप हो गया। “कुछ विचित्र-सी अरुचिकर है उसकी नज़र। पर तुम भी तो विचित्र हो। अरे भई, लोग तरह-तरह के होते हैं। तुम चाहते हो कि सभी पहलवान ऐसे ही न्यायप्रिय और नेक हों जैसा नौरोज़ था?”

“पता नहीं... मैं तुम्हें अपने मन की बात समझा नहीं सकता।”

पुलाव परोसा गया। अहमद बेग चाक़ू उठाकर मांस के टुकड़े करने लगा। इसी क्षण उसके पास गृहस्वामी का बेटा आ पहुंचा। उसके

हाथ में एक पतली और बड़ी-सी रोटी थी। रोटी के ऊपर मांसदार एक मज्जेवाली हड्डी पड़ी हुई थी...

"अहमद बेग चचा के लिए..." कुछ झेंपते हुए छोकरे ने कहा। उसके चेहरे को देखने से लगता था कि वह पहली बार ऐसा काम कर रहा है।

"किसने भेजा है?" सलीम मुअल्लिम ने उसके हाथ से रोटी लेते हुए पूछा।

"मुहम्मद मुराद ने," लड़के ने उत्तर दिया।

दोनों दोस्तों ने अर्थपूर्ण दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखा।

५

अहमद बेग दावत से लौटते समय काफ़ी उदास-सा प्रतीत हो रहा था। उसे इस समय अकेले में बैठकर कुछ सोचने की इच्छा हो रही थी...

विलम्ब से उदित चन्द्रमा की रजत रश्मियां पर्वतशिखरों को आलोकित कर रही थीं। छिटकी हुई चांदनी में खलिहान में पड़ा भूसे का ढेर रगड़कर चमकायी हुई तृणमणि के समान चमक रहा था। हज़ारों की संख्या में झींगुर अपना उदास-उदास-सा गीत गुनगुनाये जा रहे थे। उनके एकरस गीत की उदास पृष्ठभूमि में गांव से आती डफ़ और रुबाब की ध्वनियां अहमद बेग को कहीं दूर से आती अनचीन्ही ध्वनियों-सी लग रही थीं।

बूढ़ा रखवाला गाहने की मशीन के पास पड़ी लोहे की खाट पर सोया पड़ा था। अहमद बेग पिछले दो सप्ताहों से पूरे दिन भर इस खलिहान में काम करता आ रहा था। बूढ़े रखवाले के साथ दो-एक घंटे बिताने के लिए वह कभी-कभी शाम को भी यहां का चक्कर लगा लिया करता था।

रखवाले को सोया देखकर अहमद बेग घने छायादार क़ैराग़ाच की ओर बढ़ चला और उसके तले जाकर बैठ गया। क़ैराग़ाच की शीतल छाया दिन में विश्राम के लिए उपयुक्त जगह थी। सभी खलिहानों में एक विशेष गुण होता है। आपका हृदय कितना ही उदास और भारी क्यों न हो, दो एक घंटे यहां बिताने के बाद आपकी सारी उदासी छू-मन्तर हो जाती है, आपका हृदय शांति अनुभव करने लगता है। पर आज अहमद बेग का मन किसी तरह शांत नहीं हो पा रहा था। लाख प्रयत्न करने के बावजूद वह अपने मस्तिष्क से उन विचारों को नहीं निकाल पा रहा था। मुहम्मद मुराद का वह अपमानजनक ढंग से हाथ मिलाना, उसकी शत्रुतापूर्ण निगाहें, दावत में सबके सम्मुख मज्जेवाली हड्डी भिजवाकर भद्दे ढंग से संकेत करना कि अहमद बेग की शक्ति चुक चुकी है, कि उसे अब अपनी चुकी हुई शक्ति की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए – यह सब उसके मस्तिष्क को रह-रहकर कुरेदे जा रहे थे।

"लड़का ख्याति के नशे में पूरी तरह धुत्त हो गया है ... प्रसिद्धि की बीमारी ने उसका दिमाग़ घुमाकर रख दिया है," अहमद बेग ने ठंडी सांस लेकर सोचा। "सलीम ठीक कह रहा था – लोग हर तरह के होते हैं। हर एक का अपना-अपना ..."

अहमद बेग के मस्तिष्क में अपने गत यौवन की कुछ तस्वीरें साकार हो उठीं। उसे नौरोज़ पहलवान से अपनी प्रथम मुलाक़ात याद आ गयी।

उन दिनों नौरोज़ पहलवान का बड़ा नाम था। उसके यश का सर्वत्र बोलबाला था। तब अहमद बेग नया-नया पहलवान बना था, पर फिर भी उसकी जय-गाथा पड़ोसी क्षेत्रों के पहलवानों के कानों तक पहुंच चुकी थी। सम्भवत: अहमद बेग की इतनी शीघ्र प्रसिद्धि का कारण यह था कि उसे उस समय विजयश्री प्राप्त हुई थी जब पामीर के बड़े राजमार्ग का निर्माण अपने पूरे ज़ोरों पर था। सड़क निर्माणकर्त्ताओं के त्योहार के दिन हुए उस मल्ल-युद्ध में उसे अपने जीवन की प्रथम

विजय प्राप्त हुई थी। आम तौर पर सड़क पर जो कुछ होता था उसकी ख़बर शीघ्र ही सब तक पहुंच जाती थी क्योंकि सड़क निर्माण के कार्य में ताजिकिस्तान के कोने-कोने से लोग इकट्ठा हुए थे। और यह तो राष्ट्रीय मल्ल-युद्ध था जो सड़क निर्माताओं का एक प्रमुख मनोरंजन था।

एक बार अहमद बेग अपने घोड़े को, जो पांव में चोट लगने के कारण लंगड़ा रहा था, पशुचिकित्सक के पास इलाज करवाने के लिए ऊपर के गांव में ले गया। यद्यपि घोड़ा बड़ी मुश्किल से चल पा रहा था, फिर भी अहमद बेग उसे सड़क के रास्ते से न ले जाकर पगडंडी से ले गया ताकि रास्ते में किसी से भेंट न हो, क्योंकि यह तय बात थी कि जो भी व्यक्ति रास्ते में मिलता वह अनिवार्य रूप से प्रश्न करता कि कब और कहां घोड़े का पांव घायल हुआ, यह जानने की इच्छा रखता कि अहमद बेग ने फ़लां-फ़लां ढलान में पायी जानेवाली फ़लां बूटी को खोजकर उसे कूट-पीसकर घोड़े के पांव में लेप किया या नहीं, फ़लां चश्मे के स्वास्थ्यकर जल का उपयोग किया या नहीं, या इसी प्रकार के अन्य प्रश्न करता।

पगडंडी के एक मोड़ पर अहमद बेग सहसा रुक गया था। लड़खड़ाकर चलते हुए घोड़े ने अपना नर्म नथुना उसकी गरदन में गड़ाकर एक गरम सांस छोड़ी, मानो उसके अचानक इस तरह रुक पड़ने का कारण पूछना चाहता हो।

चश्मे के निकट अख़रोट के पेड़ के नीचे लगभग तीस क़दम की दूरी पर एक व्यक्ति ज़मीन पर पटका बिछाकर अहमद बेग की ओर मुंह किये हुए घुटनों के बल बैठा नमाज़ पढ़ रहा था। उसका सिर झुका हुआ था और होंठ निःशब्द कुछ बुदबुदा रहे थे।

नमाज़ पढ़ते समय किसी को टोकना नहीं चाहिए। अतएव अहमद बेग ने घोड़े की लगाम निकट की झाड़ी पर फेंक दी और स्वयं एक

पत्थर के ऊपर बैठकर उस अपरिचित व्यक्ति की नमाज़ ख़त्म होने की प्रतीक्षा करने लगा।

थोड़ी देर बाद चश्मे की ओर से एक आवाज़ सुनाई दी :

"ए ... बेटे, इधर आओ!"

अपरिचित ने अब अपना पटका एक दूसरी जगह पर बिछा लिया था। इस समय वह अपनी ख़ुरजीं में से दूध घी में गुंथे हुए आटे की रोटी, सूखी ख़ूबानियां, किशमिश, उबले अण्डे और कुछ अन्य खाद्य-पदार्थ बाहर निकाल रहा था। ख़ुरजीं से भोजन निकालकर उसने अपना चेहरा ऊपर उठाया। अहमद बेग को पहचानने में देर नहीं लगी कि उसके सम्मुख एक पहलवान उपस्थित है।

"तुम इसी गांव के रहनेवाले हो?" दुआ-सलाम के बाद उस अपरिचित व्यक्ति ने उस दिशा की ओर जहां से अहमद बेग आ रहा था, संकेत करते हुए प्रश्न किया।

"जी।"

"मेरे साथ बैठकर भोजन करो, बेटे। अकेले मेरे गले से कौर नीचे नहीं उतरता है।"

यद्यपि अहमद बेग को जाने की जल्दी थी, पर अपरिचित व्यक्ति कुछ इतनी सौजन्यता और कुछ इतने सहज स्नेह से मुसकराते हुए बात कर रहा था कि अहमद बेग एकाएक इनकार नहीं कर सका।

वे दस्तरख़ान के पास बैठ गये और मज़ेदार रोटी को चश्मे के पानी में, जो पगडंडी काटकर वानच नदी से जा मिलता था, भिगोकर खाने लगे।

दर्द के कारण अपने पांव को सिकोड़कर ऊपर उठाये हुए क़ुम्मैत घोड़ा अपने मालिक को शिकायतभरी नज़रों से देख रहा था। वह रह-रहकर फूत्कार कर रहा था और अधीरता के साथ अपने सिर को हिलाये जा रहा था।

पथिक ने अहमद बेग से सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष का नाम पूछा और गांव के बुज़ुर्गों के स्वास्थ्य के बारे में रुचि प्रकट की। अहमद बेग ने, जहां तक सम्भव हुआ, उसके प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दिया।

"कुछ साल पहले मैं आपके गांव आया था," अपरिचित व्यक्ति ने कहा। "अच्छा गांव है आपका, आबोहवा भी बेहतर है, लोग भी नेकदिल और मेहमाननवाज़ हैं।" पानी में भिगोयी रोटी को चबाते हुए सहसा उस अपरिचित व्यक्ति ने प्रश्न किया: "अहमद बेग को जानते हो?"

"कौन अहमद बेग?" युवक का हृदय तेज़ी से धड़क उठा।

"क्या आप लोगों के यहां बहुत सारे अहमद बेग हैं?"

"सयाने लोगों में तो एक ही है।"

अपनी ग़लती महसूस कर अहमद बेग के गाल शर्म से लाल हो गये। सौभाग्य से इस समय पथिक ख़ुरजीं में से कुछ निकाल रहा था, अतएव अहमद बेग के चेहरे पर उसकी दृष्टि नहीं पड़ पायी।

"हां, हां, मेरा मतलब उसी से है – अहमद बेग पहलवान से।"

"सही-सलामत है।"

"कहते हैं उसमें ताक़त भी है और कौशल भी?"

"ताक़त तो उसमें है, पर अभी लड़का ही है..." अहमद बेग बुदबुदाया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि शर्म से अपना मुंह कहां छिपाये। अपने बारे में ऐसे बोलना, जैसे किसी और आदमी के बारे में बात कर रहा हो, यह अजीब ही लग रहा था।

"बेटे, जवानी और कुश्ती का तो अच्छा साथ होता है।"

"कौन जानता है..."

"तुम भी भाई, पहलवानी में रुचि रखते हो, यह मैं फ़ौरन ही पहचान गया था... क्या नाम है तुम्हारा?"

बातचीत ने अहमद बेग की इच्छा के विरुद्ध कुछ ऐसा रुख़ ले लिया था कि वह सच-झूठ कुछ भी बोल नहीं पाया था। अब यदि वह इस स्थिति में अपरिचित व्यक्ति को अपना सही नाम बता देता है तो उसका बुरा मानना स्वाभाविक ही है। और ग़लत नाम बताने से झूठ के दलदल में और भी ज़्यादा फंस जाने का ख़तरा है।

"कभी-कभी अखाड़े में उतर लेता हूं," कुछ घबराहट के स्वर में अहमद बेग ने कहा। वह अल्लाह से मना रहा था कि अपरिचित कहीं दुबारा वही सवाल न कर बैठे।

"अहमद बेग से लड़ी है कभी कुश्ती? शायद उसने तुम्हें पटकनी दे दी होगी?"

"हम बराबर रहे।"

"वाह! क्या कहने!" अपरिचित ने प्रसन्नता के स्वर में कहा और अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ।

अहमद बेग भी उठ खड़ा हुआ। अपरिचित ने उसकी ओर सवालिया नज़रों से देखा। एक उदार मुसकान से उसका चेहरा खिल उठा।

"आओ, ज़रा दो-दो हाथ कर लें, बेटे?" वह बोला।

"कैसे? ... मैं तो ..." अपने घोड़े की ओर मुड़कर देखते हुए अहमद बेग ने कहा। शेष शब्द जैसे उसके मुंह के मुंह में ही अटक गये।

"कोई बात नहीं, इसमें बहुत समय नहीं लगेगा," पहले जैसी ही मुसकराहट होंठों पर लाते हुए अपरिचित ने ज़ोर दिया। सम्भवतः उसे अपने ही ऊपर हंसी आ रही थी क्योंकि वह एक निर्जन स्थल में जीवन में पहली बार मिले व्यक्ति से कुश्ती लड़ने का अनोखा प्रस्ताव रख रहा था जो अब तक किसी ने न देखा था और न सुना।

"यहीं पर? .. पर कैसे?"

"हां, यहीं पर। क्या बुरा है इसमें, बस थोड़ा ..." दस्तरख़ान के सामने पालथी मारकर उसने ख़ुदा का शुक्र अदा करते हुए खाने

के बाद की दुआएं मांगीं।

अहमद बेग ने स्वयं भी अपने हाथों को चेहरे पर फेरकर "आमीन" किया।

"देख रहा हूं कि तुम्हारे पास रूमाल नहीं है," अपरिचित ने कहा और रूमाल को चश्मे के पानी में झाड़कर फेंटे की तरह कमर में कस लिया। तत्पश्चात् उसने ख़ुरजीं में से नया पीला रूमाल निकाला और कुशलता से उसे पटके के रूप में लपेटकर अहमद बेग की ओर बढ़ा दिया। "लो, बांध लो।"

अहमद बेग कुछ न समझ में आनेवाले भाव से अभी भी उसकी ओर देखे जा रहा था।

"ओह, देख रहा हूं बड़े विनीत हो तुम।" उसकी कमर में पटका लपेटते हुए अपरिचित बोला। लपेटने के बाद वह गांठ देना ही चाहता था कि अहमद बेग ने उसे रोकते हुए कहा: "शुक्रिया, मैं ख़ुद ही..."

पथिक की शिष्टता व उदारभावना ने अहमद बेग के हृदय को छू लिया। अपने जीवन में आज वह पहली बार ऐसे व्यक्ति से मिल रहा था जिसने परिचय के प्रथम क्षण में ही अपनी सौजन्यता व स्नेह के बल पर उसे अपने वश में कर लिया था।

उन दोनों में मल्ल-युद्ध शुरू हो गया। अहमद बेग को समझने में देर नहीं लगी कि शक्ति तथा विभिन्न दांव-पेंचों के ज्ञान की दृष्टि से उसका प्रतिद्वन्द्वी उन सबसे कई गुना बढ़कर है, जिनके साथ उसे अब तक कुश्ती लड़ने का मौक़ा मिला था। अपरिचित भी समझ गया कि लड़के की बाह्य सरलता धोखे में डालनेवाली है। वह समझ गया कि उसने अपनी योग्यता का अब तक बहुत कम हिस्सा प्रकट किया है। उससे यह तथ्य भी छुपा न रहा कि इस युवा पहलवान के पुट्ठे फ़ौलाद के बने हुए हैं।

"ज़रा रुको," अपरिचित ने कहा, और अहमद बेग के उसके

कमरबन्द में से हाथ निकालने के बाद पुनः बोला: "आओ, जूते उतार लें और ऊपर मैदान में चढ़ जायें। मैंने वहां पर एक समतल जगह देखी है।"

नयी जगह पर दस मिनट तक कुश्ती चलती रही। अहमद बेग ने अपनी पूरी शक्ति का उपयोग नहीं किया। शायद इसलिए कि यह अपरिचित व्यक्ति उसे बहुत भा गया था और इसे अप्रसन्न करने की उसकी क़तई इच्छा नहीं थी। या यह भी सम्भव है कि इस अप्रत्याशित चुनौती के धक्के से अभी वह ठीक से संभल ही न पाया हो। पर अनुभवी पहलवान की – जिसके अनुभव के बारे में उसे अब कोई शक नहीं रह गया था – कुशल पैंतरेबाज़ी के शिकंजे में वह अचानक फंस न जाये, इस ओर से वह विशेष सतर्क था। केवल एक बार जब उसके प्रतिद्वन्द्वी ने – संभवतः मल्ल-युद्ध के लम्बे खिंचने से ऊब जाने के कारण – उसे पूरी शक्ति के साथ अपनी ओर खींचते हुए टंगड़ी मारकर गिराना चाहा, तो उसका मुंह खुला का खुला रह गया। अगर वह इस समय सीधे खड़ा होता तो संभवतः ज़मीन पर ढेर ही हो जाता। सौभाग्य से उसके धड़ का हिस्सा थोड़ा आगे को झुक गया था, अतएव उसे स्वयं को संभालने में अधिक देर नहीं लगी। और तब उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी के कमरबन्द को मज़बूती से पकड़कर उसे पूरी शक्ति से सिर के ऊपर उठा लिया और तत्क्षण ही सावधानी से ज़मीन पर रख भी दिया।

अपरिचित के चेहरे पर अब सौजन्यतापूर्ण मुसकराहट के साथ ही साथ आश्चर्य का भाव भी व्याप्त हो गया।

६

शाम को पशुचिकित्सक के यहां से वापस लौटने पर अहमद बेग ने देखा कि घर में अतिथि आये हुए हैं। एक ने उसके हाथ से लगाम

संभाल ली और घोड़े को खूंटे से बांध दिया। पिता ने उसके हाथ में सोने का एक भारी सिक्का रख दिया।

"क्या है यह?" युवा अहमद बेग ने चकित होते हुए पूछा।

"नौरोज़ पहलवान की ओर से तुम्हें उपहार है।"

पिता और अतिथि एक दूसरे को बीच में ही रोकते हुए अहमद बेग को पूरी बात समझाने लगे। अब कहीं जाकर उसकी समझ में आ पाया कि निर्जन पगडंडी में जिस अपरिचित से उसकी भेंट हुई, वह और कोई नहीं सुप्रसिद्ध पहलवान नौरोज़ ही था।

पता चला कि गांव में पहुंचकर वह सामूहिक फ़ार्म के प्रशासक मंडल के सदस्यों के पास गया और उनसे अहमद बेग को बुलाने की प्रार्थना की। संदेशवाहक ने लौटकर बताया कि अहमद बेग अपने लंगड़ाते हुए घोड़े को ऊपर गांव में पशुचिकित्सक के यहां इलाज के लिए ले गया है। यह सुनकर नौरोज़ पहलवान सीधे अहमद बेग के घर में उसके पिता से मिला और उन्हें सोने का सिक्का भेंट करते हुए बोला:

"अपने बेटे के लिए दुआ कीजिये। मुझे वह रास्ते में मिला था। उसमें एक महान पहलवान बनने की क्षमता है।"

...साल भर बाद नौरोज़ पहलवान युद्ध मोर्चे पर रवाना हो गया, पर फिर वापस नहीं लौटा। जानकारों ने बताया कि जो सिक्का नौरोज़ पहलवान ने अहमद बेग को स्मृतिचिन्ह के रूप में भेंट किया था, वह शतप्रतिशत शुद्ध सोने का था और उस पर उत्कीर्ण अद्भुत आलेख पुरानी कश्मीरी बोली में लिखा था।

अहमद बेग की पत्नी ने उस सिक्के को एक नेक इनसान की स्मृति-स्वरूप दो वर्ष तक संभालकर रखा, पर जब गांव के पायोनियर व कोमसोमोल युवकों ने मोर्चे के जवानों की सहायता के लिए ऊन, चमड़ा, गरम कपड़े और जूते इकट्ठा करने शुरू किये तो उसने यह

13-730

कहते हुए वह सिक्का उन्हें सौंप दिया: "मेरा मालिक जीवित और स्वस्थ घर लौटे। यह मेरे लिए किसी भी सोने के सिक्के की अपेक्षा ज़्यादा क़ीमती होगा।"

न उस दिन और न उसके बाद अहमद बेग ने किसी को भी यह नहीं बताया कि नौरोज़ पहलवान से कभी उसका मल्ल-युद्ध हुआ था। जब कभी भी उसे इस घटना का स्मरण आता, उसे शर्म महसूस होने लगती थी कि उम्र में अपने से बड़े एक सम्मानित व्यक्ति से अपना नाम छिपाकर उसने अनचाहे ही सही उसको धोखा दिया था। उनके मल्ल-युद्ध के बारे में स्वयं नौरोज़ पहलवान के मुंह से ही बात फैली थी। अहमद बेग के साथ हुए अपने मल्ल-युद्ध की कहानी के अन्त में वह हर बार कहा करते थे: "हममें से किसी ने भी ज़मीन नहीं सूंघी। पर मैं युवा अहमद बेग को विजयी मानता हूं। अल्लाह गवाह है, उसने एक मेहमान और एक अजनबी के रूप में मेरा सम्मान किया था।"

इसके बाद लोगों ने इस कहानी को तरह-तरह की मनगढ़ंत बातें जोड़कर बतलाना जारी रखा। यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक एक सीधी-सच्ची घटना ने दन्तकथा का रूप नहीं ले लिया।

७

संध्याकालीन हवा खलिहान में पोदीने की गंध और वानच के पानी की गूंजती स्वर लहरी को अपने साथ बहाये चली आ रही थी। दावत-वाले घर से अब केवल एक ही गायक की आवाज़ सुनाई दे रही थी। स्पष्ट था कि शेष गायक अपने-अपने घर चले गये थे। अन्तिम गायक, जिसे पहले अपनी बारी का इंतज़ार करना पड़ता था, अपना दायित्व महसूस कर पूरी शक्ति से अपनी कला का परिचय दे रहा था।

अहमद बेग पहलवान अभी तक उसी तरह क़ैराग़ाच के तने से

पीठ टिकाये बैठा था। सहसा उसे किसी के क़दमों की आहट सुनाई दी। गांव की पगडंडी पर कोई बढ़ा चला जा रहा था और अपनी छड़ी से नाली के आस-पास उगी लम्बी ऊंची घास को क्रोधपूर्वक काटे जा रहा था।

यद्यपि पर्वतशिखरों पर चांदनी चमक रही थी, पर उसके प्रकाश में दूर से आनेवाले पैदल राही को पहचानना कठिन था।

ध्यान से देखने के बाद अहमद बेग ने आगन्तुक को पहचान लिया। वह मुहम्मद मुराद था। उसे देखकर उसके मन में टीस-सी उठने लगी।

'जगह और समय बिलकुल सही है,' अहमद बेग ने सोचा। 'लड़का ज़रूर मुझे ही ढूंढ रहा होगा। क्या किया जाये? चुनौती स्वीकार करूं? पर क्या वह सच्चे मल्ल-युद्ध के योग्य है? क्या करना चाहिए?'

मुहम्मद मुराद ने क़ैराग़ाच के नीचे फैलते हुए अंधेरे में आंखें गड़ाकर देखा।

"अहमद बेग अका, आप हैं क्या?" उसने पूछा।

अहमद बेग ने कोई जवाब नहीं दिया। वह अभी तक अपने ही ख़यालों में खोया हुआ था। लगता है उसके भाग्य में इस छिछोरे युवक से भिड़ना ही बदा है, उसे पाठ पढ़ाना है और यह सिद्ध करना है कि वह अभी पहले जैसा ही अहमद बेग है। लड़के के दिमाग़ को ठंडा करना ज़रूरी है। नहीं, नहीं, पर फिर भी उसे इस युवक से नहीं लड़ना चाहिए... लेकिन और चारा ही क्या है?

"अकाजान, सच कहूं तो हम आपके चरणों की धूल हैं," अहमद बेग के निकट खड़ा मुहम्मद मुराद नशे के हलके झोंक में बोल रहा था। "आपके चरणों की धूल... पर मैंने सोचा कि आप वहां इलाक़ाई केन्द्र में मुझसे नहीं भिड़े, यहां दावत में भी आपने भिड़ने से इनकार कर दिया... तो मैंने सोचा कि आप सबके सामने लड़ने से कतरा रहे

हैं। पर शायद यहां एकान्त में लड़ने से तो आपको कोई एतराज़ नहीं है? अगर मैं ग़लत होऊं तो अहमद बेग अका, मुझे माफ़ कर दीजियेगा... हम आपके चरणों की धूल है, माफ़ कर दीजिये।"

ये शब्द बोलते हुए मुहम्मद मुराद अपने कमरबन्द को बार-बार खोल-बांध रहा था।

सहसा अहमद बेग के सम्मुख सब कुछ स्पष्ट हो उठा। पहले क्यों नहीं आया उसे इसका ध्यान। बीस-पच्चीस साल पहले जब खुद को पहलवान समझनेवाले कुछ धृष्ट लोगों ने उसे मल्ल-युद्ध के लिए विवश किया तो उसने इसी तरीक़े का इस्तेमाल करके उनसे पीछा छुड़ाया था।

"ठीक है, ठीक है," अहमद बेग ने कहा। "किसी चीज़ को ज़्यादा देर तक खींचना नहीं चाहिए। मैं एक अरसे से देख रहा हूं कि क्या चीज़ तुम्हें कुरेद रही है..."

"आप माफ़ करें, अका," उसके शब्दों को बीच में ही काटकर मुहम्मद मुराद पुनः बड़बड़ाने लगा, पर अहमद बेग ने उसे आगे नहीं बोलने दिया।

"सुनो, अगर तुम मुझसे भिड़ने के इरादे से ही यहां आये हो, तो मैं तैयार हूं। पर मेरी एक शर्त है..."

"चाहे हज़ार शर्तें हों, मैं उन्हें तहे दिल से पूरा करने को तैयार हूं..."

"शुरू में एक ही पूरी करो।"

"बड़ी खुशी के साथ। बोलिये तो सही। मैं अपनी जान आप पर क़ुरबान कर दूंगा।"

"मुझे इस जगह से उठा दो।"

"आपको? जगह से उठाना है? यह तो मैं चुटकी..."

मुहम्मद मुराद ने आगे क़दम बढ़ाया। अहमद बेग ने उसकी ओर

अपना दायां हाथ बढ़ा दिया और स्वयं क़ैराग़ाच के तने से पूरी शक्ति के साथ पीठ टिकाकर अड़ गया। एड़ियां सामने उभरी हुई पथरीली ज़मीन से जमा दीं।

'सभी पहलवानों के पीर, मेरी इज़्ज़त तेरे हाथ में है, मेरी मदद कर,' उसने मन-ही-मन दुआ मांगी। कठिन समय में वह हमेशा किसी पवित्र अदृश्य शक्ति को पुकारा करता था। उसे लगता था कि वह शक्ति सदा उसकी शुभेच्छु और मददगार है।

मुहम्मद मुराद ने उसका हाथ अपनी ओर खींचा। पर अहमद बेग हिला तक नहीं।

"आप तो ख़ुद ही नहीं उठ रहे हैं," लड़के ने चकित होकर कहा।

"पर तू उठा मुझे।"

मुहम्मद मुराद ने अपनी टांगें चौड़ी कीं, एक हाथ से अहमद बेग की कलाई और दूसरे हाथ से कन्धा पकड़कर पूरी शक्ति से अपनी ओर खींचा। दायां कन्धा कुछ-कुछ आगे खिसका और बस। अहमद बेग अभी भी अपने स्थान पर जमा बैठा था।

यह परीक्षा स्वयं अहमद बेग के लिए भी सरल नहीं थी। जब मुहम्मद मुराद ने उसे दूसरी बार अपनी तरफ़ खींचा तो अहमद बेग को ऐसा लगा जैसे क़ैराग़ाच का काला छत्र खिसककर एक तरफ़ को हो गया है, और आंखों के सामने लाल, काले बिन्दु भीषण रूप से नाच उठे हैं।

पर जब दूसरी बार भी मुहम्मद मुराद को सफलता प्राप्त नहीं हुई तो वह उन्मत्त होकर चीख़ उठा:

"आप क्या बन रहे हैं। यह बेईमानी है। और अगर मैं बैठ जाऊं तो? चलिये, आप मुझे जगह से हटाकर दिखाइये, तब मैं मानूंगा ..."

अहमद बेग हंसते हुए उठ खड़ा हुआ। शोर सुनकर बूढ़े रखवाले की नींद खुल गयी।

"कौन है यहां? क्या बात हुई?" पुकारते हुए बूढ़ा रखवाला उनकी ओर बढ़ा।

"नज़र-बाबा, यह मैं हूं," बूढ़े को आश्वस्त करते हुए अहमद बेग ने कहा और अपने स्थान पर बैठने को तैयार मुहम्मद मुराद से बोला। "ख़ूब मज़बूती से पैर जमा लो।"

मुहम्मद मुराद ठीक से जम कर बैठा, थोड़ा खांसा और इसके बाद ही उसने अहमद बेग की ओर हाथ बढ़ाया।

मुहम्मद मुराद द्वारा आज सुबह सड़क पर प्रदर्शित शेखी का स्मरण कर अहमद बेग ने उसके पंजे को कसकर दबाया और फिर बिना झटके के, धीरे-धीरे अपनी ओर खींचते हुए उसको अपने पांवों पर खड़ा कर दिया।

"अहमद बेग?! और यह कौन है? क्या कर रहे हैं आप लोग यहां?" निकट आते हुए बूढ़े रखवाले ने चिन्तित स्वर में प्रश्न किया।

मुहम्मद मुराद का नशा पूरी तरह उतर गया था।

"एक बार और, अका, मिन्नत करता हूं," उसने प्रार्थना के स्वर में कहा।

दूसरी बार अहमद बेग ने उसे भूसे की बोरी की तरह ज़मीन से उठाया और इतनी ताक़त से झटका देकर अपनी ओर खींचा कि वह उछलकर कई क़दम आगे जा गिरा।

ग़ुस्से में उबलते हुए बूढ़ा चीख़ा:

"अरे कमीने! मौत आ जाये तुझे," चांदनी में लड़के को पहचानकर बूढ़े ने कहा। "तुझे, बेईमान, हिम्मत कैसे हुई अहमद बेग पर हाथ उठाने की? लानत है तेरे दादा पर! तेरी क़ब्र पर जिन्न नाचेंगे, कमबख़्त!.."

और तभी कुछ ऐसा हुआ कि बूढ़ा अचकचाकर चुप हो गया।

"नहीं!.." अपनी पूरी शक्ति से मुहम्मद मुराद चीख़ उठा।

उसकी चीख़ ने कुछ क्षणों के लिए घाटी की सभी ध्वनियों को दबा दिया। वानच नदी के उस ओर की पर्वतश्रेणी से टकराकर वह चीख़ पुनः एक गूंज के रूप में लौट आयी और आस-पास के वातावरण में बड़ी देर तक फैली रही।

"नहीं!" युवा पहलवान एक बार पुनः चीख़ा। "आप मेरे साथ असली कुश्ती लड़ेंगे!"

वह उछलकर अहमद बेग की ओर बढ़ा और उसके कमरबन्द को झटका देने लगा। पर अहमद बेग ने मौक़ा मिलते ही स्वयं दोनों हाथों से उसका कमरबन्द पकड़ा और अपना एक घुटना मोड़कर, अंतिम और सबसे ज़्यादा वज़नी भार उठानेवाले खिलाड़ी की तरह युवा पहलवान को सिर के ऊपर उठाकर घुमा दिया।

उसे घुमाते-घुमाते वह खलिहान के निकट आ पहुंचा। मुहम्मद मुराद असहाय सा हवा में लटका हुआ उस बच्चे की तरह हाथ-पांव मार रहा था, जिससे उसका पिता खेल रहा हो। बूढ़ा रखवाला अपने स्थान पर ही स्तब्ध खड़ा रह गया। उसका मुंह आश्चर्य से खुला रह गया था। अन्ततः छड़ी को ज़मीन पर मारकर वह प्रसन्नता से चिल्लाया:

"शाबाश, अहमद बेग! ख़ुदा तुम्हारे सिर को सलामत रखे! इस दुष्ट को इसके किये की ठीक सज़ा मिल गयी।"

भूसे के ढेर के निकट पहुंचने पर अहमद बेग ने मुहम्मद मुराद को उसी ओर घुमाकर फेंक दिया।

क़ैराग़ाच की ओर वापस लौटते समय अहमद बेग ने अपने दोनों ओर आश्चर्य से नज़र घुमाते हुए कुछ इस तरह देखा जैसे वह किसी चीज़ की खोज में हो। उसे लगा कि कहीं नज़दीक में कई लोग ज़ोर-

ज़ोर से सीटियां बजा रहे हैं। उसने रुककर अपने कानों को दोनों हथेलियों से कसकर बन्द कर लिया। अब उसकी समझ में आया कि सीटी की यह आवाज़ उसके सिर के भीतर से ही आ रही है, ठीक उसी तरह, जैसे आज से चौबीस साल पहले दूर तक मार करनेवाले गोले के धमाके से चोट लगने के कारण आ रही थी।

अहमद बेग चिन्तित हो उठा कि एक अरसे से दूर भगायी हुई पुरानी बीमारी को कहीं उसने अकारण ही वापस तो नहीं बुला लिया। पर धीरे-धीरे उसके हृदय की धड़कन सामान्य हो गयी, कानों में मचनेवाला शोर और सांय-सांय की आवाज़ भी धीरे-धीरे कम होने लगी, और पन्द्रह मिनट बाद तो बिलकुल ही समाप्त हो गयी।

"लो, ठंडी चाय पी लो," नज़र-बाबा ने तलछट के कारण काली हुई चाय की केतली अहमद बेग को पकड़ाते हुए कहा।

अहमद बेग ने चाय के कुछ घूंट भरे, फिर खलिहान की दिशा की ओर देखते हुए पूछा:

"कहां है वह?"

"कपड़ों से भूसा झाड़कर कुत्तों की तरह नीचे नदी की ओर भाग निकला। यों वह मेरे भाई का पोता है, पर तुम्हारा धन्यवाद, अहमद बेग। शाबाश, तुमने अच्छा पाठ पढ़ाया उसे। आह, आवारा गीदड़," गालियां देते हुए बूढ़ा नदी की ओर मुड़ा और लाठी से ज़मीन पर ठक-ठक करता दूर निकल गया।

विलम्ब से प्रकट हुए झींगुर अनिच्छापूर्वक अपना उदास गीत गुनगुनाते जा रहे थे। उस मकान की ओर से, जहां शादी की दावत हो रही थी, अब कोई भी आवाज़ नहीं आ रही थी। पोदीने, अनाज के दानों और भूसे की गन्ध अहमद बेग के नासारन्ध्रों में गुदगुदी कर रही थी।

बाबा से विदा लेने की इच्छा से वह पूरे खलिहान का चक्कर लगा

आया, पर वह कहीं भी नज़र नहीं आया। "कोई बात नहीं, सुबह तो मिलेंगे ही," अहमद बेग ने अपने आपसे कहा और विचारसागर में डूबा हुआ गांव की ओर बढ़ चला। लगभग सौ क़दम चलने के बाद वह महसा मुड़ा और नीचे नदी की ओर चल दिया।

बूढ़ा ढलान पर एक पेड़ के नीचे खड़ा था।

"कहां है वह?" अहमद बेग ने पूछा।

"वो... उधर देखो।"

मुहम्मद मुराद वानच नदी के किनारे एक पत्थर पर बैठा हुआ था।

"रो रहा है, गीदड़, गरदन टूटे उसकी!" बूढ़े ने गाली दी। "कमबख़्त!"

चांदनी में स्पष्ट दीख रहा था कि मुहम्मद मुराद ने अपनी क़मीज़ उतार डाली थी। अब वह अपने जूते उतारने लगा था। अहमद बेग ने बूढ़े से विदा ली और घर की ओर चल पड़ा।

पूर्णिमा का चांद आकाश के बीचोंबीच चमक रहा था। अंतिम झींगुर भी अब गा-गाकर शांत हो चुके थे। सम्पूर्ण घाटी में चांदनी छिटकी हुई थी। नदी का गर्जन-तर्जन पूर्ववत जारी था।



सत्तार तुरसून

कहानीकार सत्तार तुरसून का जन्म सन् १९४६ में पायसुर्ख़ी गांव में एक किसान के परिवार में हुआ था। सन् १९७० में उन्होंने व्ला० इ० लेनिन ताजिकिस्तान राजकीय विश्वविद्यालय के प्राच्य भाषा संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति "सदा-ए-शर्क़" (पूरब की आवाज़) पत्रिका के सम्पादक-मण्डल में कार्यरत हैं। कथाकार सत्तार तुरसून ने विद्यार्थी-जीवन से ही लिखना आरम्भ कर दिया था। उनकी प्रथम कहानी "रास्ते में" सन् १९६७ में प्रकाशित हुई। हमारे समकालीन ताजिक सामूहिक किसानों तथा मज़दूरों को समर्पित उनके अनेक कहानी-संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

चौराहा

उसने कुछ क़दम आगे बढ़ाये, पर फिर ठिठककर रुक गया। रेस्तोरां का बड़ा हॉल खचाखच भरा था। हॉल के बीचोंबीच अर्द्धवृत्ताकार

मंच पर लम्बे क़द का व्यक्ति झूम-झूमकर गिटार बजा रहा था। गिटार-वादक के घुंघराले काले बाल झाड़-फ़ानूस की तेज़ रोशनी में चमक रहे थे, उसकी उंगलियां इन्द्रधनुषी गिटार के तारों पर तेज़ी से थिरक रही थीं। समय-समय पर गिटारवादक अपने निकट खड़े सैक्सोफ़ोनवादक को आंख मारता और सैक्सोफ़ोनवादक अपने गाल और भी ज़ोर से फुला देता।

जमशेद की पूरे दृश्य पर एकबारगी ही नज़र दौड़ गयी: मेज़ों के ऊपर उड़ता हुआ गहरे सलेटी रंग का पारदर्शक धुआं, कंपकंपाता हुआ झाड़-फ़ानूस, उत्तेजना में लहराते गिटारवादक के कन्धे और साथ-साथ नाचते थिरकते युगल, मंच के एक कोने में दीखती पियानोवादक की विचित्र रूप से अकेली झुकी हुई पीठ...

"कृपया, रास्ते में खड़े मत होइये। मैं आपसे कितनी बार कह चुकी हूँ कि कोई जगह ख़ाली नहीं है," हरे रंग की कशीदाकारी की रूसी टोपी लगाये हुई अधेड़ उम्र की प्रबन्धिका का नाराज़गीभरा स्वर उसे वास्तविकता की धरती पर ले लाया।

संगीत समाप्त हो गया। लम्बे क़द का गिटारवादक कुर्सी पर बैठ गया। उसने अपने गिटार को सावधानी से गोद में रख लिया था। साथ-साथ नाचनेवाले युगलों की हंसती-मुसकराती शोर मचाती भीड़ पूरे हॉल में बिखर गयी। पियानोवादक अपनी गोल कुर्सी में और भी झुक गया। उसकी पतली उंगलियां माथे पर उभर आये कत्थई रंग के बालों के गुच्छों को पीछे हटाने लगीं।

जमशेद दरवाज़े की ओर मुड़नेवाला ही था कि उसकी दृष्टि मंच मे थोड़ी दूर पर स्थित खिड़की के पासवाली मेज़ पर पड़ गयी। उसके निकट कुर्सियां ख़ाली पड़ी थीं।

"लगता है वहां जगह ख़ाली है," उसने उस प्रबन्धिका से कहा, जो अभी भी उसके पास खड़ी थी।

प्रबन्धिका ने अप्रसन्नता से हवा में हाथ हिलाया और कुछ बड़-बड़ाती हुई वहां से चली गयी।

आनन्दमग्न जोड़ों के बीच से सावधानीपूर्वक गुज़रता हुआ जमशेद उस मेज़ के पास पहुंचकर कुछ अनिश्चय की स्थिति में खड़ा हो गया। स्त्री और पुरुष आमने-सामने बैठे हुए थे। पुरुष कॉफ़ी के रंग का क़ीमती सूट पहने था और अपनी प्लेट पर झुका हुआ जल्दी-जल्दी खा रहा था। उसकी सफ़ेद क़मीज़ का बटन खुला हुआ था, टाई एक तरफ़ को लटक रही थी। स्त्री अन्यमनस्क भाव से खिड़की से बाहर देख रही थी। उसके सामने लेमोनेड की बोतल व एक ख़ाली गिलास रखा हुआ था। मेज़ पर रखे चीनी मिट्टी के फूलदान में दो सुर्ख़ गुलाब शोभा-यमान हो रहे थे।

जमशेद ने कुर्सी की पीठ को छूते हुए पुरुष से पूछा :

"क्षमा कीजियेगा, क्या यह स्थान ख़ाली है?"

पुरुष ने जबड़े चलाते हुए सिर उठाकर उसकी ओर देखा और तेज़ी से मुंह के ग्रास को निगल गया। उसकी बाछें खिल उठीं।

"ओहो, प्यारे जमशेद! नमस्ते, नमस्ते! क्या हाल हैं आपके? स्वास्थ्य तो ठीक है न?"

जमशेद घबरा उठा। इस मुलाक़ात की उसने उम्मीद भी नहीं की थी। उसकी आंखों के आगे अंधेरा सा छा गया। नहीं, नहीं, और कुछ भी हो जाये, पर यह नहीं होना चाहिए। उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उसे लगा कि वह चेतनाशून्य होता जा रहा है। क्या इसी की क़सर रह गयी थी? उसने अपने दांत भींचकर स्वयं पर नियन्त्रण कर लिया। उसने पुरुष का नम्रतापूर्वक अभिवादन किया। पर कोशिश के बावजूद स्त्री की ओर देखने के लिए स्वयं को विवश न कर सका।

"मेहरबानी करके बैठ जाइये, बैठिये," जलील हड़बड़ा उठा। "आपके दर्शन का सौभाग्य तो मिला। आपसे भेंट हो गयी, यह बहुत

अच्छा हुआ। घर वापस लौटने पर आपके पिता जी से कहने के लिए कुछ तो होगा।"

इस अप्रत्याशित व अनिच्छित मुलाकात से चकित हुआ जमशेद कुर्सी पर बैठ गया। वह नहीं चाहता था कि जलील उस पर दुश्मनी रखने का आरोप लगाये। 'कुछ देर बैठकर चला जाऊंगा,' उसने मन-ही-मन तय किया।

"माफ़ कीजियेगा, मैं आपको पहचान नहीं सका था।"

"कोई बात नहीं, दोस्त, मैं ख़ुद भी नहीं देख पाया कि आप कब आये," जलील मुसकराया। उसके सोने के दांत चमक उठे। "पर... क्योंकि हमारे दिल एक दूसरे के प्रति साफ़ व नेक हैं, स्वयं भाग्य ने हमें इस मेज़ पर मिला दिया।"

जलील ने वेट्रेस को बुलाकर उसके कान में फुसफुसाकर कुछ कहा और फिर जमशेद की ओर मुड़ गया।

"हां ...अब कहिये, क्या हाल हैं? पत्नी और बच्चे कैसे हैं?"

"शुक्रिया, सब ठीक-ठाक है। बेहतर होगा, आप अपने बारे में बतायें।"

"अरे... हम तो बस सैर कर रहे हैं। कहते हैं न, सैर तो सैर है, आवारागर्दी भी सैर है, अच्छी-बुरी जैसी है, अपनी कार है, जगह भी यह बहुत दूर नहीं है..." वह बोला, फिर कुछ देर चुप रहकर होंठ चबाते हुए स्त्री की ओर देखकर आगे कहने लगा। "पर इस बार लगता है आनन्द नहीं आ पाया..."

"क्यों, क्या हो गया?" जमशेद ने नम्रतापूर्वक पूछा। वह पूरा प्रयास कर रहा था कि उसके हृदय में होनेवाली हलचल बाहर न प्रकट हो जाये।

"शहनाज़ कुछ अस्वस्थ है। मुझे लगता है उसे यहां का पानी रास नहीं आया है," जलील ने पुनः होंठ चबाये, और फिर जैसे

अचानक याद आ गया हो, बोला: "आप लोग तो परिचित हैं, शायद एक ही स्कूल में पढ़े भी थे, क्यों है न?"

...हां जलील, हम लोग एक ही स्कूल में पढ़ते थे, बल्कि एक ही क्लास में। क्यों बन रहे हो? या सोचते हो कि मैं तुम्हें उस रात नहीं पहचान सका था? ग़लती करते हो तुम। मुझे सब याद है। याद है सड़क पर फैला हलका अंधेरा, कुछ दूर पर स्थित एक-मात्र बल्ब, तुम्हारे कोट का उठा हुआ कॉलर, टोपी, जिसके चौड़े किनारे तुम्हारी भौंहों तक को ढक रहे थे, तुम्हारा चेहरा, जो स्कार्फ़ में लिपटा हुआ था...

"हां, हम एक ही स्कूल में पढ़े हैं," जमशेद ने उत्तर दिया।

"और अब आप अख़बार में काम कर रहे हैं?"

"हां, अख़बार में।"

"पत्रकारों को शायद वेतन तो अच्छा ही मिलता होगा?"

"हां, काम चल जाता है।"

"यह अच्छी बात है... पता चला है कि आपके ससुर बड़े जाने-माने आदमी हैं। उनकी मदद से आप ऊंचे ओहदे तक पहुंच सकते हैं। दाल-रोटी की चिन्ता करने की आपको कभी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। उन्होंने ही आपको इतना अच्छा पद दिलाने में मदद की होगी न?"

जमशेद का जिस्म कांप उठा, पर उसने कुछ नहीं कहा। अब जाकर पहली बार वह स्त्री की ओर देख सकने की शक्ति जुटा पाया। शहनाज़ ने खिड़की की तरफ़ से अपना चेहरा घुमा लिया, पर उसने जमशेद को नहीं देखा। उसकी भौंहें सिकुड़ गयी थीं, होंठों में हल्का-सा कंपन आ गया था। पति के कारण नाराज़ है क्या? जमशेद की दृष्टि स्त्री के चेहरे से न हट पायी। उसे लगा कि शहनाज़ की बादामी आंखों में उस आग की नन्ही-सी चिनगारी भी नहीं है, जो, जहां तक उसे याद पड़ता है, हमेशा मौजूद रहती थी। उसकी आंखों में कुछ

ऐसी नयी चीज़ आ गयी थी जिसे जमशेद न कोई नाम दे सकता था, और न कोई उपमा। उसकी आंखों में निश्चिन्तता, लापरवाही और खेद जागृत करनेवाले दुःख का एक विचित्र मिश्रण था।

'पर उसका सौन्दर्य पहले जैसा ही है,' जमशेद ने सोचा। 'बस, ज़रा मोटी हो गयी है। मैं उसे अक्सर याद करता हूं, क्या इस बात का उसको अनुमान है? क्या उसे मेरी याद आती होगी?'

आज से आठ साल पहले, जब उन्होंने स्कूल की पढ़ाई समाप्त ही की थी, शहनाज़ ने उसे उसके जन्म दिन पर लेखक ए० वोइनिच के उपन्यास "गोमक्खी" की हरी जिल्दवाली पुस्तक उपहार में दी थी।

"पूरी दुनिया में मुझे सिर्फ़ दो व्यक्ति अच्छे लगते हैं। उनमें से एक इस उपन्यास का नायक है..."

"और दूसरा?" धड़कते दिल से जमशेद ने पूछ ही लिया।

"दूसरा?" शहनाज़ ने चतुरता से अपनी दृष्टि घुमा ली। "दूसरे को मैं अभी नहीं जानती हूं..."

"मुझे विश्वास नहीं होता।"

"क्यों?" शहनाज़ ने जमशेद की ओर आश्चर्य का भाव प्रकट करती हुई अपनी आंखें उठायीं। जमशेद का चेहरा लाल हो उठा। शहनाज़ के नेत्रों की गहराई में यों ही खुशी की चमक थी। "दूसरे को आप जानते होंगे।"

"नहीं, मैं भी नहीं जानता।" उसके हृदय की धड़कन बन्द हो चली थी।

"दूसरी है... जेम्मा..."

...हे भगवान! कितना अरसा हो गया इस बात को बीते! पर शहनाज़, मैं अब तक तुम्हारे उपहार को सुरक्षित रखे हुए हूं, क्योंकि युवावस्था के प्यार और अधूरे सपनों की मेरे पास वह एकमात्र यादगार है...

जलील ने जेब से सिगरेट निकालकर पूछा :

"आप सिगरेट पीते हैं?"

"नहीं, शुक्रिया।"

"अच्छा करते हैं।"

...जब हम लोग दसवीं कक्षा में पढ़ते थे, स्कूल में हर कोई अच्छी तरह जानता था कि हम एक दूसरे से प्यार करते हैं। हम लोग एक ही बेंच पर बैठते थे। मध्यान्तर में भी साथ-साथ बैठे रहते थे, कक्षा से बाहर नहीं निकलते थे। हमें एक दूसरे से एक मिनट भी बिछुड़ना गवारा नहीं था। हम साथ-साथ ही अपने पाठ तैयार करते थे, शाम को साथ-साथ सिनेमा देखने जाते थे। हमें इसका पता भी नहीं था कि हमारे सहपाठी हमें लैला-मजनूं के नाम से पुकारने लगे थे। स्कूल के दिन कितनी ख़ुशी के दिन थे! स्कूल की पढ़ाई के बाद शहनाज़ ने शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान की वाह्य छात्रा के रूप में प्रवेश ले लिया, और मुझे रेलवे विभाग में काम करना पड़ा। परिवार बड़ा था, अतिरिक्त आय का एक-एक पैसा बेहद कीमती था। चाहता था कि दो एक साल काम करके पिता जी की मदद कर दूं। कुछ पैसा हाथ में आ जाये तो उसके बाद इन्स्टीट्यूट की पढ़ाई शुरू करूं। मेरी पत्रकार बनने की इच्छा थी।

"अच्छा करते हैं..." जलील ने अपने शब्द पुनः दुहराये। "जानता हूं कि तम्बाकू ज़हर है, पर बारह साल से पी रहा हूं। कई बार छोड़ा, पर छूट नहीं पायी।" जलील ने अभ्यस्त हाथों से पैकेट से सिगरेट निकाली और पीना शुरू कर दिया।

"बच्चे हैं आपके?"

"हां, एक बेटी है।"

"आं, आं, आं..."

...उस समय तुम किंडरगार्टन में काम करती थीं। काम से लौटने

के बाद मैं हर शाम अपने उस परिचित भवन, जहां किंडरगार्टन था, पहुंचने की जल्दी में रहता था और उस रंगबिरंगे फाटक को, जिसकी हर खरोंच मुझे भली-भांति याद थी, ऐसे एकटक देखता रहता था कि मेरी आंखें दुखने लग जाती थीं। मुझे कभी देर तक तुम्हारी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। अभी भी मैं आंखें बन्द करके देखता हूं तो मेरी आं-खों के सामने वह दृश्य तैर जाता है जब तुम फाटक से निकलकर मेरी ओर ऐसे जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ातीं जैसे सारे दिन मेरी प्रतीक्षा में तड़पती रही हो। "मैंने आपको खिड़की से देखा था," तुम कहतीं और प्यार से मुसकरा पड़ती थीं। मुझे तुम्हारे उन शब्दों पर विश्वास था। हर शाम मैं स्वयं को वचन देता कि आज तुमसे विवाह के बारे में अवश्य बात करूंगा, पर तुम हर शाम विषय परिवर्तन कर दिया करती थीं। तुम्हें याद है न यह बात?। दिन पर दिन, महीने पर महीने बीतते गये और... और एक दिन तुमने "हां" कह दिया। तब ठंड थी, बर्फ़ गिर रही थी, पर मेरे पैर ज़मीन पर ही नहीं पड़ रहे थे। घर की ओर ऐसे दौड़ा जैसे मेरे पंख निकल आये हों। तुम्हें याद है, हमने तय किया था कि विवाह गर्मियों में होगा, तुम्हारी परीक्षा समाप्त होने के बाद...

और तुम्हें अपने अन्य शब्द भी याद होंगे: "मुझे अब से और छोड़ने जाने की ज़रूरत नहीं है – लोग तरह-तरह की बातें बनाने लगे हैं।" विवाह के लिए तुम्हारी स्वीकृति पाने से अन्धा बना मैं कितना चकित हुआ था। "बनाने दो उन्हें बातें। हम तो शीघ्र ही विवाह बन्धन में बँधनेवाले हैं।" तुम्हें याद है तुमने कैसे अपने होंठ काट लिये थे? तुम मुझसे अपना हाथ छुड़ाकर भाग निकली थीं। उस दिन आसमान टूट पड़ा था मुझ पर। इससे पूर्व मैंने केवल पुस्तकों से जाना था कि प्यार की तड़पन से मन कितना दुःखी होता है, कितने असह्य दर्द से भर जाता है मन। और तुम थीं कि मेरे दुःख को, मेरे प्यार को अब

और समझने की इच्छा ही नहीं रखती थीं। कितनी ही बार तुमसे भेंट हुई थी – तुम इसी जलील के साथ थीं। जलील तभी इंस्टीट्यूट की पढ़ाई ख़त्म करने के बाद सुपर बाज़ार का निर्देशक नियुक्त हुआ था।

याद है तुम्हें?

"हमारे तीन बच्चे हैं – सभी लड़के हैं," जलील ने मुंह से धुआं उड़ाते हुए कहा। "बड़ा बेटा पांच साल का है।"

वेट्रेस तन्दूरी मुर्ग़ी की तीन प्लेटें, कोन्याक की एक बोतल, चॉकलेट की तीन बारें, पनीर, जग में नीबू का शर्बत लाकर मेज़ पर रख गयी।

जलील ने सिगरेट के शेष टुकड़े को एशट्रे में डाला और उत्साह से सर्व करने लगा: उसने कोन्याक उंडेलकर दो पैग बनाये, अपनी नन्ही उंगलियों से चॉकलेट के टुकड़े काटकर बड़ी सफ़ाई के साथ प्लेट में सजाने लगा।

"शहनाज़, तुम तो नहीं पियोगी न?" पत्नी की ओर बिना देखे और उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह जमशेद की ओर मुड़ा। "हम कितने समय से एक दूसरे से परिचित हैं, पर मेज़ पर पहली बार मिल रहे हैं। पुरानी दोस्ती को क़ायम रखना चाहिए, जमशेद-जान। चलो, भविष्य में अपनी मुलाक़ातों के लिए जाम उठायें।"

जमशेद ने कनखियों से शहनाज़ की ओर देखा। उसका चेहरा भावहीन था, वह अभी भी खिड़की से बाहर देखती जा रही थी, पर अचानक आये ग़ुस्से के कारण मेज़ के नीचे अपने रूमाल को मसोस रही थी।

"ठीक है, अगर इसके लिए पीने की ज़रूरत है, तो चलो जाम उठाते हैं," जमशेद ने सहमति प्रकट करते हुए कहा। वह अचानक शांत हो गया था। उसकी इस शांति को शहनाज़ ने भी महसूस किया। उसकी नज़रें तेज़ी से जमशेद की ओर उठ गयीं। जमशेद ने सोचा:

'वे एक दूसरे के भाव ताड़ गये हैं।' वास्तव में बात भी यही थी।

"अच्छी बात है," जलील ने गिलास भरा और जमशेद के गिलास उठाने की प्रतीक्षा करते हुए बोला :

"आप टोस्ट बोलिये, प्यारे दोस्त।"

"कैसा टोस्ट ?" जमशेद हंसा।

"आप तो पत्रकार हैं ..."

... कुछ समय बाद सुनने में आया कि शहनाज़ जलील की दुलहन बन चुकी है। मेरी रातों की नींद ग़ायब हो गयी। जैसे ही आंखें बन्द करता, तुम्हारा चेहरा आंखों के आगे नाच उठता। तुम्हारे होंठ तेज़ी से कुछ फुसफुसा रहे थे, पर वे क्या कह रहे थे, मैं अनुमान नहीं लगा पाया। मेरे विचार मुझे कहां-कहां नहीं ले उड़े। पर कितना भी मैं सोचता, मैं समझ नहीं पाता कि मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है। मेरी समझ में नहीं आ पाता कि तुमने अपने हाथों से हमारे सौभाग्य की चिंदी क्यों उड़ा दी ?

आख़िर एक दिन मुझसे रहा नहीं गया। मेरे पांव मुझे मेरे अनजाने ही तुम्हारे किंडरगार्टन के उस चिर-परिचित फाटक की ओर ले उड़े। मुझे कोई शक्ति ही उस ओर खींच रही थी। उस दिन भी मुझे अधिक समय तक तुम्हारा इंतज़ार नहीं करना पड़ा। लगभग दस मिनट बाद तुम सड़क पर आ गयी थीं। तुमने मेरी ओर बेरुख़ी से देखा, एक संक्षिप्त-से अभिवादन के बाद जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगीं। मैं पीछे-पीछे चलकर तुम्हारे बराबर आ गया। मैंने तुमसे पूछा : "शहनाज़, यह सच है क्या ?"

"क्या सच है ?" तुमने बिना रुके कहा और कन्धे उचका दिये।

"यही जो लोग कह रहे हैं।"

"हां, सच है।"

"पर तुम तो जानती हो कि वह कैसा आदमी है।"

14*

"आपकी राय में वह ख़राब आदमी है?"

"इसका फ़ैसला दूसरों पर छोड़ दो, पर मैं..."

"क्या आप? वह किसी भी हालत में ऐसा आदमी तो नहीं है जो लड़की का हाथ थामकर दुनिया को सुनाता फिरे कि वह लड़की के साथ..."

"आपकी बातों का मतलब क्या है, शहनाज़?"

"नहीं जानते?"

"अगर जानता तो पूछता नहीं।"

"हुं... हो गया बस। अफ़सोस है कि मैं पहले नहीं जान सकी थी कि आप कितने बेईमान व ईर्ष्यालु व्यक्ति हैं।"

हां, यही कहा था तुमने। मैं चकित, अपमानित-सा अपने स्थान पर बुत-सा खड़ा रहा। मुझे अब तक पता नहीं कि किस कमीने से तुमने मेरे बारे में यह झूठ सुना, पर उसके द्वारा दिया गया वह घाव अभी तक कसक रहा है। उस शाम के बाद फिर हम कभी नहीं मिले, शहनाज़। और अब हम एक दूसरे से बात भी नहीं कर सकते। तुम मुझसे मुंह मोड़कर क्यों चली गयीं, शहनाज़? क्या सोच रही हो तुम?

जलील ने धीरे से जमशेद का कन्धा छुआ और हंसते हुए पूछा:

"आप क्या सोच रहे हैं, प्यारे दोस्त? क्या कोई अच्छी सी बात ढूंढ़ रहे हैं।"

जमशेद को लगा कि जलील की हंसी और उसके इस लहजे में अपनी विजय का, व्यंग्य का कोई विशेष भाव छिपा हुआ है।

"विवाह के दिन आपको बधाई देने का मुझे सौभाग्य नहीं मिल पाया था। तब मैं बीमार था। यद्यपि इतने वर्ष बीतने के बाद अब यह हास्यास्पद लगता है, पर आज मैं आपके सौभाग्य व आपके स्वास्थ्य के लिए जाम उठाता हूं।"

"शुक्रिया, प्रिय जमशेद। आप भी सौभाग्यशाली हों।"

उन्होंने जाम उठा लिये।

मंच पर क्वार्टेट चंचल धुन बजा रहा था। लोगों का अट्टहास, जूतों के तलों की थापें उस संगीत के साथ मिलकर एक नये संगीत को जन्म दे रही थीं। जमशेद को लगा कि उस संगीत के सृजन में केवल ध्वनियों का ही नहीं, हॉल में उपस्थित व्यक्तियों की मनोदशा का भी हाथ है। उस संगीत में चंचलता, आनन्द व उल्लास था, साथ ही नैराश्य व करुणोत्पादक वेदना भी शामिल थी।

"एक-एक जाम और पियें, जमशेदजान!"

"शुक्रिया, मैं और अधिक नहीं ले सकता।"

"इसमें पीने की क्या बात है—कुल पचास ग्राम तो हैं..."

"मुझे काम है..."

"लीजिये, लीजिये। आपका काम कहीं भागा नहीं जा रहा है।" जलील ने शराब के गिलास को जमशेद के सामने रखा और शहनाज़ की ओर मुड़कर बोला: "तुम्हारा खाना ठंडा हो रहा है।"

शहनाज़ के चेहरे का रंग उड़ा हुआ था। वह चुपचाप बैठी थी। पति की आवाज़ सुनकर उसने सिर उठाया और प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी। लगता था कि वह उसके शब्द नहीं पकड़ पायी थी।

"कह रहा हूं कि तुम्हारा खाना ठंडा हो रहा है," जलील ने धैर्य व नम्रता के साथ अपने शब्द दुहराये। "अगर इच्छा न हो, तो भी अपने ऊपर ज़ोर डालकर खा लेना चाहिए।"

उदासीनता से पति की ओर देखकर शहनाज़ तन्दूरी मुर्ग़े को कुछ देर तक कांटे से कुरेदती रही, इसके बाद पुनः सिर झुकाया।

जलील ने कई बार प्रयास करके दियासलाई की तीली से सिगरेट सुलगायी और जल्दी-जल्दी कश खींचने लगा...

...तुमसे विदा लेकर, शहनाज़, मैं रेलवे के रेस्तोरां में गया।

अपने जीवन में तभी मैंने पहली बार वोद्का पी। मुझे तब लगा था कि असली पुरुषों को अपने ग़म को ग़लत करने के लिए ऐसा ही करना चाहिए। पीकर मैं बाहर सड़क पर आया। मेरा दिल भारी था, सिर चकरा रहा था और टांगें ऐसी हलकी हो गयी थीं कि बड़ी मुश्किल से अपने घर की गली तक पहुंच पाया। रास्ता अंधेरा था। आंखें मुश्किल से देख पा रही थीं। तभी किसी के सड़क पर उछलकर आने की आवाज़ आयी। "रूक जाओ," किसी अपरिचित की भर्रायी हुई आवाज़ कानों में पड़ी। मैं रुक गया। कन्धे एक पेड़ से टिका लिये। तभी कोई व्यक्ति मेरे पास आया और दोनों हाथों से मेरा कॉलर पकड़कर झकझो-रने लगा। बोला: "ओह, तू नशे में है, पिल्ले!"

मेरे भीतर एक तीव्र क्रोध की लहर दौड़ गयी। पर मैंने स्वयं पर नियन्त्रण पा लिया। जानना चाहता था कि आख़िर यह आदमी है कौन? पर मैं उसको पहचान नहीं सका। कोट के कॉलर, टोपी, मफ़लर — इन सबसे उसका चेहरा पूरी तरह ढका हुआ था। "कौन है?" मैं बोला, "क्या चाहिए?"

"मैं कौन हूं, तुम्हें जानने की ज़रूरत नहीं। पर अब एक बार भी शहनाज़ से बात करने की हिम्मत की तो सिर काटकर कुत्तों को खिला दूंगा।"

"यह मेरा निजी मामला है। जो मर्ज़ी हो करूंगा ..."

"ओह, निजी मामला, कहता है?"

"हां।"

"तो फिर, पिल्ले, याद रख: मेरे लिए दोस्त की इज़्ज़त दुनिया में सबसे बढ़कर है। अगर जलील की ग़ैरहाज़िरी में शहनाज़ से बात की तो सिर काट लूंगा।"

अपमान से मेरा सिर घूम गया। मैं पेड़ से एक तरफ़ हट गया और ग़ुस्से से हांफते हुए बोला:

"जाकर अपने जलील से कहना कि अगर वह मर्द है तो ख़ुद आकर मुझसे मिले।"

इसके बाद की सारी घटनाएं मुझे ऐसे याद आती हैं जैसे कोई सपना देखा हो।

अपरिचित चीख उठा: "ओह तुझे जलील चाहिए? तो फिर ले, यह ले।" मैं अपने स्थान से हट नहीं पाया। चेहरे पर पड़ी सख़्त चोट के कारण मैं गिरते-गिरते बचा। नाक में चोट लगने से ख़ून की धार बहने का अहसास होते ही मैं तेज़ी से उस पर झपटा। मैंने मुक्के से मफ़लर व टोपी से ढके उसके चेहरे पर वार किया। मेरा वार ख़ाली गया, पर मैं उसके मफ़लर को खींचने में सफल हो गया। चोट के कारण कहिये, या क्रोध के कारण, क्षण भर में ही मेरा नशा उतर गया। उसी क्षण मैंने उस व्यक्ति को भी पहचान लिया। उसके चेहरे से मफ़लर हट चुका था, टोपी भी एक तरफ़ को खिसक गयी थी, उसे पहचानने में फिर मुझे क्या दिक़्क़त होती!

मैं अपने होंठ पर लगी चोट व नाक से बहते ख़ून के कारण हुए दर्द को भूलकर पूरे ज़ोर से ठठाकर हंस पड़ा।

"ओह, कितना कमीना है तू!"

एक हाथ से अपना चेहरा ढकते हुए नीचे झुककर उसने अपनी पूरी शक्ति से मेरी जांघ पर प्रहार किया। मैं उछलकर एक ओर हो गया, अतएव वह प्रहार मेरे बायें घुटने पर पड़ा। प्रहार इतना तेज़ था कि मैं दुबारा गिरते-गिरते बचा। क्रोध, दर्द और अपमान – सबने मिलकर मुझे एक भयानक निर्णय लेने को विवश कर दिया। मैंने अपनी मुट्ठियां कस लीं, न केवल प्रतिद्वन्द्वी के अगले आक्रमण से बचने के लिए, बल्कि ... अब उसे जीवित नहीं छोड़ने के लिए भी ...

पर अगले ही क्षण मुझे उसके भागने की आवाज़ सुनायी दी। कभी मैं सोचता हूं – क्यों भागा था वह? डर गया था कि कहीं मैं

उसे पहचानकर बाद में सबसे कह न दूं? हम आख़िर पड़ोसी थे, कब से साथ रहते थे, तब भला कैसे नहीं पहचानता मैं उसे? शायद वह पूर्ण रूप से हमारे सम्बन्ध को ख़त्म नहीं करना चाहता होगा। पर अब कैसे सम्बन्ध? यों भी उसका यह कमीनापन पहला और आख़िरी तो था नहीं...

"क्या कहा आपने?" जलील ने आश्चर्यपूर्वक कहा।

जमशेद और शहनाज़ ने उसकी ओर देखा।

"कुछ नहीं," जमशेद ने कंधे उचकाकर कहा। उसे स्वयं ख़याल नहीं था कि वह सोचते सोचते ज़ोर से बोलने लगा था।

"आपकी तबीयत, शायद, ठीक नहीं है, प्रिय दोस्त। कोई परेशानी है क्या?"

"नहीं, नहीं। सब ठीक है। पिछले दिनों से मन कुछ उचाट हो रहा है। घर में अकेला हूं न आजकल, इसलिए।"

"पत्नी से अनबन हो गयी है क्या?" जलील उत्साह से बोला। "काफ़ी समय हो गया क्या?"

"अरे नहीं..." जमशेद हंसा। "मां आयी थीं, पत्नी व बेटी को कुछ दिनों के लिए अपने साथ ले गयीं। हमारे रिश्तेदारों में किसी की शादी है।"

"ओह, यह बात है! मैंने तो सोचा था कि..."

...हां तो जलील, दो दिन बाद मेरी तुमसे भेंट हुई। मैं अपने काम से लौट रहा था। घुटने में अभी भी थोड़ा दर्द था। लंगड़ाता हुआ चल रहा था। तुम अपने मकान के फाटक पर खड़े पिस्ते खा रहे थे। तुमने हरे रंग का एक क़ीमती अर्द्धरेशमी चोग़ा पहन रखा था। तुम्हारे सिर पर बारहसिंगे के खाल की बढ़िया टोपी थी। "लंगड़ा रहे हो, जमशेद-जान? क्या बात हो गयी?" तुमने ऐसे पूछा जैसे तुम निर्दोष हो। मैं हंस पड़ा और तुमसे मैंने आंख मिलाकर कहा: "किसी हरामी ने

कल रात मेरा रास्ता रोक लिया था। अफ़सोस है कि उसे पहचान नहीं सका।"

"ओह, कुतिया की औलाद! मिलीशिया में रिर्पोट करनी चाहिए थी। पता नहीं कहां से आ जाते हैं हमारे यहां ऐसे जंगली लोग?"

जलील बहुत देर तक यों ही लल्लो-चप्पो करता रहा। वह जान-बूझकर अपनी नज़रें बचा जाता था। मैं खड़ा-खड़ा चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। उस चालाक व झूठे दुष्ट प्राणी को पीटन व धरती से मिटा देने की अपनी तीव्र इच्छा को मैं बड़ी मुश्किल से दबा पाया।

इन घटनाओं के पांच साल बाद एक रात को अचानक मुझे अपनी भूल महसूस हुई। मुझे चाहिए था कि पूरे मुहल्ले को चिल्ला-चिल्लाकर इस गुण्डे का पर्दाफ़ाश कर दूं। मुझे चाहिए था कि मैं उसे पीटता। उसे पीटना उस समय सबसे नेक् काम होता। मुझे चाहिए था कि मैं चुपचाप अपमान न सहनकर उससे लड़ता... पर मैं इस समय भी वह काम नहीं कर पा रहा हूं और इसके साथ एक मेज़ पर बैठा खा-पी रहा हूं...

"सुना कि जाड़ों में तुम अपने पिताजी के पास मिलने आये थे। खेद है कि तब तुमसे भेंट का अवसर नहीं मिला।"

"हां, समय ही बहुत कम था। दो दिन रहकर ही लौट गया था।"

"पर अब हम लोग इतने लम्बे अरसे के लिए एक दूसरे से अलग नहीं होंगे। कभी भी आप हमारे यहां आइये। हमारा घर आपका अपना घर है, जमशेदजान। इनसान एक क़ीमती हीरे की तरह है। असली इनसान को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।"

जलील ने जेब से रूमाल निकालकर ज़ोर से नाक साफ़ की। शहनाज़ चौंक उठी। अपनी सुन्दर आंखों से एक बार पति की ओर देखकर उसने पुनः सिर झुका लिया, "उसकी उदासीनता भी पति के कार्यों में दिलचस्पी लेने का एक ढंग है।" सहसा जमशेद के मस्तिष्क में विचार

कौंधा। अपने इस विचार से वह स्वयं ही चकित हो उठा: "उदासीन दिलचस्पी ..."

"हाल ही में भाग्य मुझ पर एक बार फिर मेहरबान हो उठा – अच्छा काम मिल गया। अब तो मैं हमेशा दोस्तों की मदद करने की स्थिति में हूं।" यह कहकर जलील कुछ देर तक चुप रहा, स्पष्टतः वह किन्हीं प्रश्नों की प्रतीक्षा कर रहा था, पर किसी के कुछ न पूछने पर स्वयं ही बोल उठा: "असल में मालूम होना चाहिए कि मदद के लिए किस ख़ुदा की इबादत करें।"

"आपको तो हमेशा ही हर काम में सफलता प्राप्त हुई है।"

"मेरा इरादा साफ़ रहता है, बिलकुल साफ़!"

दोनों पुनः चुप हो गये। खाना कब का ठंडा हो चुका था। मेज़ के किनारे पर कोन्याक के गिलास लावारिस-से पड़े थे। जलील सिगरेट फूंक रहा था। शहनाज़ चुप थी। जमशेद और भी विषाद में डूबा जा रहा था। रेस्तोरां का आनन्दमय वातावरण उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल पा रहा था। उसे यहां आने का अफ़सोस हो रहा था, इसका भी अफ़सोस हो रहा था कि वह इस अवांछित वार्त्तालाप में भाग ले रहा है। जलील और शहनाज़ के साथ यह "प्रीतिभोज" उसे बरसी के भोज की याद दिला रहा था।

"इजाज़त दीजिये, अब चलता हूं..."

"क्या कह रहे हैं आप। कुछ देर तो और बैठिये। रेस्तोरां से इतनी जल्दी कोई नहीं जाता।"

"मुझे काम है।"

"ख़ैर, चलिये एक-एक पैग और ले लें, फिर आपको हम नहीं रोकेंगे।"

"शुक्रिया, पर मैं और नहीं ले सकता।"

"आप भी कैसे मर्द हैं, मेरे दोस्त। और पचास ग्राम लेने से

किसी को कोई नुक़सान नहीं होगा।"

"नहीं, नहीं, मुझे काम है, काम। मैं यहां बैठने नहीं, सिर्फ़ भोजन करने आया था।"

"बढ़िया कोन्याक यों ही बेकार हो रही है।"

जमशेद ने शहनाज़ की ओर देखा। इस पूरी कष्टकर शाम वह एक भी शब्द नहीं बोली थी। कभी-कभी जमशेद को लगता कि वह रो रही है, उसकी गहरी काली आंखों में विषाद की झलक है। तब शहनाज़ उसे शिकारी के पंजे में फंसी घायल तीतर की तरह लगती। पर तभी उसका चेहरा बदलने लगता, जमशेद को अपने सामने एक पराई, ठंडी और मितव्ययी औरत नज़र आने लगती, लेकिन तत्क्षण ही वह घबरायी हुई एक नन्ही-सी लड़की के रूप में परिवर्तित हो जाती... 'तुम वास्तव में क्या हो, शहनाज़, कौन हो तुम? तुझे जानने की क्या ज़रूरत पड़ी है,' जमशेद ने स्वयं को टोका। 'जो होना था हो गया, अधूरे सपने मिट्टी में मिल गये और अब सामने मेज़ पर तुम्हारी प्रेयसी नहीं, एक पराई पत्नी बैठी हुई है... पुराने घाव कुरेदने से क्या फ़ायदा? बस, उठ और चल दे। देख रहा है, वह परेशान हो रही है। दूसरे की परेशानी देखकर तुझे मज़ा आता है क्या? और फिर तुझे क्या पता कि वह परेशान ही हो रही है। हो सकता है वह वास्तव में बीमार ही हो...'

"ख़ैर, अब आपसे ज़िद नहीं करूंगा। मुझे ख़ुद मालूम है, ज़रूरी काम क्या होते हैं। मुझे भी ऐसे काम पड़ते रहते हैं... अक्सर शाम के समय," जलील ने दबी हुई फुसफुसाहट में कहा और सब कुछ समझ जाने के अन्दाज़ में आंख मारी। "आपके पिता जी को मैं प्रणाम कह दूंगा, पर आपकी हम सपत्नीक प्रतीक्षा करेंगे अपने यहां आतिथ्य स्वीकार करने के लिए। मिल बैठकर कुछ बातें करेंगे।" जलील ने अपना हाथ उठाया और सुचित्रित स्तम्भ के निकटवाली मेज़ के पास

बैठी वेट्रेस से निगाहें मिलने पर हाथ के इशारे से उसे अपनी तरफ़ बुलाया।

वेट्रेस हाथ में नोटबुक और पेन्सिल लेकर जलील के पास चली आयी।

"क्या सेवा?.."

"हमारा बिल दे दीजिये। हम जा रहे हैं..."

"अभी तो ज़्यादा देर नहीं हुई। आप लोग अभी और बैठ सकते हैं," जमशेद ने प्रतिरोध किया।

जलील ने घड़ी देखी।

"सही कह रहे हैं। मुझे ऐसा लगा कि देर हो गयी है।"

"तेईस रूबल अठहत्तर कोपेक," वेट्रेस ने होंठ सिकोड़ते हुए बिल मेज़ पर रख दिया।

"हमने अपना इरादा बदल दिया, प्रिये। सिर्फ़ ये जा रहे हैं, हम अभी और बैठेंगे, डांस-वांस करेंगे। बाद में सारा बिल एक साथ ले आइयेगा।"

वेट्रेस मेज़ के पास से जाने लगी, पर जमशेद ने उसे रोककर अपनी जेब से पच्चीस रूबल का एक नोट निकाला और उसके हाथ में थमा दिया।

"ये मेरे अतिथि हैं, बिल मैं चुका दूंगा।" जमशेद मेज़ पर से उठा, एक नज़र जलील और फिर शहनाज़ पर डाली।

"अच्छा... ख़ुदा हाफ़िज़।"

"आप मेरा अपमान कर रहे हैं, जमशेदजान। अच्छी बात नहीं है। क्या मैं ख़ुद नहीं दे सकता?"

"अरे... अरे, बुरा मत मानिये, प्यारे जलील," जमशेद ने जान-बूझकर जलील के तकियाकलाम को दुहराते हुए कहा। "मेरे दोस्त, अगली बार आपकी बारी होगी।"

"यह दूसरी बात है। यह मर्दोंवाली बात हुई।"

वेट्रेस ने जमशेद की ओर शेष पैसे बढ़ाये।

"रहने दीजिये ..."

"अच्छा नमस्ते," जमशेद ने शहनाज़ की ओर एक नज़र फेंककर कहा।

"मुझे उम्मीद है, जमशेदजान," मेज़ पर से उठते हुए जलील बोला, "यद्यपि हम एक दूसरे से काफ़ी दूर रहते हैं, पर अब हमारे हृदय आगे से एक मिनट के लिए भी अलग नहीं होंगे। आख़िर हम कभी पड़ोसी रहे हैं, और पड़ोसी पड़ोसी के लिए भाई से भी नज़दीक होता है। कहते हैं कि उस दुनिया में क़यामत के दिन आदमी के पाप-पुण्य का हिसाब लगाते समय पड़ोसी से पूछा जाता है ... ख़ैर, चलिये, ख़ुदा करेगा तो फिर मुलाक़ात होगी।"

"ज़रूर।"

जमशेद ने एक बार फिर उनकी तरफ़ देखा, पहले जलील की ओर, और फिर शहनाज़ की ओर। इसके बाद उसने मेज़ पर रखा हुआ कोन्याक का पैग उठाया और सीधे शहनाज़ की आंखें की अतल गहराई में झांकते हुए एक अप्रत्याशित आनन्द के साथ पी गया। शहनाज़ की गहन आंखों में एक चिनगारी भड़की और तत्काल ही बुझ गयी। सम्भव है यह गिलास की परछाईं हो। जाम की तलहटी में प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। प्रकाश ...

"अलविदा ..."

जलील ने पीछे से ख़ुशी से चिल्लाकर कुछ कहा, पर जमशेद ने उसके शब्द नहीं सुने। रेस्तोरां के बड़े हॉल के एक कोने में स्थित छोटे मंच पर सहसा एक ही पल में सब कुछ बदल गया: लम्बे क़द के गिटारवादक ने बल खाना बन्द कर दिया, सैक्सोफ़ोनवादक एक किनारे की ओर चला गया, अधेड़ उम्र के पियानोवादक ने अपनी

पीठ सीधी कर ली, उसकी पतली कंपकंपाती उंगलियां ऊंची उठीं और एक अदृश्य वायु ने उसकी गरदन के कत्थई केश बिखरा दिये, फिर...

जमशेद का चेहरा सर्द पड़ गया...

सिगरेट के धुएं से भरे हॉल में छुरी-कांटों की खनखन, लोगों की बातचीत और शोर-शरबे के बीच संगीत जारी था। हॉल में ओगिन्स्की के अमर पलन्योज़* का साम्राज्य था।

जमशेद ने पीछे मुड़कर देखा।

पर शहनाज़ और जलील में से कोई भी उसे नज़र नहीं आ पाया। चित्रों से सज्जित स्तम्भ ने उनकी मेज़ को ओट में ले लिया था। स्तम्भ के पास नशे में धुत्त एक अधेड़ उम्र का आदमी रो रहा था। उसने अपनी दोनों बांहों में स्तम्भ को जकड़ रखा था। उसका गंजा सिर उसके कन्धे पर लटक आया था। उसके झुर्रीदार चेहरे से लुढ़कते हुए आंसू नीचे फ़र्श पर गिर रहे थे...

...काफ़ी दिन गुज़र गये।

जमशेद काम पर से घर लौट रहा था। नगर में हलकी नीललोहित सांझ उतर आयी थी। बूंदाबांदी हो रही थी। वर्षा ने सुबह से ही अपनी सलेटी खुरदरी जीभ से धरती की सारी गन्दगी को चाटकर साफ़ करना शुरू कर दिया था। वह अपने साथ कूड़ा-कचरा, गत वर्ष के झड़े पत्ते, गन्दे चीथड़े सभी कुछ को बहा ले गयी थी और वापस दे गयी थी पहले पहल की गन्ध और रंग। घर, मेंड़, झाड़ियों की लाल टहनियां, खिलती कलियां और नयी घास – सभी इस गन्ध और

---

* पलन्योज़ – पुराना पोल नृत्य।

रंग से आप्लावित थे। इस वातावरण ने नगर को भी नया रूप प्रदान कर दिया था।

जमशेद चौराहे के पास खड़ा वाहनों की झड़ी के गुज़रने की प्रतीक्षा कर रहा था। सहसा हलकी बारिश के बीच से उसकी दृष्टि चौराहे पर रुकती काली 'वोल्गा' पर पड़ गयी। स्टीयरिंग व्हील पर जलील बैठा सिगरेट पी रहा था। उसकी बग़ल में शहनाज़ का चेहरा भी नज़र आया। दोनों उदासीन और अन्यमनस्क भाव से आगे देख रहे थे। वर्षा की बूंदें विंड स्क्रीन पर चटाके से पड़ रही थीं। विंड स्क्रीन पर लगे हुए वाइपर उन बूंदों को साफ़ करते जा रहे थे, इस क्रम में क्षण भर के लिए गाड़ी में बैठे हुए चेहरे भी साफ़ होते जा रहे थे। लगता था कि यदि थोड़ी देर तक वाइपर यों ही चलते रहें तो ये चेहरे मिट जायेंगे, पूरी तरह अदृश्य हो जायेंगे। पर वे स्वयं इस तथ्य को नहीं जान पायेंगे और वैसे ही आगे बढ़ जायेंगे। बिना चेहरे के लोग...

हरी बत्ती हो गयी और वाहनों के लिए रास्ता खुल गया। इसी क्षण किसी वृद्ध व्यक्ति ने उसकी बांह पकड़ते हुए पूछा:

"बेटे, इधर आस-पास कोई चायख़ाना है क्या?"

"हां, ज़रूर है।"

जमशेद वृद्ध व्यक्ति को चायख़ाने का रास्ता समझाने लगा। इसी बीच जलील की 'वोल्गा' निकल गयी और जमशेद यह देख ही नहीं सका कि वह किस ओर को मुड़ी है।

शाम ढल आयी थी। बूंदाबांदी हो रही थी।



पुलात तालीस (पुलातोव तोल्सतोय)

ताजिक कथाकार पुलात तालीस का जन्म सन् १६२६ में लेनिनाबाद के एक शिक्षक के परिवार में हुआ था। हाई स्कूल पास करने के बाद उन्होंने एक छापाखाने में कम्पोज़ीटर और लाइनोटाइपिस्ट का काम किया। थोड़े समय बाद वह पत्रकार बने और "सदा-ए-शर्क़" ("पूरब की आवाज़") नामक साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक रहे। उनकी पहली कहानी सन् १६४६ में प्रकाशित हुई। अत्यन्त अल्प जीवनकाल में ही (सन् १६६१ में उनका निधन हो गया) यथार्थवादी ताजिक गद्य में वह अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं। उनके अनेक कहानी-संग्रह तथा दो लघु उपन्यास "यौवन" व "ग्रीष्म" प्रकाशित हो चुके हैं। कथाकार की कृतियों के नायक युवा श्रमिक, सामूहिक किसान, शहरी व ग्रामीण बुद्धिजीवी तथा विद्यार्थी हैं। लेखक की अधिकांश रचनाएं अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली में लिखी गयी हैं। ये रचनाएं परिवार, दैनंदिन जीवन तथा नैतिकता को समर्पित हैं।

सबसे बड़ा सुख

अगर आप कभी लेनिनाबाद गये हों तो आप जानते होंगे कि इस शहर के निकट उत्तर की तरफ़ से सिरदरिया बहती हुई गुज़रती है। सिरदरिया को पार करने के बाद शुरू होती है एक पथरीली स्तेपी जो मुग़ल पहाड़ी की तलहटी में जाकर समाप्त होती है। मुग़ल पहाड़ी बहुत ज़्यादा ऊंची नहीं है। इसमें न हिम-नद हैं, न तीव्र जलप्रपात और न सघन वनराशि ही। वसन्त ऋतु में इसके ढलान नई-नई उगी घास से ढक जाते हैं, जिसमें से रंगबिरंगे पुष्पों के फैले हुए बिन्दुपुंज अलग से नज़र आने लगते हैं। और तब शहर के लोग मुग़ल पहाड़ी में हिमसुमन इकट्ठा करने निकल पड़ते हैं। कुछ दिनों बाद लालापुष्प तथा खटमिट्ठी रेवंद इकट्ठा करने का नम्बर आता है। इन चीज़ों की यहां भरमार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उद्देश्य से यहां आनेवालों में सबसे ज़्यादा संख्या लड़कों की होती है।

मुझे याद है कि लड़कपन में एक बार अप्रैल के शुरू-शुरू में मैं व मेरे दोस्त यूसुफ़ ने लालापुष्प इकट्ठा करने के लिए मुग़ल पहाड़ी में जाना तय किया। पूरा दिन तैयारी में बीता। दूसरे दिन सुबह मुंह अंधेरे ही हम लोग अपनी यात्रा पर निकल पड़े।

पुल पार करने के बाद हमने अपनी बोतलों में नदी का पानी भरा और स्तेपी के किनारे-किनारे क़दम बढ़ा दिये।

वातावरण में ठंडक थी। ताज़ी प्रभातकालीन वायु के शीतल झकोरों मे मेरा शरीर कंपकंपा उठा।

"अभी धूप खिलेगी, गर्मी हो जायेगी," स्थूलकाय यूसुफ़ ने मेरा हौसला बढ़ाते हुए कहा। ठंड का उस पर कुछ भी असर नहीं हो रहा था। उसने अपनी क़मीज़ के बटन तक बन्द नहीं किये थे।

उसके शरीर की स्थूलता से मुझे अनायास ही ईर्ष्या हो आयी। उसके पेट पर हाथ मारते हुए मैंने कहा:

"ख़ूब चर्बी चढ़ी हुई है तुझे।"

"तुम्हारी तरह धान-पान होने से यह कहीं अच्छा है!" यूसुफ़ ने मुझे कन्धे से टहोका मारते हुए कहा।

और फिर शुरू हो गया हुड़दंग।

"गर्मी आ गयी, है न?" माथे से पसीना पोंछते हुए यूसुफ़ ने कहा।

मेरे शरीर में गरमाहट अवश्य आ गयी थी, पर थोड़ी ही देर में मुझे पुनः ठण्ड लगने लगी। हवा शरीर में चुभती जा रही थी। उजाला हुए बहुत देर हो चुकी थी, पर सूरज अभी भी पहाड़ियों के पीछे छिपा हुआ था। भय से हमारी आंखें मेघाच्छन्न आकाश की ओर उठ गयीं। हमारी समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी यात्रा आगे जारी भी रखें या नहीं। कुछ भी कह लीजिये, आख़िर हम थे तो बच्चे ही। यूसुफ़ की उम्र बारह साल की थी और मैं सिर्फ़ ग्यारह साल का ही था।

"हाशिम, क्या ख़याल है, लौट चलें? पर डर लग रहा है कहीं हम बदनाम न हो जाएं," यूसुफ़ ने कुछ सोचकर कहा, "लड़के हमारी हंसी उड़ायेंगे।"

"कितना भयानक मौसम है!.." मैंने एक दीर्घ श्वास भरते हुए कहा।

"अब तक मौसम अच्छा बना रहा, पर आज तो जैसे हमारा दुश्मन हो गया है... शायद आसमान साफ़ हो ही जाए।"

"अब जो भी हो," मैंने हवा में हाथ मारते हुए कहा, "हम चलेंगे ज़रूर। आख़िर वहां भेड़िया तो है नहीं, जो हमें खा जायेगा।"

"या कहो तो लौट ही चलें।"

"वाह रे बहादुर!" मैंने उसका उपहास करते हुए कहा। "क्या

अपनी बात से मुकर जायेगा?"

"कौन, मैं? चलो, चलें।"

हवा के झकोरों से स्तेपी की घास लहरा रही थी। पोस्त के पौधे झुककर यत्र-तत्र ज़मीन से सजे जा रहे थे। घास और फूलों की मिली भीनी महक ज़मीन से उठकर वातावरण में खुशबू बिखेर रही थी। कहीं-कहीं हमारे पैर की आहट से बिदककर घास में छिपा कोई टिड्डा हड़बड़ाकर उड़ने लगता था। कभी कहीं कोई गिरगिट सरसराता हुआ हमारे पास से भाग निकलता और तत्क्षण ही आंखों से ओझल हो जाता था। उसका रंग पृष्ठभूमि से इतने अद्भुत ढंग से मिल जाता था कि उसे पहचान पाना मुश्किल होता था।

"इधर देखना ज़रा, हाशिम!" सहसा यूसुफ़ का भावोत्तेजित स्वर सुनाई दिया। वह एक स्थान पर ठिठककर खड़ा हो गया था। उसके पैरों के पास किसी पक्षी के सिर, पंखों तथा पंजों के खून से लथपथ टुकड़े पड़े हुए थे।

"बेचारा! ... लगता है कि किसी लोमड़ी या भेड़िये का शिकार हो गया ..."

"यह तो तीतर है," आत्मविश्वासभरे शब्दों में यूसुफ़ ने कहा। "और भेड़िये तो यहां कहीं हैं ही नहीं।"

आगे का रास्ता हमने मौन रहकर काटा, अभागे तीतर की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु से हमारा हृदय दुःखी था।

"प्रकृति में अस्तित्व के लिए निर्मम संघर्ष निरन्तर चलता रहता है," अपने अध्यापक की नक़ल उतारते हुए सहसा यूसुफ़ बोल उठा।

उसके इन शब्दों को सुनकर मैं हंस पड़ा। प्रसन्नतापूर्वक बातें करते हुए हम तेज़ी से आगे बढ़ते रहे।

शीघ्र ही हम पहाड़ी की तलहटी में पहुंच गये और ऊपर पहाड़ी पर चढ़ने लगे। स्तेपी अब हमारे पीछे छूट चली थी। हवा उसके ऊपर

बिछी हुई घास की चादर पर लहरें बना रही थी। इस समय हमें स्तेपी निस्सीम सागर की तरह प्रतीत हो रही थी – ऐसा सागर जिसे हमने अब तक सिनेमा के पर्दे पर ही देखा था।

हम ऊपर और ऊपर चढ़ते गये, और अन्त में एक तंग दर्रे में आ पहुंचे। यहां पर हवा शान्त थी। चारों ओर पक्षियों की चहचहाहट सुनाई दे रही थी। यदा-कदा तीतरों के पंखों की ज़ोरदार फड़फड़ाहट भी कानों में पड़ रही थी। इस तंग पहाड़ी दर्रे में घास स्तेपी की अपेक्षा कहीं ज़्यादा घनी थी। हमारे पैर इस घास में घुटनों तक धंस गये थे। ओस से हमारी टांगें भीग गयी थीं। नगर के धूल-धक्कड़ से दूर स्वच्छ हरीतिमा वाले पहाड़ी के ढलान बरबस हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे थे। यहां की हवा में भी वैभिन्य था। स्वच्छ ताज़ी हवा में सांस लेना सुखद लग रहा था। अपने सामने प्रस्फुटित इस पर्वतीय सौन्दर्य का अवलोकन कर हम अपने भय की बात ही भूल गये थे।

पर हमारी खुशी भी ज़्यादा देर तक टिकी न रह सकी। अचानक न जाने कहां से एक कुत्ता ग़ुर्राता हुआ हमारी ओर बढ़ता दिखाई दिया। उसकी आंखों में ख़ून दौड़ रहा था। क्रोध से उसकी गरदन के बाल खड़े हो गये थे। अगर उसके कान कटे न होते तो हमें उसमें भेड़िये का भ्रम होने लगता।

मैंने यूसुफ़ की ओर देखा। भय से उसका चेहरा पीला पड़ गया था। सम्मोहित-सा वह आंखें फाड़े अपने पास आते उस दानव को देखे जा रहा था।

"पत्थर मारकर खदेड़ूं इसको?" मैंने फुसफुसाकर पूछा।

यूसुफ़ ने इनकार में सिर हिलाया।

"क्या कह रहा है तू!.. ख़बरदार, अपनी जगह से हिलना मत। सीधे उसकी आंखों में देख, वरना वह हमें फाड़कर खा जायेगा।"

"दौड़ चलें, यूसुफ़, जल्दी!"

यूसुफ़ ने मेरा हाथ पकड़ लिया।

"अपनी जगह पर खड़ा रह, मूर्ख। जो तुझसे कह रहा हूं, वही कर!"

पता नहीं यूसुफ़ सच कह रहा था या झूठ, पर वह कुत्ता हमसे कुछ फ़ासले पर आकर रुक गया और कुछ इस तरह भौंकने लगा जैसे किसी को बुला रहा हो। उसकी गरदन के बाल अब बैठ गये थे। उसके भौंकने में भी अब अमैत्री का वह पहले जैसा भाव नहीं था। मेरी सांस में थोड़ी सांस लौट आयी। अपनी जेब में रोटी का एक टुकड़ा निकालकर मैंने उसकी ओर बढ़ाया: "ले, खा।"

लेकिन इस पर कुत्ते ने पुनः ज़ोर से गुर्राना शुरू कर दिया। उछलकर वह एक तरफ़ को हटा और लगा ज़ोर-ज़ोर से भौंकने। डर के मारे मेरे घुटने सीधे न रह सके। टांगें कांपने लगीं।

"ख़बरदार, हिलना नहीं," यूसुफ़ ने तीव्र स्वर में फुसफुसाते हुए कहा। हम अपने स्थान पर बुत बने खड़े रहे। कुत्ते का भौंकना निरन्तर जारी था। एक लम्बे समय तक यही स्थिति बनी रही।

"क़ारा, चलो इधर," सहसा किसी की तीव्र आवाज़ सुनाई दी।

चट्टान के उभरे हुए भाग के उस ओर से ऊंचे क़द का एक आदमी प्रकट हुआ। कुत्ता तुरन्त चुप हो गया और पूंछ हिलाता हुआ उसकी तरफ़ भाग चला।

वह आदमी गड़ेरिये के एक लम्बे लग्गे के सहारे चल रहा था। उसकी पीठ पर राइफ़ल लटकी हुई थी और सिर पर लोमड़ी के फ़र की मग़ज़ी लगी हुई क़िरग़ीज़ी कनटोपी थी। शरीर पर पहना हुआ काला चोग़ा ज़मीन तक लटक रहा था। कमर पर फ़ौजी अफ़सर की पेटी कसी हुई थी। काले चोग़े के भीतर से फ़ौजी क़मीज़ का कालर झांक रहा था। धूप से उसका चेहरा ललछौंहा गया था। बादाम जैसी उसकी कंजी आंखें हमें कठोरता से घूर रही थीं।

"क्या चाहिए तुम लोगों को यहां?" काफ़ी देर तक हमें घूरकर देखने के बाद उसने ताजिक भाषा में प्रश्न किया, पर उसके उच्चारण से साफ़ ज़ाहिर था कि वह ताजिक नहीं है।

हमने परेशान होकर उसकी ओर देखा। हमारी समझ में नहीं आ रहा था कि उसकी बात का क्या उत्तर दें।

"मैं पूछ रहा हूं कि क्या काम है तुम्हें यहां?" गड़ेरिये ने ग़ुस्से में भरकर अपने प्रश्न को दुहराया। "क्यों आये हो यहां?"

'तुम्हारे बाप के पहाड़ हैं क्या ये?' मैं मन-ही-मन उत्तेजित हो उठा, पर फिर साहस बटोरकर रूखे स्वर में बोला:

"हम यहां लालापुष्प इकट्ठा करने आये हैं।"

"लालापुष्प इकट्ठा करने..." गड़ेरिये ने चबा-चबाके कहा। "होंठों पर दूध तक अभी सूखा नहीं है, और चले आए पहाड़ पर चढ़ने। हुं... लालापुष्प ले जायेंगे ये... क़ारा!" गड़ेरिये ने अपने कुत्ते को आवाज़ दी और मन-ही-मन कुछ बड़बड़ाते हुए वहां से चला गया।

"ओह, कैसा दुष्ट है!" काफ़ी देर तक चुप रहने के बाद यूसुफ़ के मुंह से स्वर फूटा। वह अपने माथे पर चू आये पसीने को पोंछ रहा था। "ताजिक जैसा तो नहीं लगता..."

"शायद क़िरग़ीज़ है," मैं बोला, पर तुरन्त ही पूछ बैठा: "क्या सभी क़िरग़ीज़ ऐसे ही ग़ुस्सेवर होते हैं?"

"क़िरग़ीज़ भी तरह-तरह के होते हैं," यूसुफ़ ने गम्भीरता से उत्तर दिया। उसे अपनी उत्कृष्टता पर पूरा विश्वास था। वह समझता था कि वह मुझसे ज़्यादा होशियार है, और उसकी जानकारी भी मुझसे अधिक है। "मेरी चाची के यहां रहते थे कुछ क़िरग़ीज़ – बड़े अच्छे लोग थे।"

हम अपने रास्ते पर आगे बढ़ चले। कुछ क़दम चलकर यूसुफ़ हंसकर बोला:

"कुत्ते से हम काफ़ी डर गये थे, है न?"

थोड़ी ही देर में हम एक चौड़ी सीधी खड़ी चट्टान के पास पहुंच गये। चट्टान की दूसरी तरफ़ एक सफ़ेद तंबू-घर नज़र आ रहा था। पास ही भेड़ों का एक रेवड़ चर रहा था। धुआं ऊपर उठ रहा था। तंबू-घर के पास काली क़मीज़ पहने एक लड़का पीपे जैसे किसी बर्तन के हैंडिल को घुमा रहा था।

"मक्खन निकाल रहा है," यूसुफ़ बोला, हालांकि मैंने भी इसे देख लिया था।

रेवड़ के बीचों-बीच काला चोग़ा पहने वही व्यक्ति एक भेड़ के ऊपर झुका उसके पेट को टटोल रहा था।

"वही आदमी है।"

"उसे छोड़, यूसुफ़। चल, यहां से निकल चलते हैं।"

उस गड़ेरिये तथा उसके पागल कुत्ते से पुनः मुठभेड़ होने से बचने के लिए हमने चट्टान को घूमकर पार करना तय किया। जिस रास्ते पर हम चल रहे थे, वह संकरा होता गया। पहाड़ों की चढ़ाई सीधी खड़ी हो गयी थी। हमारे सम्मुख एक दूसरे से बढ़कर सुन्दर दृश्य खुलते चले जा रहे थे। हम ख़ुश थे। इतना बड़ा रास्ता पार करने के बाद भी थकावट बिलकुल भी अनुभव नहीं हो रही थी। चारों ओर गहन शान्ति का साम्राज्य था। पक्षियों की चहचहाहट अथवा तीतरों के पंखों की फड़फड़ाहट – कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था। अगर आ रही थी तो बस, हमारे पैरों की ठोकर से उछलनेवाले कंकड़-पत्थरों की आवाज़ें।

"लालापुष्प!" सहसा प्रसन्नताभरे स्वर में यूसुफ़ चिल्लाया और एक तरफ़ को दौड़ चला।

न जाने क्या होता है कि यूसुफ़ की हमेशा हर चीज़ पर मुझसे पहले निगाह पड़ जाती है। इस बार भी पहला लालापुष्प इसी के

हाथ लगा। मैं ईर्ष्याभरी नज़रों से दोस्त को अपने झोले में लालसुर्ख़ फूल डालते देख रहा था। पर सहसा मेरी दृष्टि कुछ दूरी पर चमकते एक चमकीले धब्बे पर पड़ गयी, और मैं विजयनाद करते हुए उस ओर दौड़ पड़ा। उस लालापुष्प को तोड़ने के बाद जैसे ही मैंने आंख उठाकर देखा, मेरी दृष्टि दूर एक खड़ी ढलान पर फैले घास के क़ालीन के ऊपर चमकते फूलों की पट्टी पर जा पड़ी। पीले, लाल – सैंकड़ों लालापुष्प थे वहां।

जल्दी-जल्दी फूल तोड़ते हुए हम कब चोटी पर पहुंचकर दूसरी ढलान से उतरने लगे – इसका तो हमें पता ही नहीं चला।

"बस, बहुत हो गया," यूसुफ़ ने अन्ततः कहा, "मेरे पास फूल रखने के लिए अब कोई जगह बाक़ी नहीं रही।"

"तो लौट चलें फिर?" अपनी झोली में फूलों के भारीपन को महसूस करते हुए मैंने पूछा।

"और क्या ख़याल है तेरा? हमें यहां और करना ही क्या है? पर चलने से पहले थोड़ा खा-पी लें। वो... चश्मा दिख रहा है न? चलो, वहीं चलकर बैठें।"

पहाड़ी फ़र के एक टेढ़-मेढ़े वृक्ष के नीचे स्थित उस साफ़ पानी के चश्मे के पास बैठकर हम भोजन करने लगे। रोटियों को ठण्डे पानी में भिगोकर हमने मुंह में भर लिया। जब खा-पीकर थोड़ी ताज़गी आयी तो मैं बोला कि इस जगह पर रहने के लिए घर बना लिया जाता तो कितना अच्छा रहता। पर यूसुफ़ ने हमेशा की तरह इस बार भी मेरे विचार का प्रतिवाद किया। उसने स्पष्ट किया कि यहां पर जल्दी ही मन उचटने लगेगा। और फिर यहां बाज़ार, दूकानें वग़ैरह कहां हैं? कैसे रह सकता है यहां इनसान?

बातचीत में समय का ध्यान ही नहीं रहा। सहसा तेज़ आंधी

आने लगी। आकाश काले बादलों से ढक गया। यूसुफ़ उछलकर उठ बैठा।

"देख रहे हो, मूसलाधार बारिश होनेवाली है!" वह चिल्लाया।

मैं भयभीत हो उठा। बारिश से बचने के लिए यहां कोई जगह थी नहीं, और ऐसी हालत में ढलान से नीचे उतरना ख़तरे से ख़ाली नहीं था—फिसलने का डर जो था। फ़ौरन तैयार होकर हम नीचे की ओर भाग चले। आकाश में छाया धुंधलका प्रति क्षण गहराता जा रहा था। तीव्र से तीव्रतर होती आंधी हमें खदेड़े लिये जा रही थी।

वातावरण में ठंडक समा गयी थी। आकाशीय बिजली की चकाचौंध ने हमें क्षण भर के लिए अन्धा बना दिया। ठीक इसी क्षण आकाश में भयंकर मेघगर्जन होने लगा। पैरों के नीचे की धरती कांप उठी। मेघगर्जन तथा बिजली की कड़क से उद्दीप्त आंधी और भी तीव्र आक्रोश के साथ चीत्कार करती हुई सनसनाने लगी। हम उसके बहाव में बहे जा रहे थे। अचानक आंधी के तीव्र वेग से मैं नीचे गिर पड़ा, अगर संभल न जाता तो शायद मेरा ख़ात्मा ही हो जाता।

"यू-सु-उफ़!" डर के मारे मैं चीख़ उठा, पर मेरी चीख़ आंधी के शोर में दबकर रह गयी। वायुवेग ने उसे एक तरफ़ ला पटका।

इसी वक्त एक मोटी सी बूंद मेरे माथे पर धप से आ गिरी। वर्षा शुरू हो गयी थी।

जल्द ही वह मूसलधार हो गयी। थोड़ी ही देर में हम हड्डियों तक तर-बतर हो गये। घास ज़मीन पर बिछ-सी गयी। उसमें भयंकर फिसलन पैदा हो गयी थी। कड़कती बिजली के प्रकाश में हमारी दृष्टि एक ऊंची चट्टान पर पड़ी। यहां इस चट्टान के नीचे आश्रय लिया जा सकता था, अतएव हम उसी तरफ़ झपट पड़े। पर मूसलाधार बारिश से हम वहां भी न बच सके। पत्थरों की दरारों से रिस-रिसकर आ रहे पानी की मोटी-मोटी धारें हमें सराबोर किये जा रही थीं।

डर लगने लगा कि वर्षा की धार का प्रबल वेग हमें नीचे दर्रे में न बहा ले जाए। सहसा कानों को बहरा कर देनेवाली एक तीव्र गर्जना सुनाई दी। कुछ विशालकाय शिलाखण्ड हमारी शरणस्थली के पास से ही उछलते हुए ढलान से नीचे गिरने लगे। भय ने हमें जड़ बना दिया।

'बस, किसी तरह पकड़े रहते! फिसलने से बच पाते!' मैं मन-ही-मन इन शब्दों को ऐसे दुहराता जा रहा था जैसे मेरे दादा अपनी दुआ-ओं को दुहराया करते थे।

बारिश बन्द होने का नाम ही नहीं ले रही थी। ठण्ड से सुन्न होकर हम कांप रहे थे। कितना समय ऐसे ही बीत गया, मुझे नहीं मालूम। हां, बस इतना ही याद है कि मेरे हाथों की उंगलियां ऐंठ गयी थीं। हमें अब अपने बचने की कोई उम्मीद नहीं रही थी। इतने में ही वर्षा के शोर को चीरती हुई किसी की आवाज़ मेरे कानों में पड़ी। शुरू में मुझे लगा कि शायद मेरे कान बज रहे हैं, पर नहीं, आवाज़ पुनः सुनाई दी। और इसके बाद कुत्ते के भौंकने की आवाज़ भी आयी। हमारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा।

"यूसुफ़! यूसुफ़जान! सुन रहे हो?" बरबस ही मेरे मुंह से चीख़ निकल गयी। "हां... आं..." यूसुफ़ चिल्लाया।

और तभी मूसलाधार बरसात के बीच हमें वह भीमकाय कुत्ता नज़र आ गया। वह ज़ोर-ज़ोर से भौंकता हुआ हमारी ओर दौड़ा चला आ रहा था। पर अब हमें उससे डर नहीं लग रहा था। भले ही काट ले हमें, लेकिन अब हमारा जीवन तो सुरक्षित था। ढलान के दूसरी ओर से वही गड़ेरिया प्रकट हुआ। चोग़े के ऊपर इस समय उसने मोम-जामे की बरसाती ओढ़ रखी थी। हाथ में पहलेवाला लग्गा ही लिये था। कुत्ता बारी-बारी से हमारी और उसकी ओर दौड़ लगाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहा था। कितना बुद्धिमान, प्यारा और अच्छा कुत्ता था वह! बिना एक भी शब्द बोले गड़ेरिये ने फ़्लास्क निकाला

और उसके ढक्कन में एक पारदर्शक द्रव उंडेलकर बारी-बारी से मुझे व यूसुफ़ को पीने के लिए दिया। मुझे मुंह के अन्दर तेज़ कड़वाहट महसूस हुई। पर अगले ही क्षण पूरे शरीर में गरमाहट दौड़ गयी, ऐसा लगा जैसे किसी ने प्राण फूंक दिये हों। उसके बाद ही गड़ेरिये ने हमें अपने पीछे चलने का आदेश दिया।

शीघ्र ही हम उस तंबू-घर के पास आ पहुंचे, जिसके भीतर अंगीठी में अंगारे दहक रहे थे।

"अपने कपड़े सुखा लो!" गड़ेरिये ने हमसे कहा और दुबारा बिना कुछ कहे-सुने वहां से चला गया।

हमने अपने गीले कपड़े सूखने के लिए लटका दिये। तभी तंबू-घर के भीतर उसी बालक ने प्रवेश किया, जिसे हमने सुबह के समय मक्खन निकालते हुए देखा था।

"तो तुम लोग बारिश में फंस गये थे?" उसने मुसकराते हुए कहा। "काफ़ी डर गये थे क्या?"

"न... नहीं तो," लज्जा से लाल होते हुए यूसुफ़ ने उत्तर दिया। "क्यों डरते हम?"

"शाबाश! पर मैं और चाचा तो बहुत डर गये थे।"

"क्यों? इसमें डरने की क्या बात थी?" कुछ न समझते हुए मैं बोल पड़ा, "आख़िर क्यों?"

"क्यों कैसे? तुम लोगों को तो मालूम नहीं था न कि तुम्हारे साथ क्या बीत सकती है। पर चाचा को मालूम था। सुन रहे हो, कैसे लुढ़क रहे हैं पत्थर?"

वास्तव में मेघगर्जन के साथ ही साथ चट्टानों के टूट-टूटकर गिरने का शोर चारों ओर फैल रहा था।

"क्या नाम हैं तुम लोगों के?" नन्हे गृहस्वामी ने प्रश्न किया। हमने अपने-अपने नाम बता दिये।

"और मेरा नाम मीरतेमूर है। आओ, बैठ जाओ।"

उसने हमें आमन्त्रित किया, और दस्तरख़ान बिछाकर उस पर रोटी, पनीर, उबले हुए मांस व दही का कटोरा रख दिया। हम जंगलियों की तरह खाने पर टूट पड़े।

शाम को वर्षा के थम जाने के बाद मीरतेमूर, उसके चाचा और उनका स्वामीभक्त कुत्ता हमें छोड़ने के लिए स्तेपी तक आये। गड़ेरिये ने हमसे बड़ों की तरह हाथ मिलाया।

"शुभ यात्रा," शान्त स्वर में वह बोला।

"इस सहायता के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद," हमने प्रसन्न स्वर में कहा और स्तेपी की ओर अपने क़दम बढ़ा लिये।

कुछ क़दम चलने के बाद हमने पीछे मुड़कर देखा। गड़ेरिया अपने लग्गे के सहारे कोहनी टिकाये खड़ा था। उसकी नज़रें हमारी ओर ही लगी थीं। शाम के धुंधलके में उसकी आकृति एक दानव की तरह लग रही थी। मीरतेमूर के हाथ विदा में हिल रहे थे। क़ारा उनके पास ही ज़मीन पर बैठा हुआ था।

"विदा!" मैंने चिल्लाते हुए कहा।

"विदा!" उत्तर में मीरतेमूर का स्वर भी सुनाई दिया। विदा के लिए हाथ हिलाकर हम आगे बढ़ चले। हम जानते थे कि घर पहुंचकर हम पर बेभाव की पड़ेगी, पर हमारा हृदय प्रसन्नता से भरा हुआ था।

उस दिन की प्रसन्नता और प्राप्त सुख का अर्थ मैं वयस्क होने पर ही समझ पाया। तभी मैं समझ सका कि ज़िन्दगी की सबसे बड़ी ख़ुशी, सबसे बड़ा सुख किसी नेक इनसान से मुलाकात में है।



रसूल हादी-ज़ादा

उनका जन्म सन् १९२८ में समरक़न्द के एक शिक्षक परिवार में हुआ था। रसूल हादी-ज़ादा आलोचक, साहित्यमर्मज्ञ, कथाकार तथा नाटककार हैं। उनके अनेक लेख अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। ताजिक भाषा के उत्कृष्ट साहित्य व सोवियत साहित्य के इतिहास पर रसूल हादी-ज़ादा ने अनेक विशिष्ट शोध-पत्र भी लिखे हैं। इसके अलावा अपनी जनता के इतिहास के गहन ज्ञान के कारण उन्हें अत्यन्त रोचक ऐतिहासिक कहानियों, लम्बी कहानियों, उपन्यासों, नाटकों तथा फ़िल्मी पटकथाओं के लिए पर्याप्त सामग्री मिलती रहती है।

मूलियान की पुकार

वसन्तकालीन मेघों के मध्य लुकाछिपी करता चांद लम्बी-चौड़ी हरित स्तेपी को अपने प्रकाश से रह-रहकर आलोकित कर रहा था। बादलों के बीच से चांद के बाहर प्रकट होते ही स्तेपी के दक्षिण में जलते अलाव की लपटें फीकी पड़ जातीं, धवल चांदनी में स्तेपी में गड़े ख़ेमों और उनके ऊपर फहरानेवाले ध्वजों के तिमिर चित्र एकबारगी स्पष्ट हो उठते, पर चांद के बादलों की ओट में जाते ही वे पुनः रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में डूब जाते, और तब मानो किन्हीं अदृश्य हाथों का जादू अलाव को पुनः भक से भभका देता।

एक गहरे नाले के पास दो घुड़सवार निश्चल खड़े थे। उनके मुंह उत्तर दिशा की ओर थे, पर वे रह-रहकर अपने पीछे सुप्त शिविर की ओर मुड़कर देख लेते थे। यदा-कदा दूर पश्चिम के गांवों से कुत्तों के भूंकने और मुर्ग़ों के बांग देने की आवाज़ें आ रही थीं।

खड़े-खड़े ऊब उठे कुम्मैत घोड़े वातावरण की निस्तब्धता से बेचैन होकर अपने खुर ज़मीन पर मारने लगे थे। रजत कलापट्टी से सजी अपनी लगामों को उतावली से खींचते हुए वे मानो आगे बढ़ने के लिए अपने सवारों का आह्वान कर रहे थे।

दूर पोपलर के वृक्षों की ओट में ओझल होते नाले की स्याह सतह पर चन्द्रमा की परछाईं थिरक रही थी। सहसा एक घोड़े के खुर से लुढ़ककर एक पत्थर छपाक से नाले में जा गिरा और चन्द्रमा की परछाईं दो हिस्सों में बंट गयी। लहरों के वेग ने परछाईं के टुकड़े-टुकड़े कर उसे इधर-उधर बिखेर दिया, पर वह शीघ्र ही पुनः गोलाई में एकत्रित हो गयी, श्यामवर्णी जल की सतह पर बादलों के बादबान

से सुशोभित चन्द्रमा का उज्जवल जहाज़ उतरने लगा। जल और प्रकाश के इस खिलवाड़ से मोहित घुड़सवारों को आभास ही नहीं हो पाया कि किस तरह पश्चिम दिशा से बढ़ते मेघपुंज ने चंद्रमा को तीव्रता से अपने घेरे में ले लिया है।

अंधेरा और भी नीचे उतर आया था। आकाश बादलों से ढक गया था। चेहरे पर ठंडी हवा के थपेड़े और रिम-झिम वर्षा की बूंदें चुभ रही थीं।

घुड़सवारों में से एक ने हड़बड़ाकर अपना भाला घास पर रखा और लगाम को संभाले हुए ज़ीन का पट्टा कसने लगा।

"सफ़र," अलाव की लपटों की ओर निगाह टिकाये उसके साथी ने कहा, "देखो तो सही, रात्रि की निस्तब्धता में हमारा शिविर उस क़ब्रिस्तान की तरह लग रहा है जिसकी हर क़ब्र पर मोमबत्ती जल रही है।"

सफ़र ने सम्भवतः उसकी बात सुनी ही नहीं। अपने भाले को हाथ में लेकर वह चुपचाप घोड़े पर सवार हो गया।

"लौटने का समय हो गया है। सब ठीक-ठाक है। चलो, चलें।"

और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उसने घोड़े की लगाम घुमायी और उसे शिविर की ओर सरपट दौड़ा ले चला। उसका साथी शीघ्र ही उसके बराबर आ पहुंचा। फिर वे लोग दुलकी चाल से घोड़ा दौड़ाते हुए साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। सफ़र के विषादग्रस्त चेहरे की ओर देखकर उसके साथी ने कहा:

"जहां तक मुझे मालूम है कई दिनों से तुम्हारे होंठों से हंसी ग़ायब है। लगता है दाल में कुछ काला है, जिसे तुम मुझसे छुपा रहे हो। छुपा रहे हो न?"

"कुछ नहीं हुआ है," सफ़र ने दो टूक जवाब दिया और सिर झुका लिया।

वे चुप्पी साधे चलते रहे।

सहसा सफ़र का घोड़ा कनौतियां खड़े किये पत्थरों के ढेर के पास ठिठक गया। कुछ ही क़दम आगे उसका रास्ता कट गया था। एक जंगली जनवार उसके आगे से भागा। होकर घोड़ा ज़ोर से हिन-हिनाया और पुनः अपने रास्ते बढ़ चला। सफ़र ने जैसे गहरी नींद से जागकर कहा :

"एक महीने से लगातार मुझे दिन-रात अपनी अभागी मां की याद सताये जा रही है। तुम जानते ही हो, अब्बास, कि मैं जब उन्हें छोड़कर चला था, उस समय वह बिस्तर से उठने लायक़ भी नहीं थीं। सात महीने से मुझे उनकी कोई ख़बर नहीं मिली है। न मालूम उन पर क्या बीती। पिछले कुछ दिनों से मुझे एक भय खाये जा रहा है कि शायद मैं अब उनसे फिर कभी नहीं मिल सकूंगा। घर से चलते समय मैंने उनसे यही कहा था कि दो-एक महीने के लिए ही जा रहा हूं।"

"हां, इस यात्रा ने तो सबको उबा दिया है। जिन लोगों ने अमीर को इस यात्रा के लिए उकसाया था, वे भी अब शिकायत करने लगे हैं। उनकी समझ में नहीं आ रहा है कि बुख़ारा लौटने के लिए करें तो क्या करें?"

सफ़र ने कोई जवाब नहीं दिया। वह उसी तरह शिविर के पास जलते अलाव की तरफ़ देखता रहा। ठीक उसी समय एक उल्लू तेज़ी से पंख फड़फड़ाते हुए उनके सिर के ऊपर से गुज़र गया।

"यह मनहूस उल्लू भी जाने कहां से आ टपका! बुरा लक्षण है यह। पिछले कुछ दिनों से मुझे अपशकुन ही अपशकुन नज़र आ रहे हैं। दिल में भय समाने लगा है।"

"क्या सभी अपशकुनों पर विश्वास करना चाहिए?"

"नहीं, अब्बास, यह उतनी सरल बात नहीं है। दुर्भाग्य हम सबका

इन्तज़ार कर रहा है। तीन दिन पहले मैंने ऐसा बुरा सपना देखा है कि अब तक मेरे होश ठिकाने नहीं हैं। सपने में मैंने देखा कि गश्त लगाते हुए मैं अकेला शिविर से दूर निकल गया हूं। देखता हूं कि सामने एक विशाल नदी है। मैं रुक गया। जल की प्रचंड लहरों पर मेरी दृष्टि गयी। नदी के दूसरे किनारे पर देखा कि कोई चीज़ हिल रही है। ध्यान से देखने पर लगा कि वह मेरी मां हैं। वह औंधे मुंह रेत पर लेटी हुई हैं और सिर उठा-उठाकर मेरी ओर देख लेती हैं। उनके सफ़ेद बाल बिखरकर थके-थके श्यामल चेहरे पर गिरे पड़ रहे थे। अपने कमज़ोर हाथों को उठाकर वह मुझे पुकार रही थीं, पर उनकी आवाज़ मेरे कानों तक बड़ी मुश्किल से आ पा रही थी। मैं जैसे जड़ हो गया। देखता हूं कि मां के दाहिनी ओर से एक विशालकाय सर्प उनकी ओर बढ़ा चला आ रहा है। मैंने ज़रा भी देर की तो वह मां को काट खायेगा। मैंने घोड़े को एड़ लगायी और नदी में कूद पड़ा। नदी ज़ोर से गरज रही थी। घोड़ा पानी के भंवर में फंस गया, जहां से निकलने की भरपूर चेष्टा करने लगा। मेरी दृष्टि मां की ओर ही लगी हुई थी। मां के अतिरिक्त मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। नदी के मध्य पहुंचते ही मुझे भयानक गड़गड़ाहट सुनायी दी। उसका प्रवाह मुझे बहाये ले जा रहा था। तभी मेरी आंखों के आगे अग्नि-पुंज फूट पड़ा। किसी के शक्तिशाली हाथ ने मुझे घोड़े की पीठ से उठाकर वापस किनारे पर पटक दिया। मेरे मुंह से चीख़ निकल पड़ी। आंख खुली तो देखा कि मेरे ऊपर तंबू का गुम्बद है। इसके बाद मेरी दृष्टि अबुलफ़ज़ल पर पड़ी। बेचारा अपने पलंग से उठकर मेरी ओर आश्चर्यभरी निगाहों से ताक रहा था। तूफ़ान और मूसलाधार वर्षा का प्रचण्ड वेग जारी रहा।

"क्यों चीख़ रहे हो?"

"बुरा सपना था।" मैंने यह कहकर करवट बदल ली।

16–730

काफ़ी देर तक मुझे नींद नहीं आयी। आंख मूंदते ही वह सर्प मुझे दिखायी देने लगा या मां की पुकार सुनायी देने लगी। अभी-अभी जब हम नाले के ऊपर खड़े थे और पत्थर ने लुढ़ककर चन्द्रमा की परछाईं के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे—तो मुझे वही गरजती-उफनती नदी और सपने में देखे उस अग्नि-पुंज की याद आ गयी। मुझे ऐसा लगा जैसे नाले के दूसरे किनारे पर मेरी मां लेटी पड़ी हैं।"

सफ़र ने इतना कहकर मौन साध लिया। सामने से गीदड़ के हुआं-हुआं करने की आवाज़ सुनायी देने लगी। पश्चिमी दिशा में बिजली की वक्र रेखाएं कौंध उठीं। आसमान पर नीचे उतर आये बादल उस चमक से उद्भासित हो गये।

बायीं ओर किसी गांव से उल्लू की हलकी-हलकी आवाज़ें आने लगीं। उसकी आवाज़ सुनकर सफ़र को उस पहलेवाले उल्लू का स्मरण हो आया जो अभी-अभी उनके ऊपर से गुज़र गया था। इस दूसरे रात्रिचर पक्षी की आवाज़ से सफ़र को निकट भविष्य में आनेवाली विपदा का पूर्वाभास होने लगा। अपने सम्मुख उल्लू की भयानक आंखें देखकर वह सिहर उठा। उसका सिर झुक गया और भृकुटि तन गयी।

दोस्त की कहानी सुनकर अब्बास भी चिन्तित हो उठा। प्रकृति की रहस्यपूर्ण ध्वनियां उसके हृदय को भयभीत करने लगीं। सफ़र के स्वप्न को कुछ दूसरा मोड़ देकर उसने उसे सान्त्वना देने की चेष्टा की पर उसके सारे विचार गड्डमड्ड हो गये। सान्त्वना के शब्द उसके होंठों में ही जमकर रह गये। उसकी समझ में न आया कि किन शब्दों से वह उसे आश्वस्त करे। वह खंखारकर बोला:

"तुझे शैतान गुमराह कर रहा है, और कोई बात नहीं। तू देखेगा कि सब ठीक-ठाक ही रहेगा।"

सफ़र ने उसकी बात का कोई जवाब नहीं दिया। शिविर अब निकट

ही था। अलाव के आस-पास कहीं-कहीं लोगों की आकृतियां नज़र आने लगी थीं। जीर्ण-शीर्ण तम्बू के सामने जले अलाव के पास तीन सैनिक बैठे थे। अन्य दो सैनिक खुरदरे ऊनी कम्बल ओढ़े हुए पास ही ग लेटे थे।

घोड़ों की टापें सुनकर सजग सैनिकों की आंखें आनेवाले घुड़सवारों की ओर मुड़ीं। वे तब तक उनकी ओर अपलक देखते रहे जब तक घुड़सवार अलाव के पास तक नहीं पहुंच गये।

"तुम लोग सो नहीं रहे हो क्या?" घोड़े को बांधकर अलाव के निकट बैठते हुए अब्बास ने पूछा। "घोड़ों को घास डाल दो और यहां आकर आराम कर लो।"

अब्बास ने एक अंकवार भरकर सूखी शाखाएं अलाव में डाल दीं और अपने कोट की आस्तीन से धुएं के कारण उमड़ आये आंसुओं को पोंछते हुए आग में फूंकने लगा। धुएं के नीले बादलों से आग की लपटें ऊपर उठ चलीं और उनके नीललोहित प्रकाश में उनीन्दे सैनिकों के थकानभरे चेहरे चमकने लगे। सफ़र के गालों पर गरमी से हलकी लालिमा उभर आयी, पर उसका हृदय पहले की ही तरह ठंडा और चिन्तापूर्ण था। वह अलाव की ओर बग़ल किये बैठा था। आग की ओर शून्य दृष्टि से देखते हुए वह सुलगती शाखाओ को लकड़ी से ठीक करने लगा।

"अगर गश्त पर जाने से पहले ठीक तरह से सोने को मिल जाये तो सुबह तक थकान महसूस नहीं होती," निद्रामग्न सैनिकों की ओर संकेत करके सफ़र ने मुस्कराते हुए कहा। "याक़ूब, मंसूर से मुलाक़ात हुई आज तुम्हारी? कैसी तबीयत है अब उसकी?" उसने अपनी बग़ल में बैठे सैनिक से प्रश्न किया।

"हां, हुई थी," याक़ूब ने गहरी सांस भरकर उत्तर दिया। "यों तो पहले से ठीक है वह, पर बेचारा सूखकर कांटा हो गया है,

किसी से नज़रें मिलाकर देखता भी नहीं।"

"उसके भाई इल्यास जैसे वीर को खो देना कोई कम दु:ख की बात तो है नहीं," मन्द स्वर में बोलते हुए, जिससे कोई दूसरा सुन न सके, सफ़र ने कहा।

"इल्यास ने जैसे ख़ुद अपनी मौत बुलायी थी। तुम्हें याद है उस दिन, जब चौगान का खेल चल रहा था, मैंने और मंसूर ने उसे बहुत सम-झाया कि वह अभी-अभी बीमारी से उठा है, अतएव उसे घुड़सवारी नहीं करनी चाहिए, पर वह माना ही नहीं। उसके लिए तो जैसे अमीर का हुक्म ही पत्थर की लक़ीर था।"

चौगान के खेल में घायल होकर इल्यास की असमय मौत को सफ़र भाग्य द्वारा दी गयी भयानक चेतावनी मानता था। वह हमेशा भयभीत होकर सोचता था कि वह भी शिकार खेलते समय या यात्रा में कहीं मां से भेंट किये बिना ऐसी ही बेमौत मारा जा सकता है। वह मौत से नहीं डरता था, डर यही था कि मां उसकी मौत के दु:ख को सहन नहीं कर सकेगी। सफ़र ने बातचीत में अब और भाग नहीं लिया। वह अपने मन से विषादपूर्ण विचारों को भगाने का प्रयास करने लगा। कड़कड़ की आवाज़ के साथ घास कुतरते घोड़ों की ओर देखकर वह अलाव की सुलगती लकड़ियों को ठीक करने में व्यस्त हो गया।

"कवि रूदाकी पधार रहे हैं," याक़ूब बोल उठा।

सभी चैतन्य हो गये। विषादपूर्ण विचार एकाएक सफ़रके मन से ग़ायब हो गये थे।

उनसे लगभग बीस क़दम की दूरी पर एक पुरुषाकृति अंधेरे से प्रकट हुई। अब्बास उछलकर अपने स्थान पर खड़ा हो गया। अभिवादन की मुद्रा में उसने दोनों हाथ अपने सीने पर जोड़ लिये। शेष लोग भी उठ खड़े हुए थे। रूदाकी सिर नीचा किये चल रहे थे। अलाव से कुछ दूरी पर रुककर वह सैनिकों की ओर देखने लगे। अलाव के मन्द प्रकाश

ा उनके होंठों पर खेलती हलकी मुसकराहट स्पष्ट दीख रही थी।

"अस्सलाम अलैकुम, हुज़ूर," सभी सैनिकों ने एक स्वर में रूदाकी का अभिवादत किया।

"वअलैकुम अस्सलाम," रूदाकी ने उत्तर में कहा। "हम लोगों की हिफाज़त कर रहे हैं?"

"हां, हुज़ूर," अबू-लैस नामक सैनिक ने धीरे-से कहा। शेष सैनिकों ने भी समर्थन में श्रद्धापूर्वक अपने सिर झुका लिये।

"आप लोगों को बहुत-बहुत धन्यवाद। जनता की सुरक्षा करना नेक काम है। अल्लाह आपकी हिफाज़त करेगा।"

रूदाकी ने अपने कन्धे पर पड़े चोग़े को ठीक किया और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही अपने ख़ेमे की ओर चल पड़े। सैनिक उन्हें थोड़ा झुककर जाते हुए देखते रहे। रूदाकी की आकृति शीघ्र ही अंधकार में अदृश्य हो गयी।

"लगता है हमारे शायर कुछ बेचैन हैं, वरना इस तरह शीघ्र नहीं चले जाते," याक़ूब ने कहा और सबसे पहले अपने स्थान पर बैठ गया। "तुम्हें याद है, वे हमारे साथ बैठकर काफ़ी देर तक गपशप किया करते थे, अपनी ग़ज़लें पढ़ते थे और गीत गाया करते थे। देख रहा हूं कि वह कई रातों से अकेले ही ख़ेमों का चक्कर लगा रहे हैं। जब कभी मुझसे भेंट होती है तो संक्षेप में कुशल-क्षेम पूछकर चुपचाप अपने ख़ेमे में लौट जाते हैं।"

"शायद किसी नयी ग़ज़ल की रचना में व्यस्त हैं," अबू-लैस ने कहा। "आजकल रात-रात भर उनके ख़ेमे में चिराग़ जलता रहता है।"

"कल यह्या ने मुझे उनकी एक कविता पढ़कर सुनायी थी," सफ़र के होंठों में मुसकराहट फूट गयी। "उसने कहा था कि रूदाकी ने इसकी रचना अमीर के साथ सराख़्स की यात्रा के समय की थी।

इस रचना में बुख़ारा का यशोगान किया गया है। जब बाजे की धुन पर मैंने यह रचना सुनी तो क्षण भर में ही पिछले दिनों के अपने सारे दुख को भूल गया। मैंने उनसे इस ग़ज़ल को लिखने के लिए प्रार्थना की थी। ख़ूबसूरत लफ्ज़ों से जड़ी है यह गजल!"

सफ़र ने अपनी जेब से एक काग़ज़ निकाला और अलाव के प्रकाश में जब-तब उसकी ओर देखता हुआ ग़ज़ल पढ़ने लगा:

बुख़ारा की ओर से बह रहा समीर सुगंध से भरपूर है,
यह सुगंध चमेली की है, रैहान की है, पोदीने की है।
बाज़ लोग कहते हैं: 'नहीं, यह समीर ख़ोटान का है,
वहां के चमन में फूल और रंगबिरंगे हैं'।
मैं कहता हूं, नहीं, यह मादक समीर बुख़ारा का है,
मेरी प्रिया द्वारा तोड़े गये फूल की सुगंध वहीं से आ रही है।
मैं तुम्हारा नाम, प्रिया, मौन जपता जा रहा हूं,
सस्वर जपना भयानक है, दीवारों के भी कान होते हैं,
पर प्यार के सामने भय क्या चीज़ है, बेख़ुदी में तुम्हारा नाम मेरे
होंठों से उड़ जाता है, अब रहा मुझे इसकी सज़ा भुगतना।

ग़ज़ल के पढ़ते समय सफ़र के चेहरे पर उसके भावुक हृदय का आवेश साकार हो उठा। अब्बास उसके चेहरे पर एकटक नज़रें टिकाये ग़ज़ल का आनन्द उठा रहा था। सफ़र को इसका कोई अहसास नहीं था कि अब्बास के साथ ही साथ अन्य सैनिक भी ध्यानपूर्वक सुन रहे हैं। उसकी दृष्टि कहीं अंधेरे में खोयी हुई थी। ग़ज़ल की अन्तिम बैत को पढ़कर उसने अपने दोस्त की ओर निगाह दौड़ायी।

"अच्छी ग़ज़ल है," अब्बास बोला। "मैंने यह ग़ज़ल पहले भी सुनी है। ग़ज़ल की कई बैतें मुझे याद भी हैं।"

"हमारे कवि बुख़ारा से बहुत प्यार करते हैं," याक़ूब बोल उठा। "उससे दूर रहकर वह खुद को अपने घोंसले से बिछड़े पंछी की तरह

महसूस करते हैं। उनकी कई ग़ज़लों में बुख़ारा का यशोगान किया गया है।"

"याक़ूब, साथियों के गश्त पर चलने का समय हो गया है," अबू-लैस ने उसे बीच में ही टोकते हुए कहा। "चलो, इन्हें गश्त पर रवाना कर हम भी थोड़ा झपकी ले लें। अबुलहफ़्स! मुराद! उठो, खड़े हो जाओ!"

अलाव के पास निद्रामग्न दो सैनिक उठ खड़े हुए, चुपचाप घोड़ों पर सवार हुए और दक्षिण की ओर चल पड़े। अब्बास ने अपने पांव फैला लिये, और खुरदरे सूती कम्बल को ओढ़कर उसने पलकें मूंद लीं। उसके साथ-साथ ही दूसरे साथी भी कोमल हरी घास पर लेट गये।

सभी सो गये थे। पर सफ़र तहख़ाने के छत की तरह भार से बोझिल नीचे झुक आये काले आसमान को काफ़ी देर तक घूरता रहा। मानसिक तनाव व नींद न ले पाने के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो चली थी। अतीत के असम्बद्ध चित्र, भविष्य की चिन्ता व मित्रों के कहे शब्द कुछ इतनी तीव्रता से उसके मस्तिष्क में झंझावात पैदा करने लगे कि किसी भी विचार पर टिक पाना उसके लिए संभव नहीं रह गया। क्षण भर के लिए उसने पलकें बन्द कीं तो आंखों के सामने उफनती-गरजती नदी, दूर जाती श्वेत छाया और सांप की विकर्षक चमक स्पष्ट हो चली। उसने आंखें खोल लीं और एक गहरी सांस के साथ दूसरी ओर करवट बदल ली।

अन्ततः थकान से बोझिल होकर और वह सो गया। अब उसे कोई भी जगाने में समर्थ नहीं था—न रात्रिकालीन स्तेपी की रहस्य-मयी सरसराहट, न उल्लुओं की आवाज़ें और न दूर तक सुनाई पड़ती मेघगर्जना। मां की छाती की प्राणदायिनी गरमाहट से आश्वस्त बच्चे की तरह वह शांति से सो रहा था।

२

हर रोज़ नाश्ते के बाद रूदाकी पठनकार्य में निमग्न हो जाते थे। आज दो दिन से वह किसी अनाम ग्रीक दार्शनिक की कृति का पाठ कर रहे थे। कहीं-कहीं अनुवादक ने पुस्तक का सटीक अनुवाद नहीं किया था। उस अनुवाद से ऐसा लगता था जैसे दार्शनिक को इस्लाम की स्थापना का पूर्वाभास हो। यह बात तथ्य से परे लगती थी। यह सच था कि लेखक का ईश्वरीय शक्ति पर विश्वास था, पर विश्व की रचना का आधार वह पदार्थ को ही मानता था। वह मानता था कि ब्रह्मांड का मूल तत्व अग्नि ही है। अग्नि ही सभी चर व अचर की जनक है। अपने विचारों का उसने तर्क व उदाहरण देकर प्रतिपादन किया था। पूरी दुनिया से बेख़बर रूदाकी विचारों की रहस्यमय दुनिया में खोये हुए थे और पुस्तक के जीर्ण-शीर्ण पृष्ठों को सावधानी से पलटते हुए पढ़ते जा रहे थे।

यदा-कदा वह क़लम लेकर उन उपधारणाओं व निष्कर्षों को, जो उन्हें बहुत पसन्द आ रहे थे, लिख लेते थे।

घण्टों बीत गये। रूदाकी ने पढ़ने से अपना ध्यान नहीं हटाया। वह पढ़ने में इतने दत्तचित्त थे कि अपने ख़ेमे में प्रवेश करते हुए अमीर के तीन सम्मानित अफ़सरों पर भी उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। अतिथियों के अप्रत्याशित आगमन ने शायर को वास्तविक दुनिया में ला पटका। उन्होंने उठकर अतिथियों के अभिवादन का उत्तर दिया और उनसे अपना स्थान ग्रहण करने की प्रार्थना की।

"आप लोगों के आगमन से मैं अनुगृहीत हुआ हूं। मेरा ग़रीब-ख़ाना आज खुशी की किरणों से आलोकित हो उठा है," रूदाकी ने सम्मान सहित छाती पर हाथ रखकर कहा। और उन्होंने शीघ्रता से अपने काग़ज़-पत्र व पांडुलिपि समेटते हुए उन्हें नक़्क़ाशीदार संदूक़ची में बन्द कर दिया।

तीन आभिजात्य पदाधिकारियों के आगमन ने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया था। क्या कारण हो सकता है उनके आगमन का? अमीर का प्रशासकीय अधिकारी अबु-जाफ़र और उसका विश्वासपात्र सलाहकार मुहम्मद सालिह तो यदा-कदा उनके पास आते थे, पर सैन्यसंचालक ताहिर बलख़ी अब तक कभी नहीं आया था। रूदाकी उससे सिर्फ़ अमीर की दावतों में ही मिले थे। आख़िर आज किस कारण से वह कवि के यहां आया है?

"पिछले कई दिनों से आपने ख़ेमे के बाहर निकलना बिलकुल बन्द कर दिया है," रूदाकी के बैठते ही मुहम्मद सालिह ने कहना शुरू किया। "अल्लाह के करम से आपकी सेहत तो ठीक है?"

"हां, सेहत ठीक है पर ये आसमान पर छाए घने बादल और लगातार पानी का बरसना तकलीफ़ दे रहा है। इस वजह से बाहर निकलने का मन ही नहीं होता। इन दिनों में किताबें पढ़ना मुझे बेहतर लगता है।"

मुहम्मद सालिह ने ताहिर बलख़ी की ओर कुछ ऐसे देखा जैसे बातचीत का सिलसिला जारी रखने में वह उसकी सहायता प्राप्त करना चाहता हो। पर सैन्यसंचालक बलख़ी सिर झुकाये अपनी बड़ी-बड़ी काली आंखों से खम्भे में लटकती हुई पुरुतन्त्री को देखने में व्यस्त थे। अन्ततः अबु-जाफ़र ने ही बातचीत को जारी रखते हुए कहा:

"आप ठीक कह रहे हैं, कविवर। सच, ऐसे मौसम में ख़ेमे से बाहर निकलने की इच्छा नहीं होती।"

"इसके अलावा यह यात्रा कुछ इतनी लम्बी हो गयी है कि अपने घर, बीबी-बच्चों से दूर यहां का जीवन अब सबको उबाने लगा है," मुहम्मद सालिह ने बात आगे बढ़ाते हुए कहा।

"क्या हमारे आलाहुज़ूर अमीर की शीघ्र बुख़ारा लौटने की कोई इच्छा नहीं है?" रूदाकी ने पूछा।

“हमने अमीर से इस बारे में अनुरोध किया था, पर उन्होंने हमारी सलाह पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। वे यहां के बाग़-बाग़ीचों, फलों और हिरात के हरे-भरे मैदानों की तारीफ़ करते नहीं अघाते।”

रूदाकी ने सैन्यसंचालक को संबोधित करते हुए कहा:

“क्या सम्मानित ख़्वाजा का प्रयत्न नहीं है कि हमारे अमीर शीघ्र ही बुख़ारा की ओर कूच करने की अपनी इच्छा का ऐलान करें?”

“मैंने अमीर से इस बारें में बात की थी, पर उन्होंने भौंहें चढ़ा लीं और उत्तर देने के स्थान पर शराब का प्याला उठा लिया और मुझे संकेत किया कि मैं उनके साथ ही पूरा प्याला एकदम ख़ाली कर दूं।”

“यहां की आबोहवा अमीर को भा गयी है,” अबु-जाफ़र बोला।

“बुख़ारा और उसके आस-पास की आबोहवा यहां से किसी भी तरह बुरी नहीं है, ख़ासकर वसंत में तो बिलकुल भी नहीं। क्या मूलियान नदी का सौन्दर्य, उसके आस-पास की हवा यहां से बेहतर नहीं? “रूदाकी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा।

“अवश्य है,” मुहम्मद सालिह ने जैसे स्वप्न देखते हुए उत्तर दिया। “कितना अच्छा होता, अगर हम वसन्त का मौसम अपने बीवी-बच्चों के साथ बुख़ारा में बिताते और गर्मियों में समरक़न्द की तरफ बढ़ जाते। काश, अमीर सहमत हो सकते तो हम इस कष्ट और परे-शानी से छुटकारा पा जाते।”

रूदाकी ने कोई जवाब नहीं दिया। उसकी दृष्टि सैन्यसंचालक ताहिर बलख़ी की ओर लगी थी। वह देखना चाहता था कि सैन्यसंचालक क्या कहता है। पर वह कुछ कहने के स्थान पर चुपचाप सिर झुकाये बैठा रहा।

“आदरणीय शायर,” मुहम्मद सालिह ने एक बार फिर कहना शुरू किया, “हम आपके ग़ुलाम आपसे निवेदन करने आये हैं। हमारा

विश्वास है कि आप हमारी उम्मीदों पर पानी नहीं फेरेंगे।" रूदाकी की सान्त्वनाभरी दृष्टि से आश्वस्त होकर उसने अपनी बात जारी रखी। "हमने तय किया है कि अमीर की अगली दावत में बुख़ारा के बारे में बातचीत चलायी जाये जिससे उन्हें मातृभूमि लौटने के लिए प्रेरित किया जा सके। पर यह हमारे वश की बात नहीं है। हमें यकीन है कि आपकी ख़ूबसूरत ग़ज़लें अमीर के दिल पर ज़्यादा असर डाल सकेंगी, और इस तरह हमारे इरादे को कामयाब बनाने में मददगार हो सकें-गी।"

"मुझे शक है कि आप महानुभावों के भाषण की तुलना में मेरी ग़ज़लें अमीर पर ज़्यादा प्रभाव डाल सकेंगी," रूदाकी ने कठोर स्वर में कहा।

"आदरणीय शायर, हम आपकी ग़ज़लों की क़ीमत अच्छी तरह जानते हैं। हम यह भी ज़ानते हैं कि अमीर की दृष्टि में आपके लिए बहुत सम्मान है। आपके होंठों से निकले हुए शब्द निश्चय ही शहंशाह को प्रभावित करेंगे," सैन्यसंचालक ने विश्वासभरे शब्दों में कहा।

"यदि आपने हमारी प्रार्थना पर ग़ौर करने का फैसला लिया तो आप न केवल हमें ही इस कष्ट से मुक्ति प्रदान करेंगे, वरन् अन्य दूसरे लोग – यहां तक कि बेचारे ग़ुलाम भी राहत की सांस ले सकेंगे," मुहम्मद सालिह बोल उठा।

तभी उसने देखा कि रूदाकी की आंखें सिकुड़कर सन्दाल* की ओर अपलक देखे जा रही हैं। शायर की इस गंभीर दृष्टि से वह आकुल हो उठा। वह स्वयं को एक दयनीय बच्चे की तरह महसूस करने लगा। वस्तुतः शायर की सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से उनके ख़ेमे में

---

* सन्दाल – एक प्रकार की अंगीठी जिसमें अंगार रखकर ऊपर से बड़ा कंबल ढंक दिया जाता है। सर्दियों में लोग अपने हाथ-पैर ढंककर गर्म कप्ते हैं।

बैठे हुए अमीर के वे तीनों उच्चपदासीन अधिकारी स्वयं को तुच्छ और अत्यन्त सामान्य श्रेणी के लोगों जैसा अनुभव कर रहे थे। उनके तर्क कुछ इतने भोले थे कि उनका विरोध करने का हठ अपनी मूर्खता का प्रमाण देने जैसा ही होता। संभवतः रूदाकी इस संबंध में उनसे ज़्यादा अच्छी जानकारी रखते थे। मुहम्मद सालिह के इन विचारों से वातावरण में गर्मी आ गयी। अबु-जाफ़र के सुसंगत शब्दों ने इस गर्मी को और भी बढ़ा दिया। अमीर के प्रशासकीय अधिकारी का चेहरा अबु-जाफ़र के शब्दों को सुनकर शर्म से लाल हो उठा।

"जहां तक इनाम का सवाल है," अबु-जाफ़र ने तुतलाते हुए कहा, "हमारे शायर को परेशान होने की ज़रूरत नहीं। उनकी इस मदद के लिए हम उन्हें सोना, चांदी और दिरहम–जो कुछ उन्हें हमारे अमीर से मिलता है–उससे दुगुना ज़्यादा देने को तैयार हैं।"

इन शब्दों को कहते हुए अबु-जाफ़र ने ताहिर बलख़ी की ओर देखकर आंख मारी।

रूदाकी की आंखें क्रोध से चमक उठीं। होंठों में एक वक्र मुसकान लाते हुए उन्होंने अबु-जाफ़र की तरफ़ देखा और बोले:

"श्रीमान्! शब्दों की क़ीमत किन्हीं बहुमूल्य रत्नों व दिरहमों से नहीं आंकी जाती। किसी खास मकसद से लिखी ग़ज़ल का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो आप चाहते हैं। सोने का ढेर नहीं, अपितु बुख़ारा की याद, अपनी प्रिय मातृभूमि का स्मरण ही मुझे वह शक्ति प्रदान कर सकता है जिससे मेरे हृदय की गहराई से लोगों को प्रभावित करने-वाले शब्द निकल पायेंगे।"

रूदाकी के इन शब्दों का किसी ने कोई जवाब नहीं दिया। कवि के व्यंग्य से वे आभिजात्य शर्मसार हो उठे।

पर रूदाकी के उन शब्दों में उन्हें आशा की किरण दिखाई दी। वे प्रफुल्लित चेहरे से रूदाकी की ओर अपलक देखने लगे।

"आदरणीय कवि, आपको धन्यवाद," अन्ततः मुहम्मद सालिह ने कहा। "बुख़ारावासी विशेषकर हमारे श्रीमान् वज़ीर बलअमी आपकी इस कृपा के लिए आभारी रहेंगे।"

रूदाकी ने उसके इन शब्दों का कोई उत्तर नहीं दिया। अपनी मनोदशा को ठीक करने की दृष्टि से—ताकि उसके उत्तर से असंगत बात करनेवाले उनके अतिथि अपने को अपमानित महसूस न करें—रूदाकी ने विषयपरिवर्त्तन करने की चेष्टा की, पर बातचीत आगे चल नहीं सकी। अतिथि भी अब अपने आतिथेय को अधिक कष्ट नहीं देना चाहते थे। उनका उद्देश्य पूरा हो गया था, इससे अधिक और उन्हें क्या चाहिए था? रूदाकी को भी इस बात का ध्यान हो आया कि सम्भवतः उनके व्यंग्य से कुलीन अतिथियों को अपमान का अहसास हो सकता है, अतएव अत्यन्त शिष्टता के साथ उन्होंने उन्हें अपने ख़ेमे से बाहर जाकर विदा दी।

लौटकर वह उसी क्षण सन्दाल पर बैठ गये और अभी-अभी हुई सारी बातचीत को भूलने का प्रयास करते हुए दर्शनग्रन्थ के अपने पठन-कार्य में डूब गये।

* * *

रवि-रश्मियां गुम्बद के झरोखों से होती हुई नमदों व कम्बलों पर पड़ रही थीं और सारे ख़ेमे को विशाल शमादान से निकलनेवाले प्रकाश की भांति आलोकित कर रही थीं। ख़ेमे के बाहर से कई दिनों की अनवरत वर्षा के बाद खुल आये अच्छे मौसम से आनन्दित ग़ुलामों की इधर-उधर भागदौड़ की आवाज़ें आ रही थीं। रूदाकी सूर्य की किरणों के प्रतिबिम्ब को देखते रहे जो धीरे-धीरे सन्दाल की ओर बढ़ी आ रही थीं।

अमीर के पदाधिकारियों के अप्रत्याशित आगमन व उनके साथ हुई संक्षिप्त बातचीत से उनकी आत्म शांति नष्ट हो गयी थी। उन्होंने नक़्क़ाशीदार संदूक़ची के ऊपर पड़ी उस पुस्तक की ओर देखा जिसे वह उनके आगमन से पूर्व पढ़ रहे थे। ग्रीक दार्शनिक की सृष्टि की उत्पत्ति व विकास से सम्बन्धित प्रश्नों का जटिल सैद्धान्तिक विवेचन न जाने उन्हें अब क्यों व्यर्थ लगने लगा था। उनका ध्यान अब उन्हीं लोगों की ओर लगा हुआ था जिन्होंने उनसे सहायता की प्रार्थना की थी। न जाने क्यों उन लोगों को अपनी मातृभूमि व अपने परिवार से छुड़ाकर अपमानभरे उस जीवन का भार ढोने को विवश किया जा रहा था जिसमें प्रसन्नता का कहीं कोई नामोनिशान नहीं था।

रूदाकी सन्दाल के पास बनी पत्थर की चौकी पर लेट गये और कुछ समय पूर्व अपने सामने बैठे हुए सैन्यसंचालक के दोषी बालक के समान चेहरे को याद कर मुसकरा उठे। क्या इसी उच्च अधिकारी ने सात माह पूर्व अमीर को हिरात की यात्रा करने और अपने साथ दो सौ के स्थान पर चार सौ ग़ुलामों को साथ ले चलने की सलाह नहीं दी थी? गुदगुदे गरम बिस्तर, शांत जीवन के आकर्षण तथा अपने बीवी व बच्चों की याद उसे दरबारी शायर की शरण में ले आयी थी।

रूदाकी का हृदय उदास हो उठा। उन्हें अपने गांव, समरक़न्द की सड़कों और बुख़ारा में बिताये दिनों का स्मरण हो आया। इस स्मृति में उन्हें ऐसे आनन्द की अनुभूति हुई कि अनायास ही उनकी पलकें बन्द हो गयीं ताकि कोई भी वाह्य वस्तु उन्हें अतीत के चित्रों को देखने में बाधक न बन सके। कौन-सी रहस्यमय शक्ति उन्हें निरन्तर अपनी ओर खींचे लिये जा रही थी? पत्नी, बच्चे? नहीं। तो फिर क्या? सहसा उनका दिल एकाकीपन के अहसास से टीस उठा। वह इस ख़ेमे में, इस शिविर में ही नहीं, इस पूरे विश्व में अकेले थे।

उनकी आंखों के सम्मुख ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों से घिरा अपना छोटा-

सा गांव साकार हो उठा। उन्हें स्मरण हो आया उस हरी घास का, जिसपर वह अपने बचपन में और तत्पश्चात् अपनी किशोरावस्था में दौड़ा करते थे। वहां के स्फटिक शुभ्र सोते उसकी प्यास तो बुझाते थे, पर यौवन की अग्नि को बुझाने में वे असमर्थ थे। उनके मानसपटल में चरवाहों की नै की ध्वनि व गांव की सड़कों पर नंगे पांव भागते लड़कों की हंसी गूंज गयी। वह चांदनी रात की निस्तब्धता का स्वर सुनने लगे और अपने दोस्तों व बन्धुओं के गीत व चुटकुले। यह सब किसी प्रचंड नदी के जल की तरह एकाएक उनके मानसपटल को सराबोर कर उठा।

पंजरूद से समरक़न्द और फिर वहां से बुख़ारा की राह का उन्हें स्मरण हो आया। क्या अपने एकाकीपन के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं थे? बुख़ारा से उन्हें अध्ययन की आशा और शेरो-शायरी का स्वप्न पूरा हुआ। बुख़ारा ही में उन्होंने अपने यौवन का आनन्दोपभोग किया। इसी शहर में उन्हें अपने अभिन्न मित्र व बौद्धिक सहचर प्राप्त हुए जो उन्हीं की भांति विभिन्न क्षेत्रों से लम्बी यात्रा तय कर बुख़ारा में एकत्रित हुए थे। कभी तिरस्कृत माने जानेवाली अपनी मातृभाषा दरी में वे सगर्व काव्य-रचना किया करते और पुस्तकें लिखा करते थे। बुख़ारा में एकत्रित अपने मित्रों के मध्य उन्हें नयी शक्ति मिली। उनके मध्य वह स्वयं को अनन्तकाल तक युवा महसूस करते रहे।

पर इस लम्बी यात्रा में, सामानी शासन* के बेहतर समय में अमीर की दावतों में उनका एकाकीपन जाग उठा था।

उन आभिजात्य अधिकारियों की याद कर कि किस तरह वे अपने

---

* सामानियों की सलतनत (८७५-९९९ ई) – मध्य एशिया में अरब ख़लीफ़ात के पतन के बाद मावराउन्नहर और ख़ुरासान को अपने क़ब्ज़े में लेकर इस्माईल सामानी ने यही सलतनत स्थापित की थी। इसकी राजधानी बुख़ारा थी।

बीवी-बच्चों के बारे में बातें कर रहे थे – उनके होंठो पर वक्र हंसी दौड़ गयी। "अगर मेरी ही तरह उनके भी बीवी-बच्चे न होते तो शायद वे कभी का अपना सरकारी काम छोड़ देते। फिर क्या वे भी बुख़ारा की ओर नहीं लपक लिये होते?" अतीत की यादों, अवर्णनीय दर्द और क्रोध के वशीभूत होकर वह सन्दाल से उठ खड़े हुए और ख़ेमे में चक्कर लगाने लगे। उन्हें अपनी छाती में भारीपन महसूस हुआ। यह भी महसूस हुआ जैसे ख़ेमे के अन्दर की हवा विषैली हो उठी है।

रूदाकी खुली हवा में बाहर निकल गये और क्षीणशक्ति होकर प्रवेशद्वार के पास खड़े हो गये। उन्होंने एक गहरी सांस ली और तेज़ चमकती धूप में आंखें मिचमिचाकर दायें-बायें देखने लगे। दूर अमीर नसर का आलीशान ख़ेमा ऊंचे स्थान पर खड़ा था। दो पहरेदारों के अतिरिक्त उसके प्रवेशद्वार पर और कोई नज़र नहीं आ रहा था। नील धवल ध्वज अशक्त-से लटके हुए थे। उन ध्वजों पर नज़रें टिकाये-टिकाये ही रूदाकी सोचने लगे कि सम्भवतः ऐसे ही किसी ख़ेमे में आज से बीस साल से पूर्व नसर के पिता की हत्या कर दी गयी थी। कहते हैं कि एक शाम वह अपने ख़ेमे में काफ़ी देर से आया। वह नशे में धुत्त था और उसने आदेश दे दिया कि उसके ख़ेमे के प्रवेशद्वार के पास से पहरेदारों तथा पालतू शेरों को हटा दिया जाये, क्योंकि जब उसका राज्य अचल है और उसके लिए कोई ख़तरा नहीं है तो फिर ऐसी सावधानी की क्या आवश्यकता? सुबह वह अपने ख़ेमे में मरा पाया गया। बूढ़े लोग अभी भी महान अमीर की आत्मविश्वासपूर्ण असावधानी पर अफ़सोस प्रकट करते हैं। उसकी मृत्यु की कथा सुनकर रूदाकी चुप हो गये थे और मन-ही-मन सोचने लगे थे कि ऐसी स्थिति में जब अमीर अपने जीवन और राज्य को पहरेदारों व पालतू शेरों पर निर्भर मानता है – कब तक शासन कर सकेगा? क्या अपने जीवन व राज्य को क़ायम रखने के लिए उसके पास और अच्छे साधन नहीं हैं?

आज जो सामानियों का शासन बना हुआ है, ये जो शानदार भवन व आलीशान महल खड़े हुए हैं, सामानियों के शासन व उसकी राजधानी के यश को ख़लीफ़ात के प्रमुख नगर तक फैलानेवाले विद्वान और विचारक बुख़ारा में एकत्रित हुए हैं, यह सब जनता के निःस्वार्थ त्याग और ख़ूनी संघर्ष की बदौलत हासिल हुआ है। क्या यह सब संघर्ष इसलिए किया गया था कि आज अमीर अपने शासकीय कार्यों को छोड़कर अपनी राजधानी से दूर यहां इस ख़ेमे में मस्ती की नींद सोता रहे और मनोरंजन में अपना समय बिताये?

रूदाकी अपने ख़ेमे में लौट आये। उनमें अब न कुछ अध्ययन करने की शक्ति रह गयी थी और न कोई ग़ज़ल लिखने की। काव्यपाठ करने-वाला उनका सहायक नियत समय पर आ उपस्थित हुआ, पर आज उन्होंने उसको भी कल सुबह तक के लिए छुट्टी दे दी थी।

शाम के समय जब स्तेपी में धुंधलका उतर आया, रूदाकी ने स्वच्छ चोग़ा पहना, अमामा बांधा और हाथ में छड़ी लेकर बाहर निकल गये। शिविर में ख़ूब भाग-दौड़ मची हुई थी। ग़ुलाम इधर-उधर दौड़कर अपने-अपने काम में व्यस्त थे। कोई खाना तैयार कर रहा था, तो कोई घोड़ों की सफ़ाई कर रहा था, कोई अपने मालिकों के कपड़े धो रहा था तो कोई अलाव के प्रकाश में गप्पें मार रहा था। ग़ुलामों के अनवरत चल रहे इस दैनिक कार्य को देखने के लिए रूदाकी थोड़ी देर खड़े रहे, तत्पश्चात् उस ओर रवाना हो गये, जहां उनकी संख्या थोड़ी कम थी। वह लाठी के सहारे अपने शक्तिशाली शरीर को हलके-से आगे झुकाते हुए चल रहे थे और ग़ुलामों के फटे-पुराने तम्बुओं के पास से गुज़रते समय उनके अभिवादन का हलके-से गरदन झुकाकर उत्तर भी दे रहे थे, पर उनके मस्तिष्क में सिर्फ़ एक ही बात थी कि जितनी भी जल्दी हो, वह इस मैदान से दूर चले जायें – एकान्त में, जहां उन्हें लोगों की आवाज़ें और यह आपाधापी देखने-सुनने को नहीं मिले।

सैन्यसंचालक के ख़ेमे के पास से गुज़रते हुए उन्हें उसके परेशान, प्रार्थना करते चेहरे का ध्यान हो आया और उनके क़दम तेज़ हो गये। उन्हें सैन्यसंचालक से भेंट करने की इच्छा नहीं हो रही थी।

अभी वह मैदान में तीस क़दम भी नहीं चले थे कि उनके कानों में किसी तम्बू से शहनाई का स्वर सुनायी दिया। उनके क़दम रुक गये और वह ध्यान से "उश्शाक़"* की उस मोहक तान को सुनने लगे। रूदाकी ने पीछे मुड़कर देखा। उनकी इच्छा उस शहनाईवादक को देखने की हो रही थी। उस तान को अच्छी तरह सुनने के उद्देश्य से उनके क़दम वापस लौट गये। धीरे-धीरे शहनाई के स्वर मन्द पड़ते हुए लुप्त हो गये। रूदाकी अपने स्थान पर अभी भी निस्तब्ध खड़े थे। उन्हें ऐसा लग रहा था जैसे शहनाई की वह तान अभी भी छिड़ रही है। पर वह कभी की बन्द हो चुकी थी। रूदाकी अपने मन-ही-मन में "उश्शाक़" संगीत का स्वर गुनगुनाते हुए पुनः अपनी राह चल पड़े।

चांद उदारतापूर्वक अपने रजतकोष को निस्सीम स्तेपी में लुटा रहा था। इधर-उधर उगे नन्हे-नन्हे वृक्षों को देखकर उन्हें बंजारों के अंधेरे तम्बुओं का स्मरण हो आया। यह शहनाई के स्वरों का प्रभाव था या मैदान के रहस्यात्मक सौन्दर्य का, कारण जो भी हो, उनका हृदय सहसा प्रसन्न्ता से भर उठा। उनकी पूरे दिन की थकान और उदासी काले बादलों की तरह छंट गयी। उन्होंने अपनी कमर सीधी की। जैसे एक नयी शक्ति पाकर वह उत्साहभरे क़दमों से आगे बढ़ चले।

थोड़ी दूर पर आगे हिरात के क़िले का तिमिर चित्र दीख पड़ा। क़िले की दीवारों में प्रभातकालीन मन्द-मन्द टिमटिमाते तारों की तरह सुरक्षा दीपिकाएं झिलमिला रही थीं। उसी फाटक के ऊपर एक विशाल मशाल जल रही थी। वहीं बाज़ार लगने के दिनों

*** उश्शाक़ – 'बालम-गान'। उज़बेक और ताजिक लोगों का एक शास्त्रीय राग।**

।। वहां विभिन्न भाषा बोलनेवाले व्यापारी इकट्ठा हुआ करते थे। फाटक के भीतर लगनेवाली व्यापारिक मंडियों में रूदाकी ने भारतीय व कश्मीरी कारीगरों द्वारा निर्मित दुर्लभ वस्तुएं ख़रीदी थीं। यदा-कदा यहां उन्हें बहुमूल्य पांडुलिपियां भी प्राप्त हुई थीं। पर अन्य दिनों यहां पूर्ण शांति छायी रहती थी। क़िले के उत्तर में स्थित इंजील नदी के जल में चांदनी का प्रकाश पड़ रहा था। नदी की एक शाखा नगर के पास से होकर बहती थी तथा पीछे धनी किसानों के हरे-भरे बाग़ीचों से घिरी हुई शानदार हवेलियां बनी हुई थीं। कुछ दिन पूर्व अमीर के अमले के साथ रूदाकी को इनमें से एक हवेली में आतिथ्य प्राप्त करने का अवसर मिला था।

रूदाकी जलप्लावन के समय बने विशाल ताल के किनारे पड़े एक गोल पत्थर पर बैठ गये। उनकी निगाहें अभी भी क़िले की ओर ही लगी हुई थीं। रूदाकी को बुख़ारा के आर्क व उसके आस-पास के बाग़-बाग़ीचों का स्मरण हो आया। इनसानी हाथों से कुशलतापूर्वक निर्मित तटों पर मूलियान नदी का जल भी इसी तरह चांदनी के प्रकाश में चमकते हुए धीरे-धीरे बह रहा होगा और उसकी चमकती हुई भव्य सतह पर फलों के बाग़ीचों और आलीशान भवनों के प्रतिबिम्ब झिलमिला रहे होंगे। मूलियान के तटों पर रूदाकी मित्रों को अपनी कविताएं पढ़कर सुनाया करते, काव्यप्रतियोगिताएं आयोजित करते और यदा-कदा रात्रि के शांत वातावरण में ग़ज़ल रचा करते थे... रूदाकी के मानसपटल पर यह सब आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट हो उठा।

उनकी याद में बुख़ारा में बिताये दिन पुनः साकार हो उठे। अपने गांव के पहाड़ी बाग़-बाग़ीचों को देखने के बाद बुख़ारा के ये मानव निर्मित पार्क व बाग़-बाग़ीचे विचित्र-से लगते थे। इनमें उन्हें प्रकृति की भव्यता के दर्शन नहीं होते थे। एक लम्बे समय तक वह धागे की तरह फैली हुई नहरों व एक जैसे आकार की सड़कों के अभ्यस्त न हो सके।

अपने गांव की गरजती-उफनती नदियां और ऊंची-ऊंची पर्वतचोटियां पुकारती रहती थीं। पर धीरे-धीरे मूलियान के तट पर बने हुए बाग़-बाग़ीचों की शांति और ग्रीष्म ऋतु की गरमी को शांत करनेवाले उसके सुन्दर जल ने उन्हें अपना बंदी बना लिया। नदीतट पर भ्रमण करते हुए वह मनुष्य निर्मित सौन्दर्य से तथा जलरहित रेगिस्तान में उसकी बुद्धि के चमत्कार से अप्रभावित न रह सके।

और अब वह अकेले हैं। मूलियान के तट पर बहती हुई वायु के स्नेहिल झोंके उनसे दूर हैं, उनके अभिन्न मित्र उनसे दूर हैं। बेचैन करनेवाली, तड़पानेवाली उदासी ने पुनः उनके हृदय को आच्छादित कर दिया। उन्हें अपनी मातृभूमि और अभिन्न मित्रों की पुनः याद आने लगी। उन्हें लगा कि वह उन सबको देख रहे हैं और उनसे बातें कर रहे हैं।

रूदाकी की दृष्टि रात्रिकालीन स्वच्छ आकाश की ओर गयी और उनके मुंह से एक गहरी सांस निकल पड़ी। उनके होंठ फुसफुसाहट के स्वर में खुल गये :

लहराती, चमकती मूलियान मुझे पुकार रही है,
मेरी प्रिया मुझे बुला रही है।

उनके होंठों से निकलनेवाले ये शब्द कुछ इतने अप्रत्याशित थे कि वह उनकी लयात्मकता तक को अनुभव नहीं कर सके; उनके सुर व ताल का, जिनमें वे गुंथें जा रहे थे, उन्हें कोई भान नहीं रहा। उन्होंने एक बार पुनः उन्हें फुसफुसाकर दुहराया। बुख़ारा का स्मरण हो आने पर वहां छूटे हुए अपने मित्रों की जिस याद ने दिन भर उनका पीछा किया था, वह इस समय उनके सम्पूर्ण अस्तित्व पर छा गयी और उनके हृदय की गहराई से एक के बाद एक बैतें निकलती गयीं। ये बैतें बुख़ारा के क़िले आर्क की तरह ही आलीशान थीं, शहनाई

की उस तान की तरह ही संगीतात्मक थीं जो शिविर से बाहर निकलते समय उनके कानों में गूंजी थीं, फूलों की बग़िया तथा मूलियान के पारदर्शी जल की तरह ही स्वच्छ, शांत और ताज़गी प्रदान करनेवाली थी, मित्रों के सान्निध्य के समान ही उत्तेजक और प्रिया की सांसों की तरह सुगन्धित थीं। अपने होंठों से अनायास ही निकलनेवाली इन पंक्तियों में वह पूरी तरह डूब गये। हां, हृदय के किसी कोने में एक विचार अवश्य तरंगायित हो रहा था: "सम्भव है, ये पंक्तियां ही अमीर के हृदय पर असर डाल सकें।" खुले वातावरण में छायी शांति के मध्य वह काफ़ी देर तक निस्तब्ध बैठे रहे और प्रकृति के एकान्त सान्निध्य में मर्मभेदी, आग उगलती कविताओं के मध्य मस्तिष्क के आदेश का पालन करने से इनकार करनेवाले अपने हृदय के विद्रोह को उंडेलते रहे।

३५

अमीर नसर के बीमार तथा कमज़ोर जिस्म पर नम मौसम का कुप्रभाव पड़ रहा था। खांसी के प्रबल वेग और बुख़ार ने उसके शरीर को हिलाकर रख दिया था, इसीलिए शोकाकुल, चिन्तित अमीर के दिन निरन्तर ख़ेमे के अन्दर बन्द होकर ही बीत रहे थे। एकाकीपन तथा बीमारी ने उसे असन्तुष्ट व चिड़चिड़ा बना दिया था। सेवक उसके हुक्म को बजा लाने के लिए सिर पर पांव रखकर भाग-दौड़ कर रहे थे। दरबारियों में निराशा व्याप्त थी। पर पिछले दो दिन से बादल छंट गये और अमीर के निकट मौजूद लोगों को उसके चेहरे पर आह्लाद के लक्षण दिखाई देने लगे। सेवकों के प्रति अब अमीर का व्यवहार भी काफ़ी नरम हो गया था।

उस दिन सुबह अमीर ने मुहम्मद सालिह को धीरे से अपने पास बुलाया और उसके साथ बात की। जब मुहम्मद सालिह अमीर की अनुमति से वापस जाने के लिए प्रवेशद्वार की ओर बढ़ा तो अमीर ने उसे

सहसा रोक लिया। उसकी इच्छा थी कि आज शाम उसके ख़ेमे में निकट के लोग इकट्ठा होकर कुछ आमोद-प्रमोद करें। उसने मुहम्मद सालिह् को आदेश दिया कि वह उन लोगों को सूचित कर दे। रूदाकी की अनिवार्य उपस्थिति की ओर उसने विशेष रूप से संकेत किया। मुहम्मद सालिह् ने अविलम्ब अमीर का आदेश अबु-जाफ़र को कह सुनाया। समारोह् की तैयारी के संबंध में वे एक दूसरे से परामर्श करने लगे। रूदाकी को आमंत्रित करने के लिए मुहम्मद सालिह् स्वयं गया पर कवि के गंभीर मुखमण्डल को देखकर उसे अपने उस अनुरोध को दुहराने का साहस नहीं हुआ जिसके लिए कुछ दिन पूर्व वे लोग कवि के पास गये थे।

'अगर मना कर देंगे तो व्यर्थ मेरा मिज़ाज ख़राब हो जायेगा। अच्छा हो कि शाम तक प्रतीक्षा कर ली जाये,' उसने सोचा।

अमीर के ख़ेमे में आज बहुत कम लोग मौजूद थे। उपस्थित लोगों में अमीर के निकटस्थ सलाहकारों, रूदाकी व उनके सहायक के अतिरिक्त केवल तंबूरा व शहनाई बजानेवाले दो संगीतकार शामिल थे। रूदाकी मुहम्मद सालिह के साथ सम्मानपूर्ण स्थान पर बैठे थे और रुबाब की संगत में संगीतकारों के वादन से लयबद्ध ग़ज़ल पढ़ रहे थे। नसर अनवरत रूप से मद्यपान कर रहा था और अबु-जाफ़र के अत्यधिक आग्रह के बावजूद स्वादिष्ट भोज्यपदार्थों का अनिच्छा से सेवन कर रहा था। संगीत की सुरलहरी के शांत होने पर मुहम्मद सालिह व अबु-जाफ़र अमीर का मनोविनोद करने में हद से बाहर निकल गये, उसे मनोरंजक कहानियां व चुटकुले सुनाने लगे। बीच-बीच में रूदाकी भी चर्चा में शामिल हो जाते थे और कोई मनोरंजक शिक्षाप्रद कहानी सुनाने या बैत के गहरे भावों का विश्लेषण करने लग जाते थे। अमीर नसर स्नेह से मुसकरा उठता और अपनी मुरझाई आंखों से रूदाकी की ओर देखते हुए प्रसन्नताभरे स्वर में कह उठता:

"वाह! रूदाकी, वाह!"

असंगत बातों का यह सिलसिला काफ़ी देर तक चलता रहा। रूदाकी इससे ऊब गये। तंबूरा फिर से झंकृत हो उठा। रूदाकी ने देखा कि अमीर की आंखों में आंसू छलक आये हैं।

रूदाकी की दृष्टि तेज़ी से अपने सहायक के पास रखी पुरुतन्त्री की ओर मुड़ गयी। कल स्तेपी में ग़ज़ल की जिन पंक्तियों ने जन्म लिया था, सहसा उन्हें उनका स्मरण हो आया। उन्होंने तिरछी नज़र से मुहम्मद सालिह की ओर देखा। वह भृकुटियों पर बल डाले और सिर झुकाये तंबूरे की विषादमयी धुन को सुनने में लगा हुआ था। तंबूरे की अंतिम झंकार के समाप्त होते ही रूदाकी अपने स्थान से उठ खड़े हुए। अपने सीने पर हाथ रखकर उन्होंने उच्च स्वर में घोषणा की:

"ओ शहंशाह! हम अपने अमीर के विशाल साम्राज्य के सेवक हैं। हम कहीं भी क्यों न हों हमारा हृदय हमेशा बुख़ारा में ही रहता है। हम जानते हैं कि बुख़ारा में हमारे अमीर के राज्य की जड़ है, उनके पूर्वजों की अंतिम विश्रामस्थली है। बुख़ारा की सम्पूर्ण भूमि हमारे लिए पवित्र है। कुछ दिन पहले मैंने अपने इस प्रिय सौभाग्यशाली नगर तथा वहां रहनेवाले अपने अभिन्न मित्रों की याद में – जो हमारे अत्यधिक सम्माननीय अमीर की बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे हैं – एक छोटे-से क़सीदे की रचना की है। यदि आपकी आज्ञा हो तो चन्द बैतें पेश करूं।"

मुहम्मद सालिह के शरीर में हरकत आयी। अबु-जाफ़र और ताहिर बलख़ी की आंखें चमक उठीं और वे रूदाकी की ओर अपलक देखने लगे। अमीर नसर ने धीरे-से अपना सिर ऊपर उठाया। उसकी लाल-लाल आंखों में आंसू छलछला आये थे। उसकी दयनीय दृष्टि सहानुभूति की अपेक्षा कर रही थी।

"ज़रूर, ज़रूर," उसने मंद स्वर में कहा।

रूदाकी ने पुरुतन्त्री को उठा लिया और अमीर की दुबली झुकी

पीठ पर से निगाहें हटाये बिना ही वाद्ययन्त्र को कसने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने पुरुतन्त्री को अपनी छाती के पास ले जाकर बजाना शुरू कर दिया। सब लोग शांत हो गये। केवल ख़ेमे के गुम्बद को हिलाती हुई वायु की सरसराहट ही सुनाई दे रही थी। रूदाकी ने अपनी पलकें बन्द कर लीं और थरथराती आवाज़ में "उश्शाक़" का गायन करने लगे। उनकी कम्पनभरी वाणी में उत्तेजना के स्थान पर दृढ़ता थी। उन्हें अमीर के हृदय पर निश्चित रूप से प्रभाव डालना ही था। शांत सागर की लहरों सा उठता हुआ उनका स्वर धीरे-धीरे हृदय पर अपना प्रभाव जमाये जा रहा था। उनके गीत को सुनकर हृदय में कम्पन पैदा होने लगा था।

> लहराती, चमकती मूलियान मुझे पुकार रही है,
> मेरी प्रिया मुझे बुला रही है।

ऐसा लगता था जैसे कई दिनों से रूदाकी के हृदय के पिंजड़े में क़ैद ग़ज़ल स्वतन्त्र होकर अब विशाल ख़ेमे के गुम्बद को गुंजा रही थी। पर रूदाकी को ऐसा लग रहा था कि उनके शब्दों के लिए इस ख़ेमे में स्थान काफ़ी तंग है और हवा मद की गन्ध के कारण काफ़ी भारी और दमघोंटू हो गयी है।

इतनी आत्मविस्मृति के साथ उन्होंने कभी नहीं गाया था। प्रिय संगीत-लहरी के उदास सुरों ने उनके हृदय को अद्भुत आनन्द से भरना शुरू कर दिया। रूदाकी को इस समय अमीर की उपस्थिति तक का भान नहीं हो रहा था। आत्मा को माधुर्य व कोमलता से भर देनेवाले वे शब्द जो बुख़ारा की भव्यता का चित्रण करते थे तथा वे शब्द जो बुख़ारा की यशवृद्धि करनेवालों की प्रशंसा में कहे गये थे – उनके गायन में गाम्भीर्य व भावुकता का पुट ला रहे थे। पूर्व शासकों की यशोगाथा इस ख़ेमे में सस्ते मनोरंजन में लिप्त मदिरा के बंदी – उनके वंशज की

तुच्छता की ओर भी गुप्त रूप से संकेत करती थी। रूदाकी के आरोह व अवरोह स्वरों में सहसा थकान महसूस होने लगा। वह अब युवा नहीं रह गये थे, पर उनकी उंगलियों के निर्देश पर चलती पुरुतन्त्री के तार पहले की ही भांति अनवरत रूप से झंकृत हो रहे थे।

रूदाकी ने आंखें खोलकर अमीर को देखा। अमीर ने अपने एक हाथ की हथेली से शराब के प्याले को जकड़ रखा था और दूसरे हाथ से अपने झुके सिर को थामकर उसे ऊपर उठाने का प्रयास करते हुए इधर-उधर हिल-डुल रहा था। रूदाकी समझ गये कि वह रो रहा है। ताहिर बलख़ी मद और संगीत के नशे में मस्त ऊंघ रहा था। अबु-जाफ़र ने कवि की ओर घूरकर देखा। उसकी आंखों से लग रहा था कि वह अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन करने के लिए उसके घुटनों में गिरने तक को तैयार है पर अमीर की उपस्थिति में ऐसा करना अनुचित है। मुहम्मद सालिह अपने स्थान पर जड़वत खड़ा था और रूदाकी की आंखों में झांकते हुए प्रतीक्षा कर रहा था कि अमीर पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है।

रूदाकी ने पुरुतन्त्री की ओर संकेत करते हुए अपने सहायक को देखा। सहायक समझ गया कि कवि थक गये हैं और प्रभाव को बनाये रखने की दृष्टि से आगे गायन जारी रखना नहीं चाहते। रूदाकी का गायन रुकते ही सहायक का युवा मुखर स्वर ख़ेमे की दीवारों को कंपित करने लगा:

सुख के नगर बुख़ारा की ओर बढ़ो, ए अमीर,
वह तुम्हारे चरणों में सिर झुकाने को तत्पर है।
अगर बुख़ारा गगन हो, तो मेरी प्रिया चन्द्रमा है,
चांदनी में नहाया बुख़ारा मेरे इंतजार में है।
अगर बुख़ारा एक बाग़ हो तो मेरी प्रिया सरो है,
पक्षियों का कलरव और पत्तियों की सरसराहट मेरे इंतज़ार में है।

अभी संगीत की स्वर-लहरी और श्रोताओं की हर्षध्वनि शांत भी नहीं हो पायी थी कि एकाएक सिसकियां सुनायी दीं। तकिये पर सिर गिराकर महान अमीर नसर बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो रहा था। उसके सम्मुख शराब का प्याला उल्टा पड़ा था।

ख़ेमे में हड़बड़ी मच गयी। मुहम्मद सालिह ने संगीतकारों को जाने का संकेत किया और उठकर अमीर के सिर के नीचे का तकिया ठीक करने लगा।

नसर ने उसके हाथ को हटा दिया और फिर सिर उठाकर आंखों के संकेत से अबु-जाफ़र को आदेश दिया कि वह प्याले को शराब से भर दे। अबु-जाफ़र अपने स्थान पर उछलकर खड़ा हो गया। उसने अमीर के नक़्क़ाशीदार प्याले को उठाया और उसे शराब से भर दिया, तदुपरान्त अन्य उपस्थित लोगों के प्याले भरने लगा।

"वाह! हमारे आदरणीय शायर, वाह!" भरे गले के कारण भर्रायी आवाज़ में नसर ने कहा। "आपने हमारे घायल हृदय को आनन्दित किया, हमारे लड़खड़ाते शरीर को ताक़त दी, बुख़ारा की धरती में अंतिम विश्राम कर रहे मेरे पूर्वजों की आत्माओं को, जो इतने लम्बे अरसे से मेरी अनुपस्थिति के कारण शायद मुझसे नाराज़ हों – प्रसन्नता प्रदान की। आप प्रशंसा के पात्र हैं।"

नसर की आवाज़ रुंध गई। अपने उमड़ते आंसुओं को दबाने के लिए उसने शराब के पूरे प्याले को एक ही सांस में ख़ाली कर दिया और फिर मुहम्मद सालिह की ओर उन्मुख हो कहा:

"कल ही पूरे शिविर में घोषणा करवा दो: सब लोग कूच की तैयारी करें बुख़ारा के लिए। आप सुन रहे हैं? बुख़ारा के लिए!.. जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी!" और फिर वह रूदाकी की ओर मुड़कर बोला: "धन्यवाद, आदरणीय शायर, धन्यवाद! आप प्रशंसा के पात्र हैं। हां, अतिथि अब विश्राम करें।"

रूदाकी अपने स्थान से उठे और अमीर को झुककर अभिवादन करते हुए ख़ेमे से बाहर चल दिये। बाहर स्तेपी में हवा अपने पूरे ज़ोरों मे चल रही थी। मन्त्रमुग्ध करनेवाली संगीत की स्वर-लहरी अभी भी उसके कानों में गूंज रही थी।

नसर ख़ेमे में अकेला रह गया। उसने उठकर सन्दाल का सहारा लेने की कोशिश की, पर अपने पांवों को संभाल न सकने के कारण क़ालीन पर गिर गया। उसने दो-एक बार उठने की पुनः चेष्टा की, पर सफल नहीं हो सका। उसके बर्फ़-से सफ़ेद पड़ गये चेहरे पर केवल उसकी मूंछों और भौंहों का ही रंग काला था। उसके फीके मुरझाये होंठ कुछ इस तरह हिल रहे थे जैसे नशीले स्वप्न में भी वह अपने पूर्वजों की पवित्र आत्माओं का स्मरण कर रहा हो तथा कवि रूदाकी को धन्यवाद दे रहा हो।

...सूर्य अभी उदय नहीं हुआ था, पर क्षितिज में लाली छा गयी थी। पेड़ों के पत्तों और हरी घास पर खेलती हुई प्रभातकालीन नील-लोहित आभा वातावरण की हरीतिमा को स्वर्णिम रंग से आच्छादित कर रही थी। निकट के हरित कुंजों में से आते पक्षियों के कलरव और आधे घण्टे पूर्व यात्रा पर रवाना हुए लम्बे कारवां की घंटियों की गूंज के अतिरिक्त सुबह के शांति में और कोई ध्वनि नहीं सुनायी दे रही थी। कारवां के मध्य एक ऊंट के ऊपर बंधे बहुरंगी सिंहासन में स्वर्णराजित चोग़ा पहने अमीर नसर बैठा हुआ था। नशे और अनिद्रा के कारण सूजी पलकों को बन्द किये अमीर ऊंघ रहा था। दुश्चिन्ताओं के कारण उसका शरीर रह-रहकर कांप उठता था। मस्तिष्क में बेतरतीबी से ठुंसी हुई दुश्चिन्ताएं उसे सोने नहीं दे रही थीं। वह सोच रहा था कि पता नहीं बुख़ारा के आलीशान महलों व अपने मित्रों तक वह जीवित पहुंच भी सकेगा या नहीं? उसका रोगी मरियल शरीर लम्बी यात्रा की कठिनाई को सहन कर भी सकेगा या नहीं? क्या बुख़ारा

उसका उसी तरह प्रेमपूर्वक स्वागत करेगा जैसा कवि ने कल अपनी कविता में चित्रण किया था, या फिर उसे मरणान्तक दुर्भाग्य के दर्शन करने पड़ेंगे?

काश, एक क्षण के लिए भी ये बुरे विचार उसके मस्तिष्क से दूर रहकर उसे स्तेपी की सुगन्ध का शांत भाव से पान करने देते! पर नहीं, वे ऐसा नहीं करेंगे, उसकी छाती को मर्मान्तक पीड़ा से सालते रहेंगे।

रूदाकी अपने सहायक के साथ कारवां के कहीं पश्च भाग में चले जा रहे थे। उनकी दृष्टि अपने सम्मुख कहीं दूर क्षितिज पर टिकी हुई थी जैसे उन्हें वहां अपनी आशाओं, स्वप्नों, हर्ष और उल्लास की आश्रयस्थली प्राप्त हो गयी हो। क्षितिज से शनैः शनैः ऊपर उठते सूर्य के ताप में तथा प्रकृति के जागरण की घोषणा करते पक्षियों की चहचहाहट में उन्हें आनन्द का अनुभव हो रहा था।



मारूफ़ बाबाजान

लेखक का जन्म सन् १९४५ में लेनिनाबाद शहर के एक सामान्य परिवार में हुआ था। सन् १९६७ में उन्होंने व्ला० इ० लेनिन ताजिकिस्तान राजकीय विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। लेखक मारूफ़ बाबाजान रेडियो व टेलीविज़न में सम्पादकीय पद पर कार्य कर चुके हैं और जनतंत्रीय समाचार-पत्र "ताजिकिस्ताने सोवेती" (सोवियत ताजिकिस्तान) के साहित्यकर्मी के रूप में भी प्रख्यात रहे हैं। उन्होंने सन् १९६६ में साहित्य-सृजन आरम्भ किया और सन् १९४१–१९४५ के महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के वीरों के बारे में और युद्धोत्तर शान्तिपूर्ण समय में ताजिक लोगों की श्रम के क्षेत्र में महान उपलब्धियों के बारे में सौ से अधिक कहानियां तथा लेख लिख चुके हैं।

मां

सब कुछ टंच था, गैरेज के लड़कों के अनुसार एकदम ओ० के०। सड़क सही हालत में थी और लॉरी भी दुरुस्त। क़ुदरत ने सुना इंजन ठीक आवाज़ दे रहा था। १५० हार्स पावर का यह इंजन पेट्रोल का नाश्ता ख़ूब मज़े से करता था।

वसन्त का मौसम आ गया था। उसे वसन्त पसन्द था। पूरे जाड़ों भर इसकी प्रतीक्षा रही, पर यह कमबख़्त ऐसा निकला कि पिघलती बर्फ़ के आंसू टपकाता रहा, एक बार फिर बर्फ़ गिरी और चारों ओर पुनः कीचड़ दीखने लगा।

बादल ऐसे चटक सफ़ेद, जैसे साबुन लगाकर कपड़े धोने की मशीन से विरंजित कर अभी-अभी निकाले गये हों। आसमान गहरा नीला। सड़क के दोनों किनारों में सराई व नयी-नयी घास दिखलायी पड़ रही थी। पहाड़ियों में बादाम के पेड़ चमक रहे थे। अभी पत्तियां तक तो निकली नहीं थीं, पर फूल खिलाने की उन्हें जल्दी पड़ गयी थी। हवा मन्द थी, उसमें से बर्फ़ीली गन्ध आ रही थी। सुबह क़ुदरत लॉरी को एकदम स्टार्ट नहीं कर सका क्योंकि रात भर में उसका इंजन ठंडा पड़ चुका था। दर्रों में कहीं-कहीं बर्फ़ मौजूद थी, पर इसमें डरने की कोई बात नहीं। यह देखो, सूरज कैसा चमक रहा है!

क़ुदरत इन सबके बारे में सोच रहा था, पर उसे अपने ऊपर थोड़ा ज़ोर डालना पड़ रहा था। उसके हृदय में सूई-सी चुभ रही थी। वह जानता था कि इस सूई को बाहर निकाल पाना उसके वश में नहीं है। हर बार जब भी उसे मां की याद आती, यह सूई उसके अन्दर तक धंस जाती। यों मां की याद उसे हर दम बनी रहती (शेष अन्य बातों के बारे में सोचने में वह स्वयं को विवश करता था), पर जब उसका

ध्यान मां से हटता, भोथरी सूई की चुभन का अहसास उसे तब भी बना रहता था।

कल मां की तबीयत ख़राब थी। "मामूली-सी बात – ठंड लग गयी थी। बादाम के पेड़ों में फूल आ रहे हैं, ठंड लगना मुश्किल नहीं।" काश, उसे सिर्फ़ ठंड लगने की ही शिकायत होती, मां अपनी बीमारी की ख़बर को फैलाना पसन्द नहीं करती – पर मान लो सिर्फ़ ठंड ही लगी थी, तो भी उसकी उम्र में यह मज़ाक़ की बात नहीं। उसे चाहिए कि वह आराम करे और अपना इलाज करवाये – चाहे दो-एक दिन के लिए ही सही। चाची ने उसका काम देखने का वचन भी दे दिया था। पर मां को कोई मना सकता है! उसका तो एक ही उत्तर होता है: "मेरी ओर तेरा ध्यान ही, बेटे, मेरे लिए दवाई से बढ़कर होता है... काम करने से बीमारी जल्दी ठीक हो जायेगी..."

अब क़ुदरत ख़ुद को कोस रहा था: वह अपने निर्णय पर टिका ही नहीं रह पाता, मां की ओर ध्यान देने में कसर रह जाती है, दृढ़ संकल्प की तो उसमें बहुत कमी है।

मोड़ के पीछे से किसी गाड़ी के हार्न की आवाज़ अचानक कानों से टकरायी। क़ुदरत ने अपनी लॉरी को किनारे की ओर दबा लिया। ख़तरे का अनवरत रूप से संकेत देती एम्बुलेन्स तेज़ी से आगे बढ़ गयी।

"इस ट्रिप से लौटने पर मां को ज़रूर अस्पताल में दिखाऊंगा," क़ुदरत ने फ़ैसला किया। "उसकी उम्र में स्वास्थ्य से यों खिलवाड़ नहीं किया करते।"

इस फ़ैसले से क़ुदरत को कुछ राहत मिली, कुछ ख़ुशी हुई। सड़क एक पहाड़ी से दूसरी पहाड़ी तक फैली हुई थी। कभी-कभी तो सारा शरीर ही झटके खाने लगता, ऐसा लगता जैसे झूले पर बैठे हों। क़ुदरत पुनः सड़क, पहाड़ों और बादाम के वृक्षों के बारे में सोचने लगा। यहां के पहाड़ पामीर जैसे तो नहीं थे, पर उनका कुछ तत्व

उनमें अवश्य था। हर पहाड़ पर सरपट दौड़ा नहीं जा सकता था। आगे पड़ाव था – समुद्र की सतह से १२४५ मीटर ऊपर।

पड़ाव के निकटवाले गांव में क़ुदरत की लॉरी को एक बुढ़िया ने रोका। बुढ़िया ने फटा-पुराना नक़ली मख़मल का कोट पहन रखा था, सिर पर फुंदनेदार सफ़ेद स्कार्फ़ था ... चेहरा कत्थई और झुर्रियों से भरा। क़ुदरत का दिल कराह उठा।

"नमस्ते, दादी," क़ुदरत ने केबिन का दरवाज़ा खोलते हुए बुढ़िया से कहा।

"सौ साल जियो, बेटे," बुढ़िया ने जवाब दिया। उसके इस तरह अभिवादन करने के ढंग से क़ुदरत को अपनी मां की और भी याद हो आयी। "गुलिस्तान जा रही हो ना?"

क़ुदरत ने केबिन से बाहर निकलकर बुढ़िया को उसके भारी थैले को उठाने में सहायता की। "मैं तुझ पर बलिहारी, बेटे," परिचित शब्दों में बुढ़िया ने पुनः धन्यवाद दिया। बाहर हवा बर्फ़ीली गन्ध से युक्त थी। क़ुदरत ने अपनी जैकेट को कसकर लपेट लिया, चहलक़दमी करते हुए गाड़ी का एक चक्कर लगाया और जूते की ठोकर से पहियों को आदतन ठकठकाया। भद्-भद् की आवाज़ आने लगी, लगा जैसे वे अलस क्रोध से गुर्राकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट कर रहे हों। काफ़ी अच्छे ... खूब डटकर पेट भरा है, जल्दी भोजन की ज़रूरत नहीं।

हाथों से इशारा करते और कुछ चिल्लाते हुए कुछ लड़के-लड़कियां गांव की ओर से भागकर लॉरी की तरफ़ आ रहे थे। इंजन के शोर में उनके शब्द क़ुदरत को सुनाई नहीं दिये। उन सभी ने एक जैसी नारंगी रंग की जैकेटें पहन रखी थीं और एक ही जैसे जूते। उनकी जैकेटें रास्ते की हरियाली पृष्ठभूमि में भड़कीली और नयी-सी लग रही थीं। "आठ आदमी," क़ुदरत ने गिना, "ये ज़रूर गुलिस्तान में प्रैक्टिकल के लिए आये छात्र-छात्राएं हैं।"

लड़के-लड़कियां सचमुच गुलिस्तान जा रहे थे...

"ओ० के० !"

"क्या कहा आपने ?" लड़के कुछ समझ न सके।

"मैंने कहा, पीछे बैठ जाइये !"

अब क़ुदरत सावधानी से गाड़ी चला रहा था। सड़क के बायीं ओर चट्टान थी और दायीं ओर पहियों के लगभग ठीक नीचे – विशाल गर्त। रास्ता अवश्य जाना-पहचाना था, सड़क भी पूरी तरह से ठीक-ठाक थी। पिछले सालों में उसे चौड़ा कर दिया गया था, इतना कि चाहो तो उसमें मोटर रेस लगवा लो – पर फिर भी मोड़ों पर चौकन्ना रहना पड़ता था, अनुमान और गणना ठीक रखने की ज़रूरत होती थी, वरना गर्त में गिर जाना ज़्यादा मुश्किल नहीं था।

पड़ाव में वसन्त आया हुआ था। बर्फ़ काफ़ी थी, पर बर्फ़ के साथ ही हिमसुमनों के कारण वातावरण वसन्ती हो गया था। बर्फ़ सरन्ध्र थी, पर देर तक उस ओर देखने से आंखें चुंधिया जाती थीं।

क़ुदरत को याद आया कि बचपन में वह लड़कों के साथ गुलदस्ते लेकर बेचने के लिए सड़क पर निकल आता था। तब वक्त इतना अच्छा नहीं था, लड़ाई अभी-अभी ख़त्म हुई थी, गाड़ियां भी सड़क पर इतनी नहीं दौड़ती थीं जितनी आज – इक्का-दुक्का ही नज़र आती थी, पर फूल तब भी ख़रीदे जाते थे – मिठाई के पैसे बन जाते थे।

"मां के लिए शाल ख़रीदूंगा," क़ुदरत ने सोचा। उसने गुलिस्तान में मां के लिए एक शाल देख रखी थी, जो ज़्यादा महंगी न थी, पर थी काफ़ी गरम। पर ख़रीदने का कभी मौका नहीं जुटा पाया क्योंकि कभी तो पास में पैसे नहीं होते थे, कभी होते थे तो दोस्तों के साथ यूं ही उड़ा देता था। केवल एक बार जब उसे पहला वेतन मिला था, वह मां के लिए कोई उपहार लाया था। तब से कितने खनखनाते

सिक्के उसके हाथ से निकल चुके थे। कभी-कभी तो क़ुदरत को ऐसा लगता था जैसे वह मां का मन कभी ख़ुश नहीं कर सकेगा। नेक बेटा वह है जो मां का ध्यान रखे। क़ुदरत ने भाड़े में मिलनेवाले पैसों का हिसाब लगाया। उसका मन आह्लादित हो उठा। उदासी दूर भाग गयी। उत्तर की ओर प्रस्थान न कर सकने वाले धूसर भारद्वाज पक्षी गाते हुए चिहुंककर तपती कोलतार की सड़क से नीचे की ओर उड़ चले। लॉरी के पीछे बैठे छात्र-छात्राएं हंस-बोल रहे थे, गाना गा रहे थे और लकड़ी की सीटों को अपनी हथेलियों से डफ़ की तरह बजा रहे थे। केवल बुढ़िया ही चुपचाप बैठी थी। उसकी दृष्टि सामने के शीशे पर टिकी थी। चेहरे से उदासी व विषाद टपका पड़ रहा था। इसका कारण क़ुदरत की समझ में नहीं आया। कैंची मोड़ों पर वह बुढ़िया की ओर खिसक जाता और जैसे ही उसकी आंखों से सामने के शीशे की ओर देखने का प्रयास करता, पर उसे कुछ विशिष्ट नज़र नहीं आता। नज़र आयी बस, वही बर्फ़ और वही हिमसुमन।

"किसी के घर मेहमान बनकर जा रही हो क्या, दादी?" जब क़ुदरत से नहीं रहा गया तो अन्ततः वह पूछ ही बैठा।

"नहीं, बेटे को देखने जा रही हूं," बुढ़िया ने उसकी ओर धीरे-से मुंह मोड़ते हुए उत्तर दिया।

"अच्छी बात है।" उसके मुंह से आदतन "ओ० के०" शब्द निकलने ही वाला था, पर उसने ठीक समय पर अपने पर नियन्त्रण कर लिया।

"मेरा बेटा गुलिस्तान के जेलख़ाने में पड़ा है।"

अचानक ब्रेक लगने से चरचराहट हुई। सामने से आती गाड़ी को देखकर क़ुदरत ने गति कम कर ली, पर पैडल नहीं दबाया। "बेवक़ूफ़!" ग़ुस्से से एक्सेलेरेटर को खींचते हुए उसने कहा और पैडल को पांव से दबा दिया।

"छः महीने से जेल में है," भारी सांस लेकर बुढ़िया बोली। "तीन साल की क़ैद हुई है मेरे मुहम्मदजान को।"

"कोई अपराध किया होगा उसने," क़ुदरत ने अस्पष्ट रूप से बुदबुदाते हुए कहा। "ढंग से रहो तो कोई बंद नहीं करता।"

"उसका कोई क़सूर नहीं है," बुढ़िया ने सिर हिलाकर प्रतिवाद किया। "मेरा बेटा भी ड्राइवर था," उसने आगे कहा। उसे उम्मीद थी कि इससे सब कुछ क़ुदरत की समझ में आ जायेगा। "रास्ते में साथियों के साथ पी ली थी, झगड़ा हुआ, साथी मुहम्मदजान पर मुक्के बरसाने लगे। मुहम्मदजान के हाथ में चाक़ू आ गया। वह इससे केवल उन्हें डराना चाहता था।"

"फिर भी क़सूर तो था उसका।" क़ुदरत स्वयं को अभी भी असहज अनुभव कर रहा था।

"वह क़सूरवार नहीं है," बुढ़िया ने हठपूर्वक पुनः दोहराया। "मुहम्मदजान नेक लड़का है, पर ज़रा ग़ुस्सेवर है, तैश में आ जाता है। सारा क़सूर है वोदका का।"

'मैं मां के लिए शाल किसी हालत में नहीं ले पाऊंगा,' सहसा क़ुदरत ने सोचा। वे अब पड़ाव से आगे की उतराई उतर रहे थे। बर्फ़ पड़नी अब कम हो गयी थी, पर क़ुदरत को लगा कि केबिन में ठंडक है। उसने बग़ल का शीशा चढ़ा दिया। पुनः बेद व बादाम के पेड़ नज़र आने लगे थे। दूर पहाड़ियों के बीच में चलते ट्रैक्टर कपास के खेतों को समतल कर रहे थे। धरती अब सूखने लगी थी। ट्रैक्टरों के पीछे धूल उड़ रही थी।

बुढ़िया मुहम्मदजान के बारे में बताये जा रही थी। स्पष्ट था कि क़ुदरत उसके बेटे को बुरा समझ सकता है, यह आशंका उसे दुःख पहुंचा रही थी। मुहम्मदजान उसके छः बेटों में सब से छोटा था। न जाने क्यों उसके और सभी बेटे जीवित नहीं रहे थे। मुहम्मदजान का

जन्म युद्ध शुरू होने के तीन महीने पूर्व हुआ था। उसके पिता मोर्चे पर गये थे और वापस नहीं लौटे।

'मुझे व मेरी बहिन को भी मां ने अकेले ही पाला,' क़ुदरत के मन में ख़याल आया। क़ुदरत का जन्म युद्ध छिड़ने के बाद हुआ था। उसके पिता मोर्चे से वापस लौट आये थे। उनकी छाती तमग़ों से भरी थी। पर उनका स्वास्थ्य चौपट हो चुका था। वे ज़्यादा दिन जीवित नहीं रह सके। क़ुदरत को उनकी बहुत ही धुंधली याद है।

"बच्चे बड़े होते जाते हैं तो हाथों को दु:खाते हैं, जब और बड़े हो जाते हैं तो आत्मा को दु:खाते हैं," बुढ़िया ने कहा। स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करने के बाद मुहम्मदजान ने आगे पढ़ना नहीं चाहा और न कोई काम ही ढूंढ़ा। मैंने सोचा कुछ दिन आराम ही कर ले। काम के लिए तो काफ़ी उम्र पड़ी है। मुहम्मदजान ज़्यादा दिनों तक आवारागर्दी न करके काम पर लग गया। पर जो काम उसे मिला, वह उसे पसन्द नहीं आया। दूसरा काम ढूंढ़ा, पर उसमें भी उसका मन नहीं लगा। मटरगश्ती फिर शुरू हो गयी, पर ड्राइवरी सीखने के बाद ही वह टिक गया। तभी उसने शादी भी कर ली। मैंने सोचा अब अपने पोते-पोतियों को पालूंगी। मेरे तीन पोते-पोतियां हैं, चौथा मां के पेट में है। बहू स्कूल में काम करती है... तीन साल कैसे कटेंगे, कहना मुश्किल है।"

गुलिस्तान की सीमा में प्रवेश करते ही जेलख़ाना आ गया। उसके लौह कपाट अप्रत्याशित रूप से वसन्त ऋतु के हरित रंग से रंगे थे।

क़ुदरत ने जेलख़ाने के प्रवेशद्वार के पास गाड़ी रोक दी। बुढ़िया ने अपने थैले से चार उबले अण्डे, दो समोसे और अनार निकालकर क़ुदरत की ओर बढ़ा दिये...

"तुम्हें तो भूख लगी होगी शायद। समोसे मैंने ख़ुद बनाये हैं, कद्दू डालकर। स्वादिष्ट हैं।"

क़ुदरत ने लेने से इनकार कर दिया।

"ऐसे बढ़िया समोसे आपका बेटा किसी क़ीमत पर नहीं ख़रीद सकेगा।"

बुढ़िया ने इन शब्दों का अपने ढंग से अर्थ लगाया। उसने जल्दी से अपनी जेब से रूमाल निकाला। रूमाल में कुछ नोट बंधे पड़े थे।

"वापसी के लिए काफ़ी होंगे। बाक़ी पैसों से पोते-पोतियों के लिए कुछ सामान भी आ जायेगा। कहूंगी—तुम्हारे पिता ने भेजा है।"

क़ुदरत ने बुढ़िया से पैसे ले लिये। फाटक तक उसका भारी थैला ढोकर ले गया। रास्ते में उसने अपने सारे पैसे चुपके-से बुढ़िया के थैले में डाल दिये।

'लो मां की शाल भी चौपट हो गयी,' लॉरी की ओर वापस लौटते हुए क़ुदरत ने उदास मन से सोचा।

छात्र-छात्राएं भी उतर गये थे। क़ुदरत ने उन्हें चौराहे के पार जाते हुए देखा। वे परस्पर चिल्ला-चिल्लाकर बातें कर रहे थे। क़ुदरत की ओर उनका ध्यान नहीं था।

नगर में वसन्त उभार पर था। पेड़ों में पत्तियां अभी प्रस्फुटित नहीं हुई थीं, पर उनमें हरीतिमा आनी शुरू हो गयी थी। वातावरण में गुनगुनापन था। चटकदार शोख़ रंग के कपड़े पहने बच्चे अपने कोलाहल से चौक के वातावरण को मुखरित कर रहे थे।

'मां को शायद फ़िलहाल शाल की ज़रूरत नहीं होगी,' क़ुदरत ने ख़ुद को आश्वस्त करते हुए सोचा। 'वसन्त आ गया है। सूरज कैसा चमक रहा है। सब ओ० के० है!'



अब्दुसलाम अताबायेव

कथा लेखक का जन्म सन् १९३४ में इसफ़रा शहर में हुआ। सन् १९५८ में उन्होंने दुशाम्बे के अध्यापक संस्थान के भाषाशास्त्र संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् पत्रकारिता के क्षेत्र में काम करने लगे। उनकी कृतियां सन् ६० के दशक से प्रकाशित हो रही हैं। अब तक वह अनेक कहानियां तथा नाटक लिख चुके हैं, जो विशेषतः समकालीन नैतिक समस्याओं को समर्पित हैं।

अन्तिम मिलन

जब कभी भी मैं दुशाम्बे से इसफ़रा आता हूं, पिता की क़ब्र के दर्शन करने अपने गांव अवश्य जाता हूं।

पिता की इस चिर-विश्रामस्थली के ऊपर एक बड़ा-सा चिनार का पेड़ अपनी शाखाएं फैलाये खड़ा है। मैं उसके नीचे बैठकर पत्तों की मर्मराहट सुनता रहता हूं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि पहले यहां चिनार का यह पेड़ नहीं था। किसने इसे यहां लगाया होगा? मां या दादी का यह काम नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता तो वे मुझसे अवश्य बतातीं। और सच तो यह है कि मेरे बिना वे यह पेड़ लगाती भी नहीं, मुझे अवश्य अपने साथ ले जातीं... कहीं अपने आप तो नहीं उग आया यह पेड़?

पत्तों की सरसराहट सुनते हुए मुझे ऐसा लगने लगता है जैसे मेरे पिता इस वृक्ष के रूप में पुनः जीवन धारण कर मेरे सामने आ खड़े हुए हैं और कानों में कुछ फुसफुसाकर कह रहे हैं।

डालों के हिलते ही चिनार के इस वृक्ष के हथेलियों जैसे चौड़े पत्ते परस्पर टकराते हुए हवा में झूलने व सरसराने लगते हैं। क्या कहते हैं वे फुसफुसाकर मेरे कान में? क्या कहना चाहते हैं मुझसे मेरे पिता? मैं सिर झुकाए चुपचाप बैठा उनके शब्द ध्यान से सुनता रहता हूं।

पिता की क़ब्र के ऊपर इस चिनार के उगने के बाद गांववालों ने उनकी स्मृति में गांव से इस स्थल तक के सारे रास्ते पर चिनार के वृक्ष लगा दिये। पूरा रास्ता छायादार हो गया जिससे यह स्थान और भी सुन्दर लगने लगा।

पिता जब युद्ध में गये थे, मेरी उम्र तब लगभग तीन साल की थी। पिता की याद मुझे नहीं के बराबर है। मुझे याद है तो केवल उनकी बड़ी-बड़ी मूंछों की। जब कभी मूंछोंवाले किसी आदमी से मेरी भेंट होती, मेरे दिल में धुकधुकी होने लगती कि कहीं ये मेरे पिता तो नहीं हैं? मैं उस आदमी के चेहरे पर नज़र गड़ाये उसके पीछे-पीछे चल पड़ता कि कहीं मुझे देखकर उसके होंठों पर मुसकराहट तो नहीं उमड़ पड़ती? पिता के चेहरे की मुझे याद तो थी नहीं, अतएव मैं उनके चेहरे की कल्पना नहीं कर सकता था। मूंछोंवाले तो बहुत सारे आदमी थे। मां व दादी ने मुझे पिता के चेहरे-मोहरे के बारे में बताया था, उनकी आंखों, भौंहों, माथे व नाक का चित्रण

भी किया था, पर मेरी कल्पना में फिर भी उनका चेहरा उदय न हो सका। मुझे अपनी कल्पना में सिर्फ़ उनकी मूंछें ही नज़र आती थीं और कुछ भी नहीं। पर मैं ख़ुद को यह कहकर सान्त्वना दे लेता था कि शीघ्र ही मेरे पिता युद्ध से लौटकर आयेंगे और तब मैं ख़ुद ही जान लूंगा कि वे बेखने में कैसे हैं।

उनके लौटने की प्रतीक्षा में मैं दिन गिनता रहता था और घण्टों रास्ते में खड़ा रहता था।

कुछ दिन बाद हमारी पड़ोसिन चाची हनीफ़ा के यहां मातमी ख़बर पहुंची। मुझे पता चला कि मेरे दोस्त सिराज के पिता नहीं रहे। उनके घर में सब लोग विलाप करने लगे। उन्हें सान्त्वना दिलाने के लिए पूरे गांव के लोग इकट्ठा हुए। और तब मेरे दिल में डर बैठ गया। पहले मेरा विचार था कि युद्ध से सब लोग सही-सलामत घर लौटते हैं। लोग मोर्चे पर लड़ने के लिए जाते हैं, और वहां फ़ासिस्टों को मारकर उनके टैंक व हवाई जहाज़ नष्ट कर घर वापस लौट आते हैं। सिराज के पिता की मौत की ख़बर आने से पहले युद्ध के बारे में मेरी ऐसी ही धारणा थी। पर युद्धभूमि में पता चला कि बात कुछ और ही होती है। लोगों की वहां मौत हो जाती है और उन्हें वहीं युद्धभूमि में ही दफ़ना भी दिया जाता है। इस खौफ ने मेरे हृदय को विजड़ित कर दिया – कहीं मेरे पिता भी सहसा... लेकिन मेरी आत्मा पुकार उठी: "नहीं! नहीं। मुझे अपने पिता के दर्शन मिलने ही चाहिए! उनका चेहरा देखने की मेरी बड़ी इच्छा है!"

हमारी पड़ोसिन के घर जब से मातमी ख़बर आयी तब से मैं, मेरी मां व दादी लम्बी दाढ़ीवाले अपने पत्रवाहक बाबा रहमत को घर की देहरी पर देखते ही भय से कांप जाते थे। जब तक असल बात का पता न चल पाता तब तक हमारे पैरों की धरती खिसकी रहती, दिल बैठा रहता और आंखों में अंधेरा छाया रहता था। पर इन सब

बातों की समझ मुझे निश्चय ही बाद में कुछ और बड़ा होने पर ही हो पायी थी।

बाबा रहमत संवेदनशील व बुद्धिमान व्यक्ति थे। यह देखकर कि उनके आगमन पर हमारी क्या हालत हो जाती है, वे तुरन्त ही हमें शान्त करने के लिए कह देते थे :

"डरने की कोई बात नहीं है..."

और तब तुरन्त ही हमारी सांस में सांस आ जाती थी। भय से सिकुड़ी-सिमटी दादी ख़ुदा का शुक्र अदा करती हुई अपनी छड़ी को और भी ज़ोर से जकड़ लेती थी। मैं बाबा रहमत के चोग़े के छोर को खींचकर प्रसन्नता से उछलता हुआ कहता :

"बापू की चिट्ठी कहां है? मुझे मेरे बापू की चिट्ठी दीजिये।"

मां वृद्ध बाबा रहमत के कन्धों को छूतीं और हाथों को श्रद्धा-पूर्वक अपनी आंखों पर फेरती हुई बार-बार कहती जातीं :

"आपका शुक्रिया, ख़ुदा आपको सेहतमन्द रखे।"

बाबा रहमत के इतना कहते ही कि "डरने की कोई बात नहीं है" हमारा भय छू-मन्तर हो जाता और हृदय आशा से भर जाता। बाबा रहमत के ये शब्द शुभ सन्देश के वाहक होते। वे इस बात का संकेत होते थे कि वह लोगों के लिए "शोक सन्देश" नहीं लाते, पत्र लाते हैं। उनके लाये पत्रों को लोग आंखों से लगा लेते और उनके मना करने पर भी मुट्ठी भर किशमिश या सूखी ख़ूबानियां लाकर उन्हें दे देते।

पर यदि बाबा रहमत दुःखी भाव से सिर झुकाए चुपचाप घर की देहरी पर आकर रुक जाते तो लोग समझ जाते थे कि वह उनके प्रति अपनी संवेदना प्रकट कर रहे हैं। तब भय के मारे उनकी घिग्घी बंध जाती। वे बुत-से खड़े रह जाते।

बुद्धिमान बाबा रहमत मृत व्यक्ति के रिश्तेदारों को मौत की ख़बर

सुनाकर दुःखी नहीं करते थे। वह उन्हें स्नेहपूर्ण शब्दों में सान्त्वना देते हुए कहते:

"दुःखी मत होइये। हो सकता है इसमें कुछ ग़लती हो। दुनिया उम्मीद पर ही टिकी है।"

वह उस 'काली चिट्ठी' को उन्हें न देकर वापस अपने साथ ही ले जाते। उनके जाते ही रुदन का उच्च स्वर वातावरण में व्याप्त हो जाता और पूरा गांव शोक में डूब जाता। मृत व्यक्ति के शोक में डूबे उन मातमी दिनों को हम 'काले दिन' कहकर पुकारा करते थे।

मैं तब छोटा ही था। मां के शब्दों में अभी मेरे होंठों का दूध भी नहीं सूख पाया था, पर मैं तभी से जानता था कि मृत्युशोक क्या होता है, लोगों के दुःख को समझता था और स्वयं भी उनके साथ दुःख का अनुभव करता था।

बचपन के मस्तीभरे खेलों को छोड़कर मैं और सिराज लगभग हर रोज़ पत्रवाहक को देखने मुमिनाक सड़क पर आ निकलते थे, यह जानने के लिए कि आज वह किसके लिए क्या ख़बर लाये हैं।

एक बार मैंने सिराज से पूछ ही लिया कि वह यहां क्यों आता है।

"क्या मालूम, किसी दिन बापू आ ही जायें तो..." उसने उत्तर दिया।

पर उसके पिता के नाम पर 'काली चिट्ठी' आ गयी थी, फिर यह विश्वास कैसे हो? मरे हुए लोग लौटकर आते हैं क्या?

सिराज ने जैसे मेरे मन की बात भांप ली, बोला:

"शहर में कई लोगों के नाम पर 'काली चिट्ठियां' आ गयी थीं, पर फिर भी वे जीवित लौट आये।"

"सच?"

"हां, सच। बाबा रहमत ने मेरी मां से कही थी यह बात," सिराज ने दूर कहीं देखते हुए जवाब दिया।

मैं समझ गया कि उसे मेरे शब्दों से चोट पहुंची है। कुछ और न बोलकर वह पास ही शहतूत के बाग़ीचे में चला गया, पेड़ से एक टहनी तोड़कर पत्तियां साफ़ कीं और उससे ज़मीन पर कुछ रेखाएं खींचने लगा।

मैं स्वयं को दोषी अनुभव कर रहा था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी ग़लती का कैसे प्रायश्चित्त करूं। मुझे उसे सान्त्वना देने की बहुत इच्छा हो रही थी। सहसा मैं उससे पूछ बैठा:

"सिराज, अगर तेरे पिता एकाएक यहां प्रकट हो जायें तो क्या तू उनको पहचान लेगा?"

"क्यों नहीं पहचानूंगा भला? जब वे मोर्चे पर रवाना हुए उस समय मैं पांच साल का था। वे मुझे अपने साथ बाज़ार ले जाते थे, मुझे नमकीन चने ख़रीदकर देते थे," सिराज ने सगर्व उत्तर दिया।

"पर मुझे अपने बापू की बिलकुल पहचान नहीं है। याद है तो सिर्फ़ उनकी मूंछों की," मैंने दु:खी स्वर में कहा। "मां कहती हैं कि तब मैं तीन साल का ही था..."

सिराज ने मेरी ओर आश्चर्यपूर्वक देखा। ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं अपने पिता को न पहचानता होऊं? शायद झूठ बोल रहा हूं मैं! लेकिन फिर बोला: "पर अब्दुल्ला, मुझे तेरे बापू की याद है।"

"तुझे? तुझे याद है मेरे बापू की?" मुझे विश्वास नहीं हो रहा था।

"हां, याद है। वे ऊंचे क़द के मूंछोंवाले आदमी थे। अक्सर मुझे अपने ट्रैक्टर में सवारी कराया करते थे।"

मुझे मालूम था कि मेरे पिता ट्रैक्टरचालक थे। उनके मोर्चे पर चले जाने के बाद उस ट्रैक्टर को अब सलीमा चलाया करती थीं।

सिराज ने सामने के चौड़े खेत को मुझे दिखाकर कहा:

"यह सारी ज़मीन तेरे बापू ही जोता करते थे ट्रैक्टर से।"

मेरी दृष्टि हरे-भरे खेत की ओर उठ गयी। अनजाने ही आंखों में आंसू उमड़ पड़े। ये आंसू पिता की याद के थे।

* * *

नमाज़ अदा करते समय दादी मेरे पिता को याद करके हमेशा ख़ुदा से कहा करतीं :

"ए ख़ुदा! हिटलर के घर में आग लगे, उसकी सेना को महामारी खा जाये। मोर्चे में गये सभी लोग घर लौट आयें और उनके बीच मेरा बेटा भी हो।"

एक दिन मुंह अंधेरे ही मेरी दादी ने मुझे जगा दिया।

"उठ बेटे, नईमजान के बापू लड़ाई से लौट आये हैं!"

मैं उछलकर आंगन की ओर भागा। मैंने सोचा नईमजान के बापू हमारे घर आये हैं, पर आंगन में पहुंचने पर मुझे वहां कोई नज़र नहीं आया। "कहां हैं? कहां हैं वे?" मैंने मां से चिल्लाकर पूछा।

"अरे, वे तो अपने घर में हैं," मां ने समझाया।

मैं नंगे पांव ही नईमजान के घर की ओर भाग चला। मैं ऐसे भाग रहा था, जैसे नईमजान के नहीं, मेरे अपने पिता लड़ाई से लौटे हैं। क्या मालूम वे उसके पिता न होकर अचानक मेरे पिता ही निकल आयें? हो सकता है वे रास्ता भूलकर या यूं ही सड़क के उस पार नईम-जान के घर की तरफ़ निकल पड़े हों।

मैं भागकर नईमजान के घर पहुंचा। उसके पिता को देखकर मेरी आशा पर पानी फिर गया। उनकी मूंछें नहीं थीं। मतलब साफ़ था कि वे मेरे पिता नहीं थे। नईमजान अपने पिता के गले में बांहें डालकर बैठा था। तभी वहां सिराज भी दौड़ा आया। आंगन के एक कोने में खड़े-खड़े हम दोनों नईमजान की ओर ईर्ष्याभरी नज़रों से देख रहे थे।

मुहिउद्दीन चाचा (नईमजान के पिता का यही नाम था) ने अपनी वर्दी उतारकर चोग़ा पहन लिया था। न जाने क्यों, उनके चोग़े की एक बांह यों ही लटक रही थी। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

"उनका एक हाथ कहां है?" मैंने धीरे-से सिराज से पूछा।

"फ़ासिस्ट खा गये हैं," उसने जवाब दिया।

"खा गये हैं – क्या मतलब? फ़ासिस्ट क्या लोगों का हाथ खाया करते हैं?" मुझे विश्वास नहीं हो रहा था।

"फ़ासिस्ट राक्षस हैं – इनसान को खानेवाले। इसीलिए तो उन्हें फ़ासिस्ट कहते हैं," सिराज ने मुझे समझाया।

मुझे डर लगने लगा। क्या सचमुच फ़ासिस्ट नरभक्षी होते हैं? आख़िर क्यों? क्या सिराज के बापू को भी वही खा गये हैं? शायद खा ही गये हैं, वरना उनके नाम पर वह 'काली चिट्ठी' क्यों आती?

* * *

अब मेरी उम्र सात साल की हो चुकी थी। अब मैं जानता था कि युद्ध क्या होता है। हिटलर और उसके सिपाही किस बला का नाम हैं। मैं अब जानता था कि वे नरभक्षी निर्दयी व क्रूर हैं। वे शहरों को नष्ट कर देते हैं, और घरों को जला डालते हैं। अब मैं जानता था कि युद्धभूमि से केवल 'काली चिट्ठियां' ही नहीं आतीं, एक हाथवाले लोग भी आते हैं।

नईमजान के पिता के वापस लौट आने के बाद मैं मां व दादी के साथ रात-दिन अपने पिता के लौटने की प्रतीक्षा करता रहता था। पर वे नहीं आये, केवल पत्र ही आते रहे।

एक दिन शाम को जब हम आंगन में बैठे हुए थे, सिराज व उसकी मां ने हांफते हुए हमारे घर में प्रवेश किया।

"ख़ुशख़बरी... आपके लिए ख़ुशख़बरी लायी हूं," एक हाथ से

दिल को थामे हुए हनीफ़ा चाची ने चिल्लाकर कहा। वे बड़ी मुश्किल से सांस ले पा रही थीं।

"क्या ख़ुशख़बरी है? जल्दी बताओ, क्या ख़बर है?" मां उठ खड़ी हुईं।

"आ गये हैं। वे आ गये हैं!" हनीफ़ा चाची ने चिल्लाते हुए केवल इतना ही कहा।

"क्या, सचमुच?" दादी ने उठने की कोशिश की पर जैसे उनकी सारी शक्ति चुक गयी थी, पैरों ने काम करने से इनकार कर दिया था। मां तो घबरा ही उठी, उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह अपने हाथ के प्याले को रखे तो कहां रखे। मैं उछलकर खड़ा हो गया और आंखें फाड़कर हनीफ़ा चाची व सिराज की ओर देखने लगा। "अच्छा, तो 'काली चिट्ठी', ने ठीक ख़बर नहीं दी थी। बाबा रहमत सच बोल रहे थे। ख़बर ग़लत ही निकली," मैंने मन-ही-मन कहा।

"बधाई आपको। मूमिनाक में देखा है लोगों ने उनको," हनीफ़ा चाची ने उत्तेजित स्वर में ख़बर दी।

दादी को अन्ततः होश आ गया। यह जानकर कि कितनी ख़ुशी की ख़बर उन्हें दी गयी है, वे मिट्टी के चबूतरे पर से कूद पड़ीं और सिर का रूमाल उतारकर आंगन से बाहर की ओर दौड़ चलीं। वे इतनी तेज़ी से दौड़ रही थीं कि हम उनके साथ क़दम नहीं मिला पा रहे थे।

स्कूल के पास हमें ग्रेटकोट पहने एक आदमी अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया। वह बैसाखी का सहारा लिए चल रहा था। ग्रेटकोट के नीचे से उसकी केवल एक टांग ही दिखाई दे रही थी। उसकी वह टांग चर्र-मर्र कर रही थी। ध्यान से देखने पर पता चला कि वह लकड़ी की टांग है। चर्र-मर्र की ध्वनि उसी लकड़ी से आ रही थी। क्या चक्कर

है यह? मेरा सारा शरीर कांप उठा। इसकी टांगें कहां हैं? कहीं फ़ासिस्ट ही तो नहीं खा गये हैं? च... च... हैं भी तो वे नरभक्षी।

उस आदमी की छाती में पदक व मैडल जगमगा रहे थे। सुन्दर सुनहरे 'सितारे' की चमक आंखों को चौंधिया देनेवाली थी।

दादी ने शोक व आश्चर्य में भरकर हाथ पर हाथ मारा, और फिर ग्रेटकोट पहने उस व्यक्ति को अपने दृढ़ आलिंगनपाश में बांध लिया। मां उस व्यक्ति के कन्धे से अपना चेहरा सटाये हुए थी।

मैडल व पदकों से अपनी आंखें हटाकर जब मैंने अन्ततः उस व्यक्ति के चेहरे की ओर देखा तो मुझे बड़ी-बड़ी काली मूंछें नज़र आयीं। मेरे पिता की मूंछें! मेरे पैरों के नीचे की धरती कांप उठी, आस-पास का सब कुछ चकराने लगा। ग्रेटकोट पहने वह व्यक्ति और कोई नहीं–मेरे पिता थे, मेरे अपने बापू!

"बापू! बप्पा!" चिल्लाते हुए मैं उनकी गरदन से लिपट गया।

* * *

एक सप्ताह तक हमारे घर में त्योहार मनाया जाता रहा। पिता मुझे अपने कन्धे पर बिठा लेते थे, और मैं उनकी मूंछों पर हाथ फेरता रहता था। मुझे ऐसा लगता कि मेरे पूरे जीवन का यह सबसे अच्छा सप्ताह था।

एक दिन मैंने सुना, मां दादी से कह रही थीं:

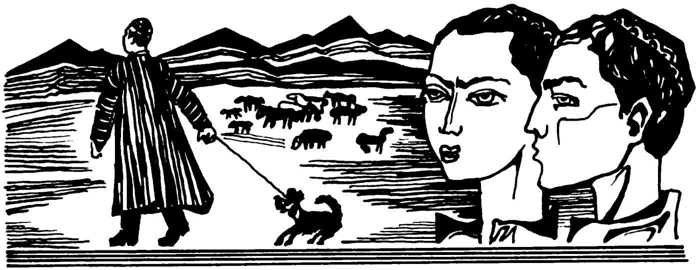
"वे बुरी तरह घायल हुए हैं, पूरा शरीर घावों से भरा पड़ा है... बड़े मज़बूत आदमी हैं वे..."

"किसी ने सच ही कहा है–आदमी चट्टान से ज़्यादा मज़बूत और फूल से भी अधिक कोमल होता है..."

तो हफ़्ते भर तक घर में त्योहार मनाया जाता रहा। पर सप्ताह बीतते न बीतते वह त्योहार मातम में बदल गया।

मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं आया। मेरी रुलाई मुंह में ही दबी रह गयी। केवल एक चीख़ भर उभरी : "मेरे बापू ! ... मेरे अब्बू !"

बहुत बाद में, बड़ा होकर मैंने जाना कि सिराज के पिता की ही तरह मेरे पिता भी फ़ासिस्टों को नष्ट करते हुए युद्धभूमि में ही वीर-गति को प्राप्त हो सकते थे। पर यह मेरा सौभाग्य ही था कि वे सिर से पैर तक घायल होने के बावजूद लम्बे रास्ते की सारी कठिनाइयों पर विजय पाते हुए – आग व धुएं को पार करते हुए, दर्द, पीड़ा व तकलीफ़ बरदाश्त करते हुए – घर आ सके। मेरे भाग्य में, यानी उनके बेटे के भाग्य में बदा था कि अपने पिता के चेहरे-मोहरे , उनकी विचारपूर्ण दृष्टि, उनकी सुन्दर मुसकराहट और आवाज़ को हमेशा के लिए अपने मानस-पटल में संजोकर रख़ सके।



बहराम फ़िरोज़

लेखक का जन्म सन् १९३९ में समरक़न्द प्रान्त के नूराता ज़िले में एक शिक्षक के परिवार में हुआ था। सन् १९६२ में उन्होंने लेनिनाबाद के एस० एम० कीरोव राजकीय अध्यापक संस्थान के भाषाशास्त्र संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। बहराम फ़िरोज़ पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य करते रहे हैं। वह एक कुशल कवि व गद्यकार हैं। पिछले कुछ समय से गद्य रचना में अत्यन्त सक्रिय हैं। उनकी कहानियां तथा लघु-उपन्यास मुख्यत: आधुनिक युवाओं के जीवन तथा नैतिक समस्याओं को समर्पित हैं।

कड़वा सच

मैं लोगों को अपने बचपन के बारे में काफ़ी कुछ बता चुका हूं। बस, इसी घटना के बारे में मौन रहा। कितनी ही बार शब्द ज़बान पर आते-आते रह गये। इस घटना के कारण मेरी रातों की नींद हराम

हो गयी। मैं समझ गया कि जब तक इसे सुना नहीं लूंगा, चैन न पा सकूंगा। पर ऐसी बात एकदम तय कर पाना इतना आसान है क्या? अगर होता तो मैं कब का सुना चुका होता। इस घटना का मेरे उस रहस्य से संबंध है जिसका अब तक किसी को पता नहीं। यदि मैं वह बात बता दूं तो मेरा रहस्य नहीं रह जायेगा। तब लोग मेरे बारे में वह बात जान जायेंगे, जिसे मैं स्वयं याद नहीं करना चाहता... पर फिर भी मैंने आज फ़ैसला कर ही लिया है कि उस बोझ से, जिसको मैं लगभग पिछले पच्चीस साल से ढोता चला आ रहा हूं, मुक्त हो जाऊं। अब असह्य हो गया है। आत्मा चीख़ रही है। कह रही है–खोल डाल अपना रहस्य। क्यों छिपाये है अब तक इसे? हां, सच चाहे कितना ही कड़वा क्यों न हो, छिपाया नहीं जा सकता। उसे प्रकट कर ही देना चाहिए। मैं अब इस तथ्य से स्पष्ट परिचित हो चुका हूं कि सत्य को छिपानेवाले लोग अपने आपको धोखा देते हैं।

तो लीजिये, सुनिये वह कटु कथा, जो मेरे पूरे जीवन के लिए दुर्भाग्यमय पाठ बनकर रह गयी है।

पर इससे पूर्व कि आपको अपनी कहानी सुनाऊं, मैं आपको बता देना चाहता हूं कि मेरे पिता उन दिनों आज की तरह हंसमुख और तीव्र बुद्धि के वृद्ध नहीं थे। इसलिए, जब मैं अपने पिता का ज़िक्र करूंगा तो आप अपनी कल्पना में एक ऐसे व्यक्ति को लाइये जो बांस की तरह लम्बा है, जिसकी आंखों के स्थान पर दो गहरे गड्ढे हैं, और जो हमेशा त्यौरियां चढ़ाये चुप्पा-सा बना रहता है। गांव के मेरे अपने हमउम्र दोस्त मुझसे पूछा करते थे: "तेरे पिता इतने चिड़चिड़े स्वभाव के क्यों हैं?" पर मैं जानता था कि मेरे पिता का स्वभाव चिड़चिड़ा बिलकुल नहीं है। बस, बात केवल इतनी ही है कि वे हंसी-मज़ाक़ कम करते हैं। वे इतना कम क्यों हंसते हैं, यह कहना कठिन है। संभव

है युद्ध के तुरन्त बाद के वे कठिन दिन ही इसका कारण रहे हों। शायद ऐसा ही हो, ठीक से कौन क्या कह सकता है।

अक्सर शाम को काम करके खेत से वापस लौटने के बाद वे थके बदन, भौंहें चढ़ाये फाटक के पास के एक ठूंठ के ऊपर बैठ जाते थे और एक गहरी सांस लेकर छाछ ले आने का हुक्म देते थे। जब तक मां छाछ लेकर आतीं तब तक वे हमसे दो-तीन प्रश्न पूछ लेते, और जो काम करना हो, उसका निर्देश देते। छाछ पीकर व कुदाल लेकर चुपचाप सब्ज़ियों के बाड़े की ओर चल देते। वहां वे अंधेरा होने तक काम करते रहते। अक्सर मां कहा करती थीं कि इस बाड़े की कमाई के सहारे ही हम अपने पांवों पर खड़े हैं।

मेरा तब बारहवां साल चल रहा था। कुदाल चलाना तो तब मुझे उतना अच्छा नहीं आता था, पर अन्य कामों में मैं अपने माता-पिता की ख़ूब मदद करता था – सब्ज़ियों के बाड़े की सिंचाई करता, गाय को चारा डालता और पहाड़ से लकड़ी ढोकर लाता। दो-एक बार छोटे भाई के साथ मक्का पिसवाने के लिए चक्की पर भी गया था।

मेरा छोटा भाई सलीम तीसरी कक्षा में पढ़ता था। पढ़ाई में वह अव्वल रहता था, इसी लिए उसे घमंड भी बहुत ज़्यादा हो गया था। मां-बाप जो भी लाते, उसमें से सबसे स्वादिष्ट चीज़ पर वही हाथ मारता था। रद्दी-से चित्र बनाता, पर ख़ुद ही अपनी तारीफ़ करता हुआ कहता कि मैं एक दिन चित्रकार बनूंगा। उसकी जेब में हमेशा खड़िया और कोयला पड़ा रहता था। रास्ते में पड़नेवाले सारे पत्थर उसने लीप-पोतकर ख़राब कर दिये थे। एक दिन एक गोल पत्थर पर उसने हमारे कुत्ते आलापर का ऐसा चित्र बनाया कि तब से आलापर हमेशा मुझे मौन भर्त्सना की दृष्टि से देखने लगा। सलीम इस चित्र को दिखाकर मुझे चिढ़ाने का कोई भी मौक़ा नहीं छोड़ता।

यों सलीम बुरा नहीं है, पर उस पर मेरा प्यार उमड़े, ऐसी

कोई बात नहीं है। शरीर से पीला सींक सलाई होने के कारण बुज़ुर्ग हमेशा उस पर तरस खाया करते थे। मां मुझसे छिपाकर उसे मलाई खाने को देतीं। अक्सर वह रसोईघर से किसी चालाक बिल्ले की तरह होंठ चाटते हुए निकलता। पर इसके बावजूद उसकी गरदन पर मांस की परत नहीं चढ़ पायी। उसकी गरदन इतनी पतली थी कि कभी-कभी आश्चर्य होता कि उस पर उसका सिर टिका कैसे हुआ है। सिर लम्बा था, हू-बहू लम्बा कद्दू समझ लीजिये। चाचा कहते थे कि नाक पर हलकी उंगली भी छुआ दो तो इसके प्राण निकलने लगते हैं। और सच भी यही था, ज़रा-सा हाथ का धक्का लगने से ही वह चारों खाने चित्त हो जाता था।

एक बार मैं और सलीम जलावन लाने के लिए पहाड़ पर गये। हमारे यहां से वह जगह इतनी दूर नहीं है, सिर्फ़ घंटे भर का पैदल रास्ता है। हमारा कुत्ता आलापर भी हमारे पीछे-पीछे लग गया। आलापर बहुत ही छोटा पिल्ला था। होगा यही कोई दो-तीन महीने का, या थोड़ा और बड़ा – कहना मुश्किल है। उसकी असली उम्र कोई नहीं जानता था। हमने उसे सामूहिक फ़ार्म के पास एक गड्ढे में पड़ा पाया था। उसका शरीर इतना गंदा था कि हमारी पड़ोसिन गुलसुम चाची उसको गीदड़ का बच्चा समझने लगी थी। मां भी उसे देखकर क्षुब्ध हो उठी थीं।

"किस क़ब्र से उठाकर लाया है तू इसे?" वह मुझ पर बरस पड़ीं। "यह तो सचमुच का ही गीदड़ है..."

"मैं नहीं, सलीम लाया है इसे। मैंने तो इसे सिर्फ़ गड्ढे से निकाला है..." पता नहीं बात क्या पलटा खा जाये, इसीलिए सावधानी के तौर पर मैंने यह जता देना ठीक समझा कि सलीम भी इस काम में शामिल है। अगर सज़ा मिलेगी तो दो में बंटकर कम हो जायेगी। और हो सकता है कि सलीम के शामिल होने के कारण कुछ भी सज़ा

न मिले क्योंकि शरीर से कमज़ोर और पढ़ाई में अव्वल रहने के कारण उसे अक्सर माफ़ कर दिया जाता है।

"तूने यह क्या किया, नासपीटे, अभागे!" मां, जिनका ग़ुस्सा किसी तरह ठंडा ही नहीं हो पा रहा था, बरस पड़ीं। "रात में इसे लेने के लिए गीदड़ आयेंगे, सारी मुर्ग़ियां सफ़ा कर जायेंगे।"

बेचारा ग़रीब जानवर कंपकंपा रहा था और घबराई दृष्टि से हम सबको देखे जा रहा था।

सौभाग्य से हमारे दादा जी का आगमन हो गया। उन्होंने हमारी खोज को आंखें सिकोड़कर ध्यान से देखा और साधिकार घोषित किया:

"पिल्ला ही है, कुत्ते का पिल्ला।"

"हुर्रा! पिल्ला!" एक ही साथ हम दोनों ने अपना हर्षोल्लास प्रकट किया।

तत्पश्चात हममें इस बात पर एक छोटा-सा झगड़ा खड़ा हो गया कि इस कुत्ते का स्वामी कौन होगा। उसे दो भागों में विभाजित करना तो असंभव था, अतएव हमने तय किया कि कुत्ता हम दोनों का साझी होगा। जब किसी बात पर सहमत होने के अलावा और कोई चारा नहीं होता तो हममें जल्दी ही समझौता हो जाया करता था।

पिल्ले को नहला-धुलाकर साफ़-सुथरा करने के बाद पता चला कि उसका रंग चितकबरा है तो हमने उसका नाम "आलापर" यानी "चितकबरा" रख दिया।

बेचारा कब से भूखा था, और हम उसे खाना खिलाने के बजाय यह अनुमान लगाने में व्यस्त थे कि यह किस नसल का कुत्ता हो सकता है... जैसे ही हमें उसके भूखा होने का ध्यान आया, हम उसे खाने के लिए रोटी और दूध ले आये, उसके रहने के लिए अन्दर से पुआल बिछाकर एक कुत्ता-घर बना दिया।

उस दिन से हम जहां कहीं भी जाते, आलापर हमेशा पूंछ की

तरह हमारे साथ लगा रहता। जब हम पहाड़ पर जाते तो वह हाथ-पांवों की सहायता से चट्टान की सीधी खड़ी चढ़ाई चढ़कर हमारे पीछे-पीछे आ जाता। हम थोड़ा दम लेने के लिए रुकते तो चुपचाप आकर हमारी बग़ल में बैठ जाता और जैसे ही हम दौड़ना शुरू करते, वह भी हमारे पीछे-पीछे दौड़ना शुरू कर देता। संक्षेप में कहूं तो हम अब एक दूसरे के अभिन्न मित्र हो चुके थे।

एक माह के भीतर आलापर अपने और पराये व्यक्तियों में अन्तर करना सीख गया। किसी भी अपरिचित व्यक्ति को देखकर वह भौंकने लगता। घर के अहाते में किसी अपरिचित के आने पर वह भूंक-भूंककर घर को सिर पर उठा लेता और तभी चुप होता जब हम अतिथि से भेंट कर उसे आश्वस्त कर देते। कुछ समय और बीतने पर उसे हमारे और दूसरों के मवेशियों में भी फ़र्क़ करना आ गया, हर शाम घर लौटने पर हमारी गाय और तीन बकरियां अपने आप ही अपने निश्चित स्थान पर चली जाती थीं। पर यदि उनमें से कभी कोई स्थापित व्यवस्था का उल्लंघन करता या अंगूर की बेल की तरफ़ बढ़ता, आलापर अपने आपे में नहीं रहता। और अगर कहीं दुर्भाग्य से कोई परायी बकरी हमारे घर में घुस आती तो आलापर तब तक शांत नहीं होता था जब तक हम उस जानवर को घर से बाहर खदेड़ नहीं देते थे।

आम तौर पर तो वह बकरियों से घबराता था। उसके गुर्राने में उतनी धमकी नहीं होती थी जितनी प्रार्थना कि भई, तुम ख़ुद ही पराये घर से चली जाओ। एक बार जब पड़ोसी हमारे घर अपनी बकरी को छोड़कर किसी काम से कहीं चला गया तो बेचारा पिल्ला पूरी रात बेचैन रहा था। उसे लगता कि यह दुष्ट कपटी जानवर धोखे से हमारे घर में घुस आया है, और आधी रात में या सुबह सवेरे जब सब गहरी नींद में सोये पड़े होंगे, ज़रूर कोई गुल खिलायेगा। मां को तब

से वह बहुत पसन्द आने लगा। उसकी इस बात से उसके प्रति मां का व्यवहार बिलकुल ही बदल गया।

उन दिनों हमारे गांव में बिजली अभी नहीं आयी थी। रेफ़्रिजरेटर का तो तब गांव में किसी ने नाम भी नहीं सुना था। कहते थे कि पुराने ज़माने में कुछ अमीर लोगों के यहां ऐसे तहख़ाने हुआ करते थे, जिनमें जाड़ों में बर्फ़ भरकर ऊपर से मिट्टी पाट दी जाती थी। गर्मियों में थोड़ी बहुत बर्फ़ अवश्य गल जाती, पर काफ़ी कुछ बची रहती थी। उसी तहख़ाने से लोग रेफ़्रिजरेटर का काम लेते थे। लगता है मैं प्रसंग से थोड़ा भटक गया हूं। हूं, तो मैं क्या कह रहा था? हां, याद आ गया। तो तब गांवों में न बिजली थी और न रेफ़्रिजरेटर ही। मांस को सुरक्षित रखने का बक्सा भी नहीं था। अक्सर बकरी को काटने पर उसके मांस का एक भाग बेच दिया जाता, और कुछ भाग अपने लिए बचाकर रख लिया जाता। मां हर रात को नमक लगे मांस के अधसूखे टुकड़ों को किसी डंडे से बांधकर खुली हवा में रख देती थी।

एक बार नमक डालकर सुरक्षित किये मांस का एक बढ़िया टुकड़ा नीचे ज़मीन पर गिर पड़ा। आलापर उस टुकड़े की सुबह होने तक पहरेदारी करता रहा और बिल्लियों को भगाता रहा। मां के जागते ही वह उनके पास भागा चला आया, फिर उनके व मांस के टुकड़े के बीच में चक्कर लगाने लगा, पूंछ हिलाकर और क्याऊं-क्याऊं करके समझाने का प्रयास करने लगा कि मांस का टुकड़ा ज़मीन पर गिर पड़ा है। अगर आलापर न होता तो मांस का वह टुकड़ा बिल्लियों की भेंट चढ़ जाता।

वह कुत्ता आलापर तो बुद्धिमान था, पर मैं ही बेवक़ूफ़ निकला जो उसे दे आया।

एक दृष्टि से तो मैंने नेक काम किया जो उसे सामूहिक फ़ार्म के गड़रिये को सौंप दिया, पर दूसरी दृष्टि से... संक्षेप में कहूं तो यह

कहानी मुझे अभी तक परेशान कर रही है। यही कारण है कि मैंने अब और कुत्ते पालना छोड़ दिया है। अगर कोई इस बारे में बात भी करता है तो मुझे फ़ौरन आलापर की याद आ जाती है। तब तो शर्म से मेरी हालत ऐसी हो जाती है कि धरती फटे तो मैं उसमें समा जाऊं।

मैं आपसे कह ही चुका हूं कि एक बार रस्सी और कुल्हाड़ी लेकर मैं और सलीम जलावन लाने पहाड़ पर गये थे। आलापर भी हमारे साथ था। लम्बी सूखी लकड़ियों के दो गट्ठर बनाकर हम लौटने ही वाले थे कि कहीं से भालुओं जैसे दो विशालकाय कुत्ते ज़ोरों से भूंकते हुए हमारी तरफ़ झपटे। उनसे डरकर हम तुरन्त निकट ही के आर्चा के पेड़ पर चढ़ गये। केवल आलापर ही भय के मारे कूं-कूं करता हुआ पेड़ के आस-पास चक्कर काटता रहा। हम गड़रियों को चीख़-चीख़कर सहायता के लिए पुकारते रहे। अन्ततः सौभाग्य से सब कुछ ठीक-ठाक हो गया। अपने मुंह से पिल्ले को सूंघकर जब उन विशालकाय कुत्तों ने उससे ख़तरेवाली कोई बात नहीं पायी तो वे उसके साथ खेलने लग गये। पेड़ के ऊपर से हम देख रहे थे कि बेचारे पिल्ले का डर के मारे बुरा हाल था। उन कुत्तों के साथ खेलने का उसका मूड ही नहीं था। वह कुत्तों से दूर भागने का प्रयत्न करता, पर वे दो ही छलांगों में पुनः पास पहुंचकर उसका रास्ता छेंक देते थे।

जब एक गड़रिये ने पास पहुंचकर कुत्तों को भगा दिया, तभी हम पेड़ से उतर पाये।

"शायद किसी ने दिल से तुम लोगों के लिए दुआ मांगी है। यह तुम्हारा भाग्य ही था कि पास ही आर्चा का पेड़ निकल आया," युवा गड़रिये ने कहा। उसने अपने हाथ में लम्बा डंडा संभाल रखा था। जबकि उसका दूसरा हाथ युद्ध के मैदान में चला गया था। "ये तुम्हें काटते तो नहीं, पर डराकर तुम्हारी जान ज़रूर निकाल देते।"

"काटने में और क्या कसर रह गयी थी?" अपने अधसूखे आंसुओं को पोंछते हुए सलीम ने नाराज़गी के लहजे में कहा।

"लड़कों को ये कुत्ते काटते नहीं। भेड़िया तक बच्चों को नहीं छूता। हां, अगर तुम खुद ही उन्हें छेड़ते या भेड़ों के पीछे भागते तो और बात होती।" इतने में ही गड़रिये की नज़र हमारे पिल्ले पर पड़ गयी। उसने आलापर को पुचकारते हुए हाथ के संकेत से पास बुलाया।

आलापर को दाल में कुछ काला नज़र आया। वह उससे दूर भाग गया।

"पिल्ले को बुलाओ। मैं देखना चाहता हूं," गड़रिये ने मुझसे कहा। "लगता है असली नसल का कुत्ता है।"

मैंने आलापर को पकड़ लिया। पर वह मेरी बांहों में भी दांत दिखाने और बुरी तरह गुर्राने लगा। इस सबसे अप्रभावित एक हाथवाले गड़रिये ने पिल्ले को खाल से पकड़कर ऊपर उठाया। पर आलापर चालाकी से उसके हाथ से फिसलकर निकल गया और ज़ोर-ज़ोर से भूंकते हुए सुरक्षा की उम्मीद में थोड़ी दूर पर खड़े सलीम के पास दौड़कर चला गया।

"हमें दे दो यह पिल्ला," गड़रिये ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"क्यों? हमारे पास भी मज़े में है वह।"

"पिल्ला बरबाद हो रहा है। कुत्ते को शिकारी कुत्तों के सान्निध्य में रहना चाहिए। लोगों के बीच रहने से वह बिगड़ जायेगा ... यह लो," सहसा उसने मेरी ओर पैसे बढ़ाये। कब उसने अपनी जेब से पैसे निकालकर हाथ में ले लिये, मैं देख ही नहीं पाया।

"नहीं, नहीं, ज़रूरत नहीं है," मैं हड़बड़ाहट में तुतलाने लगा। इतने सारे पैसे देखकर मेरी आंखों के आगे अंधेरा छा गया। बेहोश-सा

होकर मैं सलीम की ओर देखने लगा। इस अप्रत्याशित घटना से भौचक सा वह मुंह बाये खड़ा था।

"ले ले... तू अपने लिए दूसरा पिल्ला ढूंढ़ लेना। गांवों में कुत्तों की कोई कमी है? पर इस पिल्ले को हमें दे दो। सामूहिक फ़ार्म के रेवड़ की चौकसी करेगा। दे दो, तुम तो पायोनियर हो..."

"मैं आपके लिए दूसरा पिल्ला ला दूंगा..."

पर मेरे शब्दों में विश्वास की गूंज नहीं थी। मेरी दृष्टि नये कड़कड़ करते बड़े नोट से हट ही नहीं पा रही थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं गड़रिये का इरादा बदल गया तो वह नोट वापस अपनी जेब में रख लेगा।

"...और ये पैसे अपने भाई के लिए ले ले," जेब से और पैसे निकालकर उसने मेरी जेब में ठूंस दिये। अब मैं प्रतिरोध करने का प्रयास तक नहीं कर पा रहा था। "जब तक मैं रस्सी से बांध न लूं तब तक उसे पकड़े रहना," गड़रिये ने मुझसे आदेशात्मक स्वर में कहा, पर अब वह लहजा मुझे अपमानजनक नहीं लग रहा था।

उस एक हाथवाले गड़रिये ने पिल्ले को आगे बढ़ने से रोक दिया और हमारी ओर कोई ध्यान दिये बिना उसे पकड़कर खींच लिया। आलापर ने बचने की बहुत कोशिश की, क्याऊं-क्याऊं कर हमसे सहायता की प्रार्थना की। पर मैं जैसे बुत बना खड़ा था। इस क्षण मेरी इच्छा हो रही थी कि मैं बहरा हो जाऊं ताकि पिल्ले का विलाप न सुन सकूं। पिल्ले को अभी भी उम्मीद थी कि हम उसे वापस बुला लेंगे। उसे अभी तक हमारी ग़द्दारी का पता नहीं चला था। वह हमें अभी भी सहायता के लिए पुकारे चला जा रहा था। लगता था जैसे उसकी यह पुकार कभी ख़त्म नहीं होगी... कई साल बीत चुके हैं, पर वह हृदय-विदारक आवाज़ अभी भी मेरे कानों में गूंज रही है।

पर यह सच है कि उन दिनों मैं पिल्ले को जल्दी ही भूल गया

था। तब मुझ पर पैसों का नशा चढ़ गया था। सौदा मुझे बुरा नहीं लगा था। यह सच है कि उन पैसों से आज के पैसों का कोई मुक़ाबला नहीं, पर तब तक हम दोनों में से किसी ने भी इतने ढेर सारे पैसे अपने हाथ में नहीं देखे थे।

मैंने व सलीम ने जल्दी से पैसों का बंटवारा कर लिया। तभी हमने तय भी कर लिया कि उन पैसों से हम क्या-क्या ख़रीदेंगे। मैं मछली पकड़ने का कांटा और जाल ख़रीदना चाहता था, सलीम की इच्छा रंगीन पेन्सिल ख़रीदने की थी। घर लौटते समय रास्ते भर हम इसी ख़रीदारी के बारे में ही बातें करते रहे।

पर घर के पास पहुंचने पर हम कुछ ठंडे पड़ गये। धीरे-धीरे हमारी धुंधली पड़ रही ख़ुशी की जगह एक गहरी उदासी ने ले ली। पर इस संबंध में बातें करने की हम दोनों में से किसी की भी हिम्मत नहीं हो रही थी।

"पापा को पता चला कि तुमने आलापर को बेच दिया है तो बरस पड़ेंगे," आख़िर सलीम अपने को कहने से नहीं रोक सका।

"क्यों बरसेंगे? हमने तो उसे सामूहिक फ़ार्म के रेवड़ के लिए दिया है। गड़रिया कह रहा था कि तुम लोग पायोनियर हो, तुम्हें तो यह बात समझनी चाहिए... ज़रा सोचो तो, हमारा आलापर कभी भेड़ियों से भेड़ों की रक्षा करेगा। हर जगह लोग एक ही बात करेंगे। 'कहां से लाये यह कुत्ता? किसका कुत्ता है?' लोग पूछेंगे और तभी हमारा ज़िक्र छिड़ जायेगा। फिर सामूहिक फ़ार्म के अध्यक्ष हमारे स्कूल में आयेंगे और सब के सामने हमें इनाम देंगे..." इन शब्दों से मैं ख़ुद को आश्वस्त करने का प्रयास कर रहा था।

"क्या तुमने गड़रिये से कहा था कि कुत्ता अकेला तुम्हारा नहीं है?"

"कहने की क्या ज़रूरत थी। उसे वैसे ही इस बात का पता था। उसने पैसे भी दोनों के लिए दिये थे।"

"पर उसने पैसे तुम्हारी ही जेब में क्यों ठूंसे?" सलीम अपनी बात पर अड़ा रहा।

"बस, यों ही। मैं नज़दीक खड़ा था, इसलिए। उसने साफ़ कहा था: 'और ये पैसे तेरे भाई के लिए हैं'।"

सलीम हर तरह से यह साबित करने का प्रयत्न कर रहा था कि इस सौदेबाज़ी में मेरी व उसकी पृथक-पृथक भूमिका रही है। उसकी प्रत्येक बात से यही लग रहा था कि जैसे इस सौदे से उसका दूर का भी संबंध नहीं है। वह किसी भी समय मां-बाप के सामने सारी पोल-पट्टी खोल सकता था। फिर भी हमने इस संबंध में चुप रहने की बात तय कर ली। अगर किसी ने पूछा कि आलापर कहां है तो कह देंगे कि उसे गड़रिया उठाकर ले गया, पर पैसों के बारे में एक शब्द भी मुंह से नहीं निकालेंगे।

घर में आलापर की अनुपस्थिति पर केवल दूसरे दिन ही ध्यान गया। सबसे पहले दादी ने चीख़-पुकार मचायी। तत्पश्चात् मां ने पूछताछ शुरू की। हमने जैसा तय किया था वैसा ही जवाब दिया। मां कुछ बड़बड़ाकर रह गयी, और पिता तो बिलकुल ही तटस्थ रहे। यह घटना उनके लिए इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थी कि वह इस तरफ़ ध्यान देते।

हमारा भय दूर हो गया। इन बुज़ुर्गों को समझना बड़ा मुश्किल है। कभी तो ये ज़रा-सी बात पर सांस नहीं लेने देते और कभी इतनी बड़ी ग़लती होने पर भी कुछ नहीं कहते। शायद हम इसलिए सस्ते छूट गये थे कि हमारी पीठ के पीछे सामूहिक फ़ार्म का अध्यक्ष था। आख़िर पिल्ले को सामूहिक फ़ार्म के कामों के लिए ही तो लिया गया था और उस ज़माने में सामूहिक फ़ार्म के मामलों में कोई टांग नहीं अड़ाता था, उसके अध्यक्ष का तो कहना ही क्या।

दिन गुज़रते गये। आलापर की किसी को याद नहीं रही। यदि

सलीम ने हमारे बीच हुए समझौते को भंग न किया होता तो कोई भी नहीं जान पाता कि वहां पहाड़ों में आर्चा के वृक्ष के नीचे वस्तुतः क्या घटना घटी थी।

उस दिन मुझे आधा बोरा ज्वार चक्की में पिसवाकर लाने का काम सौंपा गया था। सलीम को घास लाने के लिए जाना था। हमें उपरोक्त निर्देश देकर पिता अपने काम पर चले गये थे। मां ने मुझे गधे की पीठ पर बोरा लादने में सहायता दी। मैं बोरे के ऊपर बैठकर चक्की के लिए रवाना हो गया। पर सलीम मेरे पीछे लग गया और मुझ पर ज़ोर डालने लगा कि मैं उसे अपने साथ चक्की पर ले चलूं।

"यहीं रह!" मैंने लापरवाही से हाथ हिलाकर उसे दूर कर दिया।

माता-पिता ने उससे घर पर रहने के लिए कहा था, तो मैं क्या करता। आख़िर मैं उसे अपनी मनमानी तो नहीं करने दे सकता था ना! पर सलीम ने गधे की पूंछ पकड़ ली। "छोड़ दे उसे," मैं उससे कहता रहा, पर उसने तो न सुनने की ठान ली थी। मेरे हाथ में डंडी थी। डंडी से मैंने उसे छुआ ही था कि वह चीख़ पड़ा। परिणामस्वरूप ज़मीन से एक पत्थर उठाकर उसने मेरे सिर पर मार दिया। ख़ून के परनाले बह चले। मेरा सारा चेहरा ख़ून से सराबोर हो गया। मुझे तुरन्त घर के अन्दर ले जाकर बिस्तर पर लिटा दिया गया। घाव पर चिपकाने के लिए पुराने नमदे के टुकड़े को जलाया गया। सलीम कहीं भाग गया था। शाम ढलने तक उसकी शक्ल भी घर में नहीं दिखाई दी।

काम पर से लौटकर आने के बाद पिता ने सारा क़िस्सा सुना और भाई को बुलाने के लिए चल पड़े।

"सलीम!.. ए, सलीम!.. सलीम!" मवेशीख़ाने की छत पर चढ़कर पिता ने ज़ोर से भाई को आवाज़ दी।

थोड़ी देर बाद सलीम घर आ गया। उसका सिर झुका हुआ था। आंखें ज़मीन की ओर देख रही थीं।

"अब तुझे मज़ा चखने को मिलेगा," मैंने क्रूर प्रसन्नता से कहा।

सलीम सिर झुकाये पिता के सम्मुख खड़ा था। उसने स्वयं को स्थिति के हवाले कर दिया था। पिता चुपचाप बैठे उसके स्पष्टीकरण की प्रतीक्षा कर रहे थे।

"क्यों मारा? बता!" पिता नाराज़ होकर बोले। "बता, उसको पत्थर क्यों मारा था?"

ऐसे नाज़ुक क्षणों में हमें पिता से हमेशा डर लगता था। यद्यपि वे किसी को पीटते नहीं थे, पर उनका तना हुआ डरावना चेहरा ही हमारे सिर से शैतानी का सारा भूत उतार देता था।

"इसने... इसने आलापर को बेचा था... गड़रिये को बेचा, उससे पैसे लिये" आंसू घुटकते हुए सहसा सलीम के मुंह से निकल पड़ा।

मेरी सांस गले में ही अटक गयी। ऐसी धोखाधड़ी की मुझे उससे आशंका नहीं थी।

"क्या कहा?" पिता को अपने कानों पर विश्वास नहीं आया।

सलीम अभी बात पूरी भी नहीं कर पाया था कि पिता का एक करारा थप्पड़ उसके गाल पर पड़ा।

"बच निकलने का अच्छा बहाना ढूंढ़ा तूने!"

सलीम एक चीख़ मारकर घर से बाहर निकल भागा।

"गड़रिया... रेवड़ के लिए... सामूहिक फ़ार्म की... कह रहा था कि..." मैं हकलाते हुए अस्पष्ट-सा कुछ समझाने लगा, पर पिता ने उन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

"अरे दुष्ट! लुच्चे, कमीने ही अपने दोस्तों को बेचा करते हैं।"

पिता मेरी ओर कुछ इस तरह से देख रहे थे कि अगर धरती

फट जाती तो मैं उसमें समा जाता। कम-से-कम उनकी उस दृष्टि से स्वयं को बचा पाता! अगर वे मेरी पिटाई करते तो ज़्यादा अच्छा होता। ओह, उनकी उन आंखों में दर्द व तिरस्कार की कुछ ऐसी चमक थी कि पूरे जीवन में मैंने अब तक ऐसा और कभी अनुभव नहीं किया। आज भी उसकी याद आते ही मैं कांप उठता हूं। मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

नीचता को चाहे कितना ही अलंकृत करके क्यों न पेश किया जाये, अकाट्य युक्तियों के कैसे ही परिधान उसे क्यों न पहनाये जायें, नीचता फिर भी नीचता ही रहती है—इस तथ्य से परिचित होने के लिए मुझे इस सबकी अनुभूति होनी आवश्यक थी।



अब्दुराफ़े रबियेव

प्रस्तुत कहानी के रचयिता का जन्म सन् १९५१ में मेहनताबाद नामक गांव में हुआ था। सन् १९७५ में उन्होंने व्ला० इ० लेनिन ताजिकिस्तान राजकीय विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। सन् १९७५ से वह पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत हैं। कहानीकार अब्दुराफ़े रबियेव रेडियो संवाददाता रह चुके हैं। इसके बाद वह "ताजिकिस्तान सोवेती" (सोवियत ताजिकिस्तान) समाचार-पत्र के संवाददाता नियुक्त हुए। बतौर संवाददाता उन्होंने ताजिकिस्तान के लगभग सभी इलाकों का भ्रमण किया है।

निरन्तर भ्रमणशील रहने के कारण वे अपनी साहित्यिक कृतियों के लिए प्रायः पर्याप्त सामग्री एकत्रित करते रहते हैं। उनकी कहानियों के पात्र वास्तविक जीवन से जुड़े हुए लोग हैं। वे सोवियत ताजिकिस्तान के वर्त्तमान जीवन के निर्माता हैं।

20-730

बाढ़

(पहाड़ी दंतकथाओं की शृंखला से)

१

उन दिनों आसमान में बादल छाये हुए थे। आकाश में विचरण करती वसन्त ऋतु की चंचल मेघराशि के मध्य से सूरज यदा-कदा ही झांक पाता था। लेकिन जब कभी ऐसा होता, धरती पर प्रसन्नवदन छायाऐं दौड़ने लगतीं और वातावरण में गरमाहट समा जाती थी।

बारिश अक्सर ही होती रहती थी, कभी बूंदाबांदी तो कभी मूसलाधार बरसात। वर्षा तथा पर्वतों पर पिघलती बर्फ़ के कारण नदी का जल अपने कगारों को तोड़कर बाहर की तरफ़ बहने लगा था। राह में पड़नेवाली हर चीज़ को अपने साथ बहाती हुई गंदली, फेनिल जल-धाराएं नीचे घाटी की ओर बढ़ चलीं। जलप्रवाह के तीव्र वेग ने पुल को तोड़ डाला। तीन ओर से अगम्य पर्वतमालाओं व चौथी ओर से गरजती नदी से घिरे ग़रीबक गांव का सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

एक युवा शिक्षक हर शनिवार को पुल से होकर नदी पार करता और पगडंडी के रास्ते से शहर की ओर चल पड़ता। सोमवार को बड़े सवेरे वह वापस लौट आता। वह हमेशा किसी जल्दी में होता। ऐसा लगता जैसे उसे कहीं पहुंचने में देर होने का भय हो। किसी को नहीं मालूम था कि वह कहां जाता है। किसी ने उसे सुबह के समय चक्की के पास से गुज़रते और जल्दी-जल्दी पुल पार करते हुए नहीं देखा था। केवल चक्कीवाले की बेटी की निगाहें चोरी-छिपे उसका पीछा करती रहती थीं।

पुल टूटने के बाद अब शिक्षक चमड़े की मशक में हवा भरकर उसकी सहायता से नदी पार कर दूसरे किनारे पर पहुंचता। कभी-कभी घोड़े की सहायता भी लेता।

पर एक दिन चक्कीवाले की बेटी अपनी परिचित आकृति को नहीं देख पायी। सूर्य अस्त हो रहा था, पर शिक्षक अभी भी कहीं नज़र नहीं आ रहा था। "कहीं उसे कुछ हो तो नहीं गया? क्यों नहीं आया वह?" लड़की परेशान हो उठी। अनचीन्ही चिन्ता की अनुभूति से उद्‌भ्रान्त-सी वह नदी तट की ओर चल पड़ी।

नदी के मुख्य पाट से दोनों किनारों की तरफ़ भागते हुए नाले सूर्य के प्रकाश से चमक रहे थे। नीचे पहुंचकर वे पहाड़ियों के पीछे अदृश्य हो गये। अस्थिर धुंध में वे बड़ी मुश्किल से दिखाई पड़ रहे थे। विशाल पर्वतमालाओं की पृष्ठभूमि में ग़रीबक एक छोटे-से रत्न की तरह लग रहा था।

नदी के दूसरे तट पर कोई नहीं था। काफ़ी देर तक ध्यानपूर्वक देखने के बाद अन्ततः लड़की को नदी की दिशा में बढ़ती काली आकृति दिखाई दे ही गयी। यह आकृति शिक्षक की ही थी।

तट पर पहुंचकर शिक्षक ने अपने सामान को पीठ पर बांधा, मशक को कसकर छाती से दबाया और पानी में कूद पड़ा।

जल के तेज़ बहाव ने उसे अपने आग़ोश में समेट लिया। लहरों ने उसका सिर ढक लिया। चन्द लमहों के बाद उसका सिर उफनती लहरों के मध्य से बाहर निकला, पर शीघ्र ही पुनः अदृश्य हो गया।

"ए ख़ुदा, उसकी मदद कर!"

चक्कीवाले की बेटी को नहीं मालूम था कि कोई इस शिक्षक की सहायता के लिए आ भी पायेगा या नहीं। वह एकटक लहरों की तरफ़ देखती रही। अन्ततः वह उसे नदी के बीचों-बीच स्थित एक छोटे-से टापू में विश्राम करता हुआ नज़र आ ही गया। वह अब स्वयं को नदी

के सबसे कठिन भाग को पार करने के लिए तैयार कर रहा था।

लड़की को कुछ चैन आया। "कौन है वह मेरा? मैं क्यों उसके लिए इतना चिन्तित हो रही हूं?" वह सोच रही थी। "अगर अचानक पिता ने देख लिया तो?" वह डर गयी और पीछे मुड़कर चोरी-छिपे देखने लगी। पर चक्की के पास कोई नहीं था। लड़की ने घर जाने के लिए अपने क़दम पीछे लौटा लिये, पर कोई शक्ति उसे पीछे मुड़कर देखने को विवश करती रही।

एक विशाल लहर ने शिक्षक को ऊपर फेंक दिया। उसके हाथ से मशक छूट निकली। "अगर लहर ने उसे ढक लिया तो वह बाहर नहीं निकल सकेगा।" लड़की पुनः तट की ओर वापस दौड़ चली। "काश, वह इस अभिशप्त मशक को पकड़ पाता, काश!"

शिक्षक ने निराशा में भरकर एक-साथ हाथ-पांव मारे। मशक को पुनः हासिल करने में उसे सफलता मिल गयी। लड़की का हृदय जाल में फंसी चिड़िया की तरह धड़क उठा।

नदी की वेगवती धारा को पराजित कर शिक्षक तट पर आ पहुंचा। चक्कीवाले की बेटी उसकी ओर दौड़ चली। उसे लगा कि वह कहीं बेहोश न हो जाये। शायद पिता को सहायता के लिए पुकारकर उसे घर ले चलना होगा।

शिक्षक ने उसका मुसकराकर स्वागत किया। उसे सम्भवतः स्वयं मालूम नहीं था कि उसकी इस मुसकराहट का कारण क्या है। लड़की अकुला उठी।

"आपको आने में देर क्यों हो गयी?" सहसा उसने शिक्षक को झिड़कते हुए पूछा। उसका यह स्वर, यह प्रश्न उसके स्वयं के लिए ही अप्रत्याशित था।

"तुम क्या मेरा इन्तज़ार कर रही थीं?" शिक्षक के होंठों पर फिर मुसकराहट दौड़ गयी।

लड़की की भौंहें सिकुड़ गयीं। वह मुड़ी और तीव्रता से घर की ओर चल पड़ी। उसी दिन से उसके सपनों में वह युवक बस गया।

२

सोमवार की सुबह चक्कीवाले की बेटी नदी तट पर आ पहुंची। पर्वत से आती हवा उसके चेहरे और बालों को थपथपा रही थी। उसने अपने रबड़ के जूते उतारकर पांव पानी में डाल दिये। उसे लगा जैसे उसके पांवों में हज़ारों सूइयां चुभ गयी हों। "ऐसे बर्फ़ीले पानी में वह कैसे तैरते होंगे?"

"मेरा इन्तज़ार कर रही हो?" उसे अपने पीछे से परिचित स्वर सुनाई दिया।

इस अप्रत्याशित स्वर से लड़की चौंककर कुछ ऐसी तीव्रता से मुड़ी कि शिक्षक से टकराते-टकराते बची।

"क्या मुझे और कोई काम नहीं है?" भौंहें चढ़ाते हुए उसने अकड़कर अपने सिर को झटका दिया और मुड़कर पीछे देखे बिना चक्की की ओर चल पड़ी। पर जैसे ही वह बेद की झाड़ियों में पहुंची और उसे विश्वास हो गया कि अब उस पर किसी की नज़र नहीं पड़ रही है, वह पीछे मुड़कर चिन्तित दृष्टि से नदी की ओर देखने लगी।

शिक्षक अब तक नदी के दूसरी ओर पहुंच चुका था। वह आश्वस्त हो गयी और धीरे-धीरे अपने क़दम घर की ओर बढ़ाने लगी।

दिन के इस प्रथम प्रहर में शोख़ लाल रंग का परिधान पहने वह लड़की वसन्त ऋतु के प्रथम लालापुष्प-सी लग रही थी।

३

पूरे सप्ताह तक वह अधीरता के साथ चोरी-छिपे होनेवाली इस मुलाक़ात का इंतज़ार करती रही और शनिवार को अपने सामान्य समय पर नदी तट पर जा पहुंची। तट पर कोई था। वह अनिश्चित

क़दमों से आगे बढ़ी। उसकी पद्‌चाप सुनकर वह व्यक्ति पीछे मुड़कर देखने लगा। वह शिक्षक ही था। लड़की का हृदय एक आकुल प्रसन्नता से धड़कने लगा। उसका मन स्नेह से लबालब हो उठा।

लड़की ने ग़ौर किया कि शिक्षक का चेहरा मलिन हो रहा था।

"क्या बात हुई?"

शिक्षक ने कोई उत्तर नहीं दिया, पर लड़की ने उसकी ओर कुछ ऐसी स्वाभाविक चिन्ता प्रकट करते हुए देखा कि वह खामोश न रह सका।

"भंवर में फंस गया था। डूबते-डूबते बचा। जैसा कि देख ही रही हो सही-सलामत हूं।"

"आपको यह ख़तरा मोल लेने के लिए कौन कहता है?" वह अनायास ही क्रोधित हो उठी।

"कोई नहीं।"

"तो फिर आप यह शौक़ के लिए करते हैं, क्यों?"

शिक्षक गंभीर दृष्टि से दूर कहीं ऐसे देख रहा था, जैसे किसी ऐसी चीज़ को देख रहा हो जिसे उसके सिवा कोई न देख सकता हो।

"नहीं, शौक़ की बात नहीं है। मैं अपने पिता को देखने जाता हूं," उसने शांत स्वर में उत्तर दिया।

"क्या वे महीने भर धैर्य नहीं रख सकते? एक महीने में पानी उतार पर आ जायेगा और पुल भी बन जायेगा।"

शिक्षक ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"वे क्या आपकी चिंता नहीं करते? आप कभी डूब भी सकते हैं। देखिये तो सही, अथाह पानी है।" वह शिक्षक की ओर अनुरोधभरी निगाहों से देख रही थी, पर उसकी वाणी में क्रोध का पुट था। थोड़ी देर बाद शिक्षक की ओर से निगाहें हटाकर वह नदी की तरफ़ देखने लगी। नदी ज़ोरों से गरज रही थी, जैसे उसे अपने बर्फ़ीले आलिंगनपाश से शिक्षक के जीवित बच निकलने का खास गम हो।

"चिन्ता ज़रूर करते हैं। वे हर बार मुझे समझाया करते हैं कि जब तक नदी शान्त नहीं हो जाती, मैं उनसे मिलने न आया करूं! पर मैं ख़ुद ही बैठा नहीं रह सकता। उन्हें अकेला नहीं छोड़ना चाहिए।"

"क्या और कोई उनकी देखभाल करनेवाला नहीं है? वे क्या बीमार हैं?"

"पड़ोसी उनकी जो मदद हो सकती है, करते हैं... अपंग हैं वे। उनके दोनों पांव कटे हुए हैं। काश, तुम देख पातीं कि घर पहुंचने पर वे एक छोटे बच्चे की तरह कितना ख़ुश हो जाते हैं... एक बात और भी है, कुछ समय पहले मेरी मां चल बसीं..."

शिक्षक ने एक उदास मुसकराहट के साथ कहा और चुप हो गया।

लड़की का क्रोध स्नेह भरी गुनगुनाहट में बदल गया।

"तुम घर के पास कहीं कोई काम नहीं ढूंढ़ सकते क्या?" उसने थोड़ा सकुचाते हुए पूछा।

"ढूंढ़ सकता हूं। काम की कहीं कोई कमी नहीं। पर बात यह नहीं है। युद्ध शुरू होने से पहले मेरे पिता ग़रीबक के प्रथम शिक्षक रहे थे। पर युद्ध के-बाद अपने इस पद पर वापस नहीं आ सके। इंस्टीट्यूट की पढ़ाई ख़तम करने के बाद मैंने ख़ुद प्रार्थना की थी कि मुझे इस स्कूल में भेज दिया जाये।"

चक्कीवाले की लड़की उसे गम्भीर निगाहों से देखती रही।

"माफ़ कीजियेगा, मेरे जाने का समय हो गया है। पिताजी शायद चिंतित होंगे।"

"ठीक है, जाओ।"

"पर आप थोड़ा ठहरिये... एक मिनट के लिए।" लड़की चक्की की ओर भागी और शीघ्र ही एक गठरी लेकर वापस लौट आयी।

"ये हमारे बाग़ के अनार हैं। पिता जी के लिए ले जाइये..."

४

अब वह फिर सोमवार की प्रतीक्षा कर रही थी। नदी का गर्जन-तर्जन अभी तक जारी था। सुबह उसने शिक्षक को देखा, वह मशक में हवा भरकर पानी के पास पहुंचा, पर काफ़ी देर तक यूं ही खड़ा रहा, जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रहा हो।

लड़की दबे पांव से उसके पास पहुंची।

"डर लग रहा है क्या?"

शिक्षक ने पीछे मुड़कर देखा।

लड़की के चमकीले कपड़े हवा में पाल की तरह तन गये थे।

"डरने की क्या बात है?" शिक्षक ने हंसते हुए पूछा।

"डर तो ज़रूर लग रहा होगा?" लड़की ने उसे चिढ़ाते हुए कहा।

"अगर ऐसी सुन्दर आंखों का सहारा मिले तो कोई भी नदी डरा नहीं सकती।"

इस बार वह नाराज़ नहीं हुई। शर्म से उसके गाल लाल हो गये और उसने आंखें झुका लीं। जब उसने आंखें ऊपर उठायीं तो शिक्षक नदी के दूसरे छोर पर पहुंच चुका था। वह भागकर टीले पर पहुंच गयी और जब तक वह नज़रों से एकदम ओझल नहीं हो गया, उसी की तरफ़ देखती रही।

५

बूढ़े चक्कीवाले ने निकास नाली के ढीले तख़्ते को मज़बूती से कसा और घर के सामने चबूतरे पर बैठकर नदी की ओर देखने लगा। उसकी बेटी जल्दी-जल्दी घर की ओर क़दम बढ़ा रही थी। रह-रहकर वह पीछे मुड़कर देखने लगती। उसके क़दम ढीले पड़ जाते, जिन्हें वह पुनः तेज़ कर लेती थी।

वह एक अरसे से देख रहा था कि उसकी बेटी नदी की ओर अक्सर जाने लगी थी।

'अकेले उसका मन उचाट हो जाता होगा,' चक्कीवाले ने सोचा।

लड़की के निकट आने पर बूढ़े ने आंखें सिकोड़ते हुए प्रश्न किया: "नदी के किनारे तुमने कुछ खो दिया था क्या?"

लड़की ने कोई उत्तर नहीं दिया और घर के अन्दर चली गयी।

अपने बेटों के चले जाने के बाद चक्कीवाला अपनी बेटी को बहुत प्यार करने लगा था। उसके बेटे शहर में पढ़ते थे। उनकी सफलता देखकर उसे ख़ुशी होती थी, पर साथ ही वह उदास भी हो जाता था: "बच्चे तो पक्षियों की तरह होते हैं, पंखों में थोड़ी ताक़त महसूस हुई कि फ़ौरन उड़ चले," वह अक्सर कहा करता था। "मां-बाप को उनकी आकर्षक उड़ान को देखकर ही ख़ुशी होती है।"

उस पर लोग चक्की के काम को छोड़कर कोई और हलका काम स्वीकार कर लेने के लिए अक्सर दबाव डालते रहते थे। बूढ़ा हंसकर उनकी बात टाल देता था: "मेरे हाथ अभी मज़बूत हैं। पूरी ज़िन्दगी मैं इस चक्की की ही कमाई खाता रहा। आपकी रोटी का आटा भी इसी चक्की पर पिसता रहा। यही चक्की मुझे आज भी खिला रही है। लोगों को चक्की की ज़रूरत है और मेरी भी।"

सिर्फ़ उसकी बेटी ही उसे समझ पाती थी। उसने अपने पिता को कभी दूसरा व्यवसाय चुनने की सलाह नहीं दी। इसीलिए चक्कीवाला अपनी बेटी को ज़्यादा प्यार करता था। जब कभी कोई बूढ़ा अपने बेटों के बारे में डींग मारने लगता कि लड़के बुढ़ापे का सहारा होते हैं, तो चक्कीवाला आवेश में भरकर शान से कसम खाते हुए कहता: "अगर कभी मैं अपनी बेटी को बेटों से कम मानूं तो मेरी आंखें अन्धी हो जायें।"

चक्कीवाले को इस बात पर गर्व था कि उसकी बेटी उससे कुछ

भी नहीं छुपाती थी। वह हमेशा ध्यान देकर धैर्य से उसकी बात सुनता, और अपनी सलाह देकर मदद करता।

जब वह दुबारा आंगन में आयी तो बूढ़े ने हंसते हुए कहा: "ज़रफ़शान* में लोग सोने के अलावा और क्या ढूंढ़ते हैं? केवल गुज़री-बीती उम्र को ढूंढ़ना व्यर्थ है, बेटी।"

लड़की कुछ देर तक चुप रही, फिर धीरे-से बोली:

"पर मैं अपने सौभाग्य को ढूंढ़ने गयी थी।"

"तो फिर मिला?" बूढ़े ने सतर्कता से पूछा।

"क़रीब-क़रीब।"

"विश्वास नहीं आता। जाकर नदी को सुना अपनी यह गप। शायद उसे तेरी बात पर विश्वास आ जाये," बूढ़े ने चुटकी ली।

"मैं उससे सब पहले ही बता चुकी हूं।"

शाम को हवा तेज़ हो गयी। पहाड़ के पीछे से बादल गरजने की आवाज़ सुनाई दी। बर्फ़ीले शिखर रह-रहकर आकाशीय बिजली की चमक से उद्दीप्त हो जाते। लड़की बाहर निकल गयी, पर नदी की ओर न जाकर चक्की के बग़लवाले बाग़ की तरफ़ मुड़ गयी। वृक्षों के तले खड़ी लड़की हवा द्वारा निर्दयता से झिंझोड़े जाते हरे ज़रदालू व सेबों की शाखाओं को देखती हुई शिक्षक के बारे में सोच रही थी। नदी की प्रचंड लहरें भयावह सांय-सांय से परिवेश को गुंजाती हुई तीव्रता से आगे बढ़ रही थीं।

इस वर्ष कुछ विचित्र ही घटना घट रही थी। बसन्त ऋतु में नदियों में हमेशा पानी बढ़ जाता है। पर अब नदियों के पूर्वस्तर तक उतर आने का समय आ गया था। लड़की की दृष्टि जलधार बरसाती घने काले बादलों पर पड़ी। दूर-दूर तक बारिश ज़ोरों पर थी। आकाश

---

* ज़रफ़शान – शब्दशः : सोना बहा लानेवाली नदी।

बादलों से पूरी तरह ढक चुका था। यह स्पष्ट था कि वर्षा के शीघ्र समाप्त होने के कोई आसार नहीं हैं। अतएव नदी के जलस्तर के घटने का अभी काफ़ी समय तक कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

लड़की की आंखें आकाश को देखते-देखते थक गयीं। पर नदी की ओर वह अनन्त काल तक भी देख सकती थी।

पूरब की ओर से रेंगती हुई रात्रि गोधूलि के धूसरित परिवेश को धीरे-धीरे अपने आग़ोश में लेने लगी। जल एक नैराश्यभरे आर्त्तनाद के साथ चक्की के पाट से टकराने लगा। नदी की गर्जना के अतिरिक्त कहीं कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था। लड़की ऊपर चढ़ गयी, पर खत्ती के पास झुके हुए अपने पिता पर दृष्टि पड़ते ही तेज़ी से नीचे उतर आयी।

रात असाधारण रूप से अंधेरी थी। आसमान में छाये बादल अब तितर-बितर हो चुके थे। तारे ठंड से ठिठुर रहे थे। उनकी छवि मलिन थी। वे नदी के जल में झांक रहे थे, पर अपनी परछाईं को स्वयं भी नहीं पहचान पा रहे थे।

लड़की नदी पर पहुंच गयी। उसे लगा कि बाढ़ के पानी की गर्ज-ना पहले से तेज़ हो गयी है। वह शीघ्रता से चलने लगी। थोड़ी देर में उसने दौड़ना शुरू कर दिया। वह अन्धकार में आंखें फाड़-फाड़कर देखे जा रही थी। नदी के किनारे उसे एक छाया नज़र आयी।

'क्या वे ऐसे ख़राब मौसम में भी आ गये?'

छाया उसके निकट आ गयी। सहसा लड़की की दृष्टि एक घोड़े के विशाल सिर पर पड़ी। वह चौंक उठी और एक चीख़ मारते हुए पीछे की ओर भागने लगी।

"मुनव्वरा ..." उसके कानों में शिक्षक की कांपती हुई आवाज़ पड़ी।

वह घोड़े से कूदकर लड़की के पीछे भागा और उसका एक हाथ

अपने हाथ में थाम लिया। लड़की के हाथ में कंपन हुआ। शिक्षक ने अनुभव किया कि जैसे उसके हृदय में एक नयी आत्मा ने प्रवेश कर लिया है। लड़की रोने लगी।

"क्यों, क्या हो गया?! मुझे माफ़ कर दो..."

लड़की ने अपना चेहरा मोड़ लिया पर उसका रोना बन्द नहीं हुआ।

"मैं तो आने को बिलकुल तैयार नहीं था। पिता ने कहा है कि अगर बाढ़ कम नहीं होती तो मैं नहीं आऊं।"

"मुझे तो मालूम नहीं था," लड़की आंसू घुटकते हुए बोली। "न जाने क्या-क्या सोच गयी थी मैं। सोचा, कहीं आप डूब तो नहीं गये। नदी तो कुछ नहीं बताती मुझे!"

"इसीलिए तो मैं आ गया ताकि तुझे फ़िक्र न हो। घोड़ा मांग लिया और आ गया।"

उसने लड़की का दूसरा हाथ भी थाम लिया।

"चलिये," लड़की ने उसके हाथ को खींचकर चक्की की ओर चलने का संकेत किया।

"चलिये," संकुचित होकर उसने अपने शब्द पुनः दुहराये।

"कहां?"

"चक्की पर।"

"मैं नहीं चल सकता... मुझे वापस लौटना है।"

"मैं आपको नहीं जाने दूंगी। रात बहुत हो गयी है। कुछ भी दिखाई नहीं देता। सुबह मैं आपको जल्दी जगा दूंगी, देर नहीं होगी।"

"उस पार घोड़े का मालिक मेरा इन्तज़ार कर रहा है। मैंने उसे जल्दी लौटने का वचन दिया था।"

"चलिये तो सही," लड़की ने तीसरी बार निवेदन किया।

"मजबूरी है।"

"मुझे मालूम है कि आप क्यों नहीं चलना चाहते," लड़की ने दु:खी स्वर में कहा, "आपको मेरे पिता से डर लग रहा है।"

किसी के कारण आज तक शिक्षक को कभी ऐसा संकोच नहीं हुआ था कि उसका चेहरा लाल हो उठे। इस बार भी रात्रि के अन्धकार के कारण लड़की उसके लज्जा से लाल भभूके हुए गालों को नहीं देख सकी। 'ये सचमुच ही डर गये हैं क्या?'

वे दोनों चक्की की ओर चल दिये। आगे-आगे लड़की और उसके पीछे शिक्षक। चक्कीवाले का अभिवादन कर शिक्षक दरवाज़े के पास ही रुक गया।

"नमस्ते। आओ, अंदर आओ ना।" चक्कीवाले का स्वर शांत था।

बूढ़े ने अतिथि को घूरकर देखा। अपनी कमज़ोर आंखों के बावजूद उसने उसे पहचान लिया: 'जब्बार का बेटा इमाम।' अतिथि सिर से पैर तक भीगा हुआ था। उसके कोट के सारे बटन टूटे हुए थे। 'यही इमाम तो नहीं है वह आदमी, जो हर शनिवार को शहर रवाना होता है और सोमवार की सुबह वापस लौट आता है। इसी से मिलने तो नहीं जाती बिटिया? आज शाम से ही ग़ायब है और अब आ रही है इसके साथ। इस मामले को भांपने में मुझे इतना समय क्यों लगा?' बिटिया ने उसके प्रश्न के उत्तर में जो बात कही थी, उसे उसकी याद हो आयी। 'क्या यही वह स्वर्णपिंड है, जिसे वह ढूंढ़ रही थी?"

चक्कीवाला खत्ती से ताज़ा गरम आटा निकालकर थैले में भरने लगा। आटे का कुछ अंश फ़र्श पर गिर रहा था, कुछ उसके पेशबन्द में, और कुछ हवा में उड़ता हुआ बूढ़े के श्वेतकेशी सिर को और भी श्वेत बना रहा था। कुछ समय बीतने के बाद उसने कमर सीधी की, सिर उठाकर आश्चर्य से शिक्षक तथा अपनी बेटी की ओर देखा, और फिर आटे को थैले में भरने में लग गया।

लड़की को लगा कि यह क्रम अनन्त काल तक चलेगा। पानी तेज़ कड़क की आवाज़ के साथ चक्की के पाट से टकरा रहा था और चक्की समरस स्वर में इस तरह खनखनाये जा रही थी जैसे किसी बात की शिकायत कर रही हो। पर चक्कीवाले की बेटी जानती थी कि उसे कोई शिकायत नहीं है। चक्की के पाट धीरे-धीरे घूम रहे थे, ठीक उसी तरह, जिस तरह धरती अपनी धुरी पर घूमती है।

चूल्हे में आर्चे की लकड़ियों के कड़कने की आवाज़ आ रही थी। आग में से धुआं नहीं निकल रहा था। चूल्हे पर चढ़ी हुई चाय की केतली भाप उगल रही थी।

शिक्षक चूल्हे के पास आकर उकड़ूं बैठ गया और हाथ बढ़ाकर आग तापने लगा। कमज़ोरी के कारण वह ज़्यादा देर तक हाथ फैलाये नहीं रख सका। उसके हाथ खिंचकर घुटनों पर आ गये और आंखें बन्द हो गयीं।

चक्कीवाला और कुछ देर तक थैले में आटा भरता रहा, भर चुकने के बाद वहीं थैले के पास ही बैठकर न जाने किस चिन्ता में खो गया। आटे से उसका चोग़ा भर गया था, पर उसे इसकी ख़बर ही नहीं थी।

चक्की का कोठा ख़ाली हो गया। चक्की के पाट अप्रसन्नता से घरघरा उठे। बूढ़े ने उठकर कोठे में गेहूं भरा और शिक्षक की ओर देखा। तत्पश्चात् उसके क़दम कुछ निर्णयात्मक मुद्रा में बेटी की ओर बढ़ गये। लड़की का चेहरा पीला पड़ गया। पर पिता उसके पास से गुज़रकर धान्यागार की ओर जा रहे थे। एक मिनट के बाद लड़की को धान्यागार से वापस लौटते पिता के भारी क़दमों की आहट सुनाई दी। उसने अपनी आंखें मूंद लीं। जब उसने आंखें खोलीं तो देखा कि पिता ने शिक्षक को भेड़ के ऊन का कोट ओढ़ा दिया है और स्वयं केतली से प्याले में चाय उंडेलकर अतिथि की ओर बढ़ा रहे हैं।

लड़की अपने बूढ़े पिता के प्रति एक अवर्णनीय स्नेहिल भाव से भर उठी। उसे इच्छा हो रही थी कि वह दौड़कर उसकी छाती से लग जाये। बूढ़े ने सिर उठाये बिना ही आदेशात्मक स्वर में दो शब्द कहे :

"शोरबा गरम करो!"



बाल्ता आरतीक़ोव

प्रस्तुत कथाकार का जन्म सन् १९२४ में समरक़न्द के एक मोची परिवार में हुआ। हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने एक सामूहिक फ़ार्म में कार्य किया। बाल्ता आरतीकोव ने सन् १९५२ में समरक़न्द अध्यापक संस्थान के भाषा व साहित्य संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। वे स्कूल में अध्यापन कार्य के अलावा जनतंत्रीय समाचारपत्रों के संवाददाता भी रह चुके हैं। उनकी रचनाएं सन् १९५३ से प्रकाशित हो रही हैं। अब तक उनके अनेक कहानी-संग्रह तथा लघु-उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। कथाकार बाल्ता आरतीक़ोव मुख्यतः ग्रामीण अंचल और ग्राम्य तथा युवा जीवन के बारे में लिखते हैं।

पत्थर के आंसू

रास्ते के किनारे एक चट्टान खड़ी थी। दूर से वह काले रंग की लगती थी, पर दरअसल उसका रंग कत्थई था। चट्टान पर जगह-जगह सलवटें, गढ़े और उभार थे, पर कहीं भी टूटन या तड़कन नहीं थी।

उसकी ऊंचाई एक चौमंज़िला मकान के बराबर थी। लोग उसे 'बड़ी शिला' के नाम से पुकारा करते थे।

'बड़ी शिला' गांव से बहुत दूर थी। थके हुए राहगीर इसकी छांह में विश्राम किया करते थे। गर्मियों में वह लोगों को छाया प्रदान करती और जाड़ों में उन्हें वर्षा, बर्फ़ व सर्द हवा से बचाती थी।

एक बार एक कौआ उस चट्टान पर आ बैठा। वह अपनी चोंच में एक अख़रोट जैसी चीज़ दबाये हुए था। चारों ओर एक नज़र डालकर कौए ने अपने भोज्यपदार्थ को पंजों में कसकर दबाया और उसमें चोंच मारने लगा। दाने का कड़ा छिलका टूट गया और कौआ उसमें से बिखरते बीजों को तेज़ी से खाने लगा। पर एक बीज चट्टान की तंग दरार में गिर गया। कौए ने अपनी पैनी नज़र से उस बीज को देखा, लेकिन जब लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे वहां से नहीं निकाल पाया तो नये भोज्यपदार्थ की तलाश में उड़ गया।

यह शरद् ऋतु की बात थी। शरद् के बाद जाड़े का मौसम आया। वर्षा हुई और बर्फ़ गिरी। हवा के झोंकों से बड़ी शिला की तलहटी में उड़ आये बीज सड़ने व नष्ट होने लगे, पर कौए का वह दाना उग आया। मौसम में कुछ गरमी आने पर उसमें से एक पतला अंकुर फूटा। शुरू-शुरू में वह अंकुर मरियल व कमज़ोर-सा था। हवा उसे जैसे चाहे झोंके देकर तंग करती, सूरज अपनी तपती किरणों से परेशान करता। दोपहर को वह उस मनुष्य की तरह सुस्त व लापरवाह हो जाता, जो अपनी सारी शक्ति गंवा चुका हो, पर शाम होते ही उसमें फिर जान आ जाती थी, वह एक सूई की तरह सीधा तन जाता था।

अंततः उस अंकुर से कोमल, रोएंदार पत्तियोंवाली नन्ही-नन्ही शाखाएं निकल आयीं। लोगों ने देखा कि 'बड़ी शिला' में आर्चा ने – पर्वतों में 'कोहिस्तान की दुलहन' के नाम से जाने जानेवाले एक अत्यन्त सुन्दर वृक्ष ने – अपनी जड़ें जमा ली थीं। कुछ ही वर्षों में वह वृक्ष बड़ा

हो गया, और उसकी जड़ें 'बड़ी शिला' के अन्दर गहरी धंस गयीं।

"ए... आर्चा!" एक दिन 'बड़ी शिला' वृक्ष से कहने लगी, "तू यह क्या कर रहा है? क्यों तेरी जड़ें मेरे अन्दर सांप की तरह कुंडली मारे धंसी जा रही हैं?"

"और कोई उपाय नहीं है," वृक्ष ने उत्तर दिया। "मुझे भी तो आख़िर भोजन-पानी की ज़रूरत होती ही है। मैं जीना चाहता हूं।"

"धरती काफ़ी चौड़ी है," 'बड़ी शिला' बड़बड़ायी। "क्या पूरी धरती पर तुझे और कहीं ठौर नहीं मिला? मेरे भीतर ही उगना ज़रूरी था?"

"यह मेरा क़सूर नहीं है, भाई। कौआ मेरे बीज को यहां डाल गया। उसी से जाकर पूछो यह बात।"

"ओह, तो तू अब बहस भी करने लगा?" 'बड़ी शिला' आग-बबूला होकर आर्चा के तने को कसकर भींचने लगी, पर वृक्ष ने मुक़ाबला करने की ठान ली। उसने अपनी जड़ों के लिए शिला के भीतर नये रास्ते खोज लिये। आर्चा की जिजीविषा सचमुच उद्दाम थी।

अन्ततः 'बड़ी शिला' ने हार मान ली।

"ठीक है," उसने आर्चा से कहा, "रह तू भी।"

आस-पास उससे सुन्दर और कोई भी वृक्ष नहीं था। कोई पथिक ऐसा नहीं था जो उसे देखकर आह्लादित न होता हो। नीले आकाश के नीचे इसकी शिखा की हरीतिमा जगमगाने लगती। दूर से 'बड़ी शिला' को देखने पर ऐसा लगता जैसे वह कोई काले संगमरमर का चबूतरा हो।

काफ़ी साल बीत गये। एक दिन ऐसा आया जब तंग रास्ते को चौड़ा करने का निर्णय लिया गया। भावी राजमार्ग से गुज़रता हुआ इंजीनियर 'बड़ी शिला' के पास आकर रुक गया। मार्ग सीधा और चौड़ा होना चाहिए था, पर 'बड़ी शिला' का क्या किया जाये? उसे

क्या एक तरफ़ हटा दें? पर विस्फोटक से उड़ा देना ज़्यादा आसान था।

इंजीनियर काफ़ी देर तक 'बड़ी शिला' को ध्यानपूर्वक देखता रहा। उसने दो बार उसके चक्कर लगाये। शिला की चोटी पर चढ़कर जब उसकी दृष्टि आर्चा के जीवन-संघर्ष पर पड़ी तो उसकी आंखें तृप्त हो गयीं। 'बड़ी शिला' भी संघर्षरत थी। अपने पैने किनारों को आर्चा के तने में गड़ाकर जैसे वह उसे काट खाना चाहती थी। क्षण भर के लिए इंजीनियर को ऐसा लगा जैसे वे आर्चा और पत्थर न होकर दो बड़े पहलवान हों जो अपनी देहों को एक दूसरे भिड़ाये गुत्थमगुत्था हो रहे हों।

इंजीनियर को आर्चा पर दया आ गयी। उसने आदेश दिया कि सड़क चार मीटर नीचे से निकाली जाये।

पर एक तलमानचित्रकार ने यह कहकर आपत्ति प्रस्तुत की कि चट्टान की शक्ल मज़ार जैसी है, अतएव उसे विस्फोटक से उड़ा देना चाहिए।

"नहीं, नहीं, किसी भी मज़ार से इसकी शक्ल नहीं मिलती-जुलती। आप ज़रा देखिये तो सही, चट्टान पर यह आर्चा कितना सुन्दर लग रहा है।"

इंजीनियर के इस विचार का दूसरे बहुत सारे लोगों ने भी समर्थन किया। अन्ततः जैसा इंजीनियर ने कहा, वैसा ही किया गया। 'बड़ी शिला' और आर्चा को अपने स्थान पर सुरक्षित रहने दिया गया।

दो साल के भीतर राजमार्ग का निर्माण पूरा कर लिया गया, लोगों से भरी हुई बसें और भारी-भारी ट्रक उस सड़क पर से होकर गुज़रने लगे, उनके विंडस्क्रीनों में से ऐसा लगता था जैसे आर्चा हवा में लटका हो। बसें 'बड़ी शिला' के पास आकर रुक जातीं। यात्रीगण विश्राम के लिए बाहर निकल आते और प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन करते।

'बड़ी शिला' की चोटी पर ठंडक थी। लोग मन्त्रमुग्ध भाव से आर्चा को देखते। अधेड़ उम्र के लोग तो उसे देखकर विशेष रूप से उल्लसित हो उठते।

"जीवन के लिए ऐसा संघर्ष करना चाहिए!"

लोगों के आने-जाने का क्रम बना रहा। 'बड़ी शिला' के पास दिन-ब-दिन भीड़ बढ़ती ही गयी। यात्रियों के लिए वह एक सुरम्य विश्रामस्थली बन गयी।

पर वह मार्ग अभी तक राजकीय आयोग द्वारा प्रमाणित नहीं किया गया था। आयोग का गठन कई महीनों के बाद हुआ। आयोग में अध्यक्ष सहित चार व्यक्ति सम्मिलित थे। एक दिन वे सब मार्ग को प्रमाणित करने के लिए रवाना हुए। अध्यक्ष अपनी तीव्र दृष्टि मार्ग के दोनों ओर टिकाये था। उसकी कोशिश थी कि काम में कहीं कोई कमी नज़र आ जाये।

पर आधा मार्ग पार करने के बावजूद अध्यक्ष को कोई ख़ास कमी नहीं मिली। अगर उसे यह बात पहले से मालूम होती तो शायद वह इस आयोग का अध्यक्ष बनने के लिए कदापि तैयार नहीं होता। इतने लम्बे मार्ग में क्या सब कुछ इतना दुरुस्त है? मार्ग निर्माताओं से कहीं कोई ग़लती हुई ही न हो, ऐसा नहीं हो सकता। कौन करेगा इस बात पर विश्वास? सभी यही कहेंगे कि अध्यक्ष ने सावधानी से निरीक्षण किया ही नहीं होगा।

इतने में ही उसकी दृष्टि आर्चा और 'बड़ी शिला' पर पड़ी।

"गाड़ी रोको," उसने चालक से कहा।

अध्यक्ष के पीछे आयोग के अन्य सदस्य भी नीचे उतरे। उनके मन में अभी तक कोई शंका नहीं उभरी थी। कमर सीधी करने का अवसर मिलने से उन्हें अच्छा ही लगा था। अध्यक्ष 'बड़ी शिला' के पास गया और सिर उठाकर देर तक आर्चा को देखता रहा। तदनन्तर बोला:

"देख रहे हैं, इंजीनियर की तारीफ़ की जाती है कि बड़ा प्रतिभाशाली है वह, और इधर इतनी बड़ी ग़लती!"

"हां, हां," उसके एक सहयोगी ने हामी भरी।

"सच कह रहे हैं," दूसरे ने समर्थन किया।

पर तीसरा सदस्य उनसे सहमत नहीं हो सका।

"कैसी ग़लती, अध्यक्ष महोदय?"

पर अध्यक्ष ने उसके प्रश्न को सुना अनसुना कर दिया। जैसे स्वयं को विश्वास दिलाने के लिए कि उसका समर्थन करनेवाले सहयोगी सचमुच ही उससे सहमत हैं, उसने उनसे प्रश्न किया:

"तो फिर बताइये, क्या ग़लती की है इंजीनियर ने?"

आयोग के सदस्यों को कोई उत्तर नहीं सूझा।

अध्यक्ष विषण्ण होकर गुर्राया:

"मार्ग विशेषज्ञ भी क्या अच्छे मिले हैं मुझे!"

आयोग के सदस्यों के चेहरे पर अपराधभरी मुसकान खिंच आयी। अध्यक्ष ने चालक को आवाज़ दी और उससे निकटवर्ती किसी गांव मे एक आरी लाने को कहा।

लगभग बीस मिनट बाद चालक आरी लेकर वापस आ गया। अध्यक्ष ने आर्चा की ओर संकेत करते हुए कहा:

"इसे काट डालो।"

"हां, हां, काट डालना ही चाहिए," दो सदस्य एक स्वर में बोले।

"पर क्यों?" तीसरे सदस्य ने प्रतिवाद किया। "यह आर्चा किसी के रास्ते में आड़े नहीं आ रहा है।"

"आप समझे नहीं," अध्यक्ष हंसते हुए कहने लगा। "आज नहीं आ रहा है, पर किसी दिन बड़ा होगा तो इसकी शाखाएं यातायात में बाधा डालेंगी। लगता है इंजीनियर में दूरदर्शिता नहीं है, इसीलिए उससे ग़लती हो गयी। अब समझे आप?"

"हां, हां," पहला सदस्य बोला।

"अध्यक्ष महोदय ठीक कह रहे हैं," दूसरे ने समर्थन किया।

पर तीसरे ने अप्रसन्नता से सिर हिला दिया। परन्तु अध्यक्ष ने उसकी आपत्ति पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन दोनों की ओर मुड़कर उसने आर्चा को काटने का आदेश दे दिया।

उनमें से एक ने आरी संभाली और 'बड़ी शिला' की ओर बढ़ चला, पर पास पहुंचकर कुछ सोच में पड़ गया।

"अध्यक्ष महोदय, रहने ही दें इसे," वह बुदबुदाया। "अभी तो किसी को तंग नहीं कर रहा है।"

"अरे, एक पेड़ पर तरस खा रहे हो?" अध्यक्ष भड़क उठा। उसने तत्क्षण आर्चा के पास पहुंचकर उसके हाथ से आरी ले ली। आरीवाले को देखकर वृक्ष कांप उठा, शिकायती स्वर में उसकी पत्तियां सरसरा उठीं – जैसे उससे दया की प्रार्थना कर रही हों। किन्तु अध्यक्ष पर उसकी प्रार्थना का कोई असर नहीं हुआ। उल्टे ही उसे स्वयं पर गर्व हो रहा था कि उसने निर्माण इंजीनियर की एक बहुत बड़ी ग़लती ढूंढ़ निकाली। अब वह साथ ही साथ अपनी रिपोर्ट में आयोग के सदस्यों की अयोग्यता की शिकायत भी जोड़ देगा, कहेगा कि आर्चा तक को उसे स्वयं अपने हाथों से काटना पड़ा।

आरी वृक्ष से टकरायी। पसीने में नहा गये अध्यक्ष ने आर्चा की सबसे मोटी और लम्बी शाखा को मध्य तक काटा, शाखा तुरन्त ही कड़ककर टूट गयी, और अपने साथ 'बड़ी शिला' के एक बड़े टुकड़े को तोड़ती हुई नीचे गिर पड़ी।

बरबस सभी की दृष्टि उस स्थान पर जा पड़ी, जहां से शिला का टुकड़ा टूटा था। वहां एक काला धब्बा प्रकट हो गया, जो तेज़ी से फैलता जा रहा था। थोड़ी देर बाद वहां पर पानी की बूंदें उभरने लगीं।

पानी की एक बूंद निकलकर शिला पर बहने लगी, उसके पीछे दूसरी बूंद बह निकली, और फिर तीसरी...

पर क्या यह पानी ही था? आंसू तो नहीं थे? सम्भव है, आंसू ही हों। सम्भव है, आर्चा के प्रति करुणा की भावना उमड़ने के कारण 'बड़ी शिला' को रोना आ गया हो, सम्भव है, पत्थर हृदयवाले इनसान के व्यवहार से चकित व क्षुब्ध होने के कारण ही वह रो रही हो...

उस दिन से 'बड़ी शिला' को 'रोनेवाली शिला' कहा जाने लगा।



रहीम जलील

लेखक रहीम जलील का जन्म सन् १९०९ में खोजंद (वर्तमान लेनिनाबाद) में एक मोची के परिवार में हुआ था। शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद वे कुछ समय तक स्कूल में शिक्षक रहे। सन् १९३१ से वह पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत हैं। साहित्य जगत में वह गद्यकार, नाटककार तथा कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। कथाकार रहीम जलील के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास "पुलात और गुलरू", "शुराब", "दिल का बसेरा" हैं, जो ताजिक लोगों के अतीत तथा वर्त्तमान जीवन को समर्पित हैं। उन्हें अपने उपन्यास "शुराब" के लिए ताजिक सोवियत समाजवादी जनतंत्र का रूदाकी राजकीय पुरस्कार प्रदान किया गया। वर्तमान समय में वह जनतंत्र की सर्वोच्च सोवियत के सदस्य हैं। रहीम जलील को ताजिकिस्तान के जन-लेखक का सम्मान प्राप्त है।

संगमरमर की लड़की

कला विद्यालय में सार्वजनिक परीक्षाएं चल रही थीं। अंतिम वर्ष के छात्रों ने तैयारी बुरी नहीं की थी, संभवतः वे हर प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ थे, पर फिर भी उन्हें बेचैनी हो रही थी। हमेशा प्रथम श्रेणी प्राप्त करनेवाले छात्र, और वे छात्र भी, जिनके शोध कार्य को स्वीकृत कर लिया गया था तथा कला-मर्मज्ञों द्वारा सराहा गया था, अपनी घबराहट को नहीं छुपा पा रहे थे और कारिडर में चहलक़दमी कर रहे थे। इन्हीं छात्रों में कूलाब इलाक़े का सुगठित बदन का, गोरा, काली आंखोंवाला युवक बुरहान फ़ैज़ुल्लायेव भी शामिल था।

बुरहान को बचपन से ही अपने पिता के व्यवसाय से प्यार था। उसके पिता मिट्टी के बरतन बनाते थे। पर वे अन्यान्य लोगों की तरह साधारण कारीगर नहीं थे। आस-पास के लोग उन्हें 'जादूई हाथों का मालिक' कहकर पुकारा करते थे। अपने कार्य के लिए मिट्टी वह उसी टेकरी से लेते थे, जहां से अन्य कारीगर लेते थे। पर उसे भिगोने व मिश्रित करने का उनका अपना विशिष्ट तरीक़ा था जो औरों के लिए एक रहस्य ही था। लगता था कि प्रकृति ने उनकी लम्बी और पतली उंगलियों को विशेष रूप से इसी काम के लिए तैयार किया था। वह स्वयं भी कहा करते थे कि "मेरी उंगलियां मिट्टी को नहीं छूतीं तो बराबर बेचैन-सी, दुःखती-सी रहती हैं।" अपने काम की लगातार तैयारी में रहना, हमेशा रचनात्मक विचारों में खोये रहना और प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा को अभ्यास से सदा बढ़ाते रहना – पिता की सफलता का प्रमुख रहस्य था। आज बुरहान इस तथ्य को जान चुका था।

मिट्टी पिता के हाथों में आकर मानो सजीव हो जाती थी, उनके प्यार और स्नेह का अनुभव कर बिना हीले-हवाले किये हर आकार में ढलने

के लिए तैयार हो जाती थी – चाहे उससे प्याली बना लो, सूप का बड़ा प्याला, रकाबी या एकसार मुड़ी हुई हंस की गरदन के-से मुंहवाली सुराही। उनके हाथों से निर्मित, सुन्दर कलात्मक अभिरुचि से चित्रित की गयी वस्तुएं हर एक का मन लुभा लेती थीं। ऐसे भी लोग थे जिन्हें पहली नज़र में हस्तशिल्प व मृत्तिका-शिल्प की उन वस्तुओं में कारख़ाने में निर्मित टनटनाती हुई चीनी मिट्टी की वस्तुओं का भ्रम होने लगता था।

पिता को घड़े, सुराही व फूलदान बनाने में विशेष रूप से महारत हासिल थी। स्मृति-चिन्हों के रूप में वे गुड़िया तथा पक्षी अच्छा बना लेते थे। घर में एक कमरे के ताक़ पर उनके द्वारा निर्मित एक फूलदान रखा रहता था, जिसे मृत्तिका-शिल्प की उत्कृष्ट रचनाओं की कोटि में गिना जा सकता था। फूलदान का उभरा हुआ भाग चौड़ा था – लगभग गोल, और गरदन तंग, संकुचित, पर यह संकुचन कुछ इतने धीरे-धीरे हुआ था कि आंखें इसे भांप ही नहीं पाती थीं। नपी-तुली रेखाओं के एकसार समतल रूप की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता था। पिता को स्वयं भी अपनी यह कृति बहुत पसन्द थी। वे अक्सर फूलदान को हाथ में लेकर उसकी अदृश्य धूल को झाड़ने लगते, उंगलियों की ठक-ठक से कभी उसकी गरदन को, तो कभी उसके उभरे चौड़े भाग को बजाकर देखने लगते। उसकी ठनठनाती आवाज़ को सुनकर उन्हें अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता, प्रसन्नता से उनका चेहरा चमक उठता।

कला विद्यालय में प्रवेश लेने के बाद बुरहान सभी जातियों के सभी कालों की ललित कला से सम्बन्धित उत्कृष्ट कलाकृतियों से परिचय प्राप्त करने लगा। जर्मन चित्रकार द्वारा चार सौ साल पूर्व बनायी गयी एक चित्र की अनुकृति को देखने का भी उसे अवसर प्राप्त हुआ। यह अनुकृति हंज़ाई के एक व्यापारी जार्ज गिरे के व्यक्ति-चित्र की थी।

इस चित्र को देखकर बुरहान आश्चर्य से लगभग चीख़ ही उठा: चित्र में व्यापारी के सम्मुख एक फूलदान रखा था, जो उसके पिता द्वारा निर्मित फूलदान से हू-बहू मिलता-जुलता था। अन्तर सिर्फ़ इतना था कि पिता द्वारा निर्मित फूलदान मिट्टी का था और उसमें फूलों के चित्र बने हुए थे, जबकि यह फूलदान कांच का – बहुत संभव है, बिल्लौरी कांच का था। बुरहान के कानों में पिता की आवाज़ गूंजने लगी:

"याद रखो, बेटे, ख़ूब जानो, ख़ूब देखो, सुनो।"

पिता की कही गयी यह बात बुरहान कभी नहीं भूल पाया। अपने पिता के व्यवसाय को शीघ्र अपना लेने का स्वप्न देखने के कारण प्रारम्भ में बुरहान ने पढ़ाई में विशेष रुचि नहीं दिखायी। स्कूल की पढ़ाई उसे ऐसी लगती थी जैसे वह कोई बहुत बड़ी सज़ा भुगत रहा हो। उसकी आंखों के आगे हर समय पिता का कारख़ाना ही नाचता रहता था, तीव्र गति से घूमता चाक भी, जिसमें सुनहरी मिट्टी से निर्मित दैनिक जीवन के उपयोग की अद्भुत जादूई वस्तुओं का जन्म होता था। उनके जन्म लेने की प्रक्रिया कुछ इतनी रहस्यमय लगती कि इच्छा होती थी कि इसे शीघ्र ही जान लिया जाये। इसके बारे में सोचना अंकगणित व विवेचन-पदों के नियम जानने की अपेक्षा कहीं ज़्यादा रुचिकर लगता था।

पर एक बार रात का खाना खाते समय पिता ने उससे कहा:

"मैंने तेरी कापियां और रिपोर्ट बुक देखी है। स्कूल जाकर तेरे अध्यापक से भी बात हुई। वे तुझसे नाराज़ हैं। उनका कहना है कि तू पढ़ाई में ध्यान नहीं देता। लेकिन अगर तू अच्छी तरह पढ़ाई नहीं करेगा तो मृत्तिका-शिल्पकार का व्यवसाय अपनाने का सपना देखना छोड़ दे क्योंकि आजकल ज्ञान के बिना एक ईंट भी बनाना मुश्किल है। याद रखो, बेटे, ख़ूब जानो, ख़ूब देखो, सुनो। तभी तुम अपने काम में दक्ष हो पाओगे। मेरे पिता भी मृत्तिका-शिल्पकार थे। उन्होंने बुख़ारा

के मदरसे में तालीम पायी थी। अगर तुम मेरे और अपने दादा के क़दमों पर चलना चाहते हो, तो सबसे पहले स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करो और उसके बाद दुशाम्बे के इंस्टीट्यूट की।"

बुरहान को आश्चर्य हुआ। मृत्तिका-शिल्पकार बनने के लिए क्या पहले लोग मदरसे की पढ़ाई ख़त्म करते थे? और अब इसके लिए इंस्टीट्यूट में पढ़ना ज़रूरी हो गया है? उसके मन में आ रहा था कि यह प्रश्न पूछ ले। पर चाहे मन में कितना ही आ रहा हो, ऐसा प्रश्न करने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। पिता के शब्द उसके लिए पत्थर की लकीर थे। मुंह से निकलते निःश्वास को रोककर बुरहान अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ और बेमन-से पाठ्यपुस्तकों व कापियों को हाथ लगाने की सोचने लगा। पर इतने ही में पिता ने उसे टोक दिया।

"अच्छे बच्चे," पिता ने कहा, "दस्तरख़ान पर तब तक नहीं बैठते जब तक बड़े नहीं बैठ जाते। और खाना ख़त्म करने के बाद बिना उनकी अनुमति लिये नहीं उठते। इस बात को भूलना नहीं।"

उस दिन से बुरहान पढ़ाई में रुचि लेने लगा। उसने स्कूल की पढ़ाई में स्वर्णपदक प्राप्त किया। पर पिता की कला को उसके पूर्ण रहस्य के साथ जान लेने का उसका स्वप्न मिटा नहीं। यह देखकर उसके पिता को प्रसन्नता हुई, गर्व का अनुभव हुआ। जिस दिन बुरहान को स्कूल छोड़ने का प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ, उसी दिन पिता ने उसे अपने कारख़ाने में बुलाया और अपने स्थान पर बैठाते हुए बोले:

"हां तो मेरे शेर-बच्चे, यह मिट्टी है, और यह मशीन। बैठकर जो जी में आये बनाओ। देखता हूं तुममें कितनी योग्यता है।"

"जो जी में आये?"

"हां, जो जी में आये।"

"मैंने एक पत्रिका में कांच की चीज़ें बनानेवाले चेकोस्लोवाकिया

के कारीगरों द्वारा निर्मित एक अद्भुत वस्तु देखी थी। अगर आपकी इजाज़त हो तो उसी जैसी बना दूं।"

"अगर पसन्द है, तो बना डालो," पिता ने कहा, पर तुरन्त पूछ भी लिया: "क्या चीज़ है वह?"

"फूलदान।"

"ठीक है। बनाओ, फिर देखूंगा।"

बुरहान काम में लग गया। इस विचार से कि उसे संकोच न हो, पिता एक दूसरे कोने में बैठकर किसी अन्य काम में लग गये, पर यदा-कदा कनखियों से उसकी ओर देख लेते थे। 'जाने किस क़िस्म का फूलदान बनायेगा?' उन्होंने सोचा। 'उलटी तश्तरी से मिलती हुई यह चीज़ फूलदान का आधार होगी। पर मिट्टी को खींचकर किसलिए फैला रहा है? रस्सी की तरह गूंथता ज़ा रहा है, पर क्यों?.. ओह, हां, अब समझ में आया...'

मोमबत्ती की तरह घुमावदार पाये का आधार बनाकर बुरहान ने एक तरफ़ रख लिया, और फिर फूलदान का मुख्य भाग बनाने लगा। उसका फूलदान एक गोल, गहरी, बारीक और हलकी प्लेट की तरह लग रहा था।

'पहली कोशिश का परिणाम बुरा नहीं है, बल्कि अच्छा ही है, काफ़ी अच्छा,' पिता ने सोचा और एक निःश्वास भरी।

"कभी मैंने भी ऐसा ही बर्तन बनाया था फल रखने के लिए। बस, फ़र्क़ यह था कि उसका पाया इतना घुमावदार नहीं था... ख़ैर, कैसे रंग तैयार करूं तुम्हारे लिये?"

"मैं अपने लिए रंग ख़ुद ही तैयार करूंगा, और ख़ुद ही चित्रकारी भी करूंगा," बुरहान ने उत्तर दिया।

"शाबाश, बेटे," पिता ने खुश होकर कहा। "सजाने के लिए जैसे भी रंग और नमूने चाहिए, वे मिल जायेंगे।"

" मैं ख़ुद ही कोई नमूना तैयार कर लूं तो ? "

" ज़रूर तैयार करो।" पिता मुसकराये। " पर मेरी मदद तुम्हें किस चीज़ में चाहिये ? "

" इसे पकाने में ," बुरहान ने कहा।

फूलदान पर बनाये गये बेल-बूटे की भी पिता ने प्रशंसा की। पिता से अलग कोई नयी चीज़ तो बुरहान नहीं सोच सका था, उसने उसे फूलों और पक्षियों के चित्रों से ही सजाया था, पर उसके शोख़ चटक रंगों की सुन्दरता, उनकी चमक और ताज़गी तथा इन्द्रधनुषी रंगों का संगम मन को आह्लादित किये दे रहे थे।

" तुम ज़रूर मृत्तिका-शिल्पकार बनोगे ," बुरहान के कन्धे पर हाथ मारते हुए पिता ने प्रशंसा के स्वर में कहा, पर मुसकराते हुए इतना और जोड़ दिया : " लेकिन इन्स्टीट्यूट की पढ़ाई समाप्त करने के बाद ही। "

" और अगर ... " बुरहान ने कहना चाहा, पर फिर कुछ सोचकर चुप हो गया कि कहूं या नहीं, लेकिन अन्ततः बोल ही पड़ा : " दुशाम्बे में लोक-कला की प्रदर्शनी हो रही है। क़ालीन, चित्र, मूर्त्तियां, मृत्तिका-शिल्प व धातु की बनी वस्तुएं प्रदर्शित की जायेंगी। अगर उस प्रदर्शनी में अपना यह फूलदान भी भेज देते तो ... " उसने सिर ऊपर उठाया। " मैं इंस्टीट्यूट में प्रवेश लेने जाऊंगा ही, और अगर आप सहमत हों तो इसे भी साथ लेते जाऊंगा। "

" लोग हंसेंगे तो नहीं इसे देखकर ? कहेंगे, क्या चीज़ मिली प्रदर्शित करने के लिए भी ," पिता ने मुसकराते हुए कहा, और फिर स्वर में मज़ाक़ का पुट लाते हुए बोले : " तुरही बजानेवाले का फूंक मारने में क्या जाता है – कोशिश कर लेने में कोई हर्ज नहीं। ले जाओ। "

इस तरह कूलाब इलाक़े के दो मृत्तिका-शिल्पकारों – पिता और पुत्र की कृतियों को जनतन्त्रीय प्रदर्शनी में स्थान मिला। प्रदर्शनी में

आनेवाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने कुछ देर इन कृतियों के पास ठहरकर प्रशंसा न की हो।

एक दिन लम्बे क़द का एक दुबला-पतला अधेड़ व्यक्ति प्रदर्शनी देखने आया। वह चश्मा लगाये हुए था, उसके चेहरे पर मूंछें व बकरा दाढ़ी थी। वह उन फूलदानों को प्रशंसा के भाव से काफ़ी देर तक देखता रहा। उसने उन्हें विभिन्न कोणों से और विभिन्न दूरियों से देखा, तत्पश्चात् उसने प्रदर्शनी की महिला अवेक्षक से फूलदानों को हाथ में लेकर देखने की अनुमति प्राप्त की। उनके काम की बारीकी को देखकर, और उनसे उत्पन्न होनेवाली संगीतात्मक ध्वनि को सुनकर वह आश्चर्यचकित रह गया। पर सबसे ज़्यादा प्रसन्नता उसे उन पर की गयी चित्रकारी को देखकर हुई।

"अद्भुत! सुन्दर! शानदार," वह बार-बार दुहराता रहा। "आप क्या मेहरबानी करके बता सकेंगी कि इस समय बुरहान फ़ैज़ुल्लायेव कहां पर मिलेंगे? उनसे कैसे मुलाक़ात हो सकती है? आपको तकलीफ़ तो होगी, पर क्या आप मेरी चिट उन तक पहुंचा सकेंगी? अगर इजाज़त हो तो मैं अपना पता दिये देता हूं।"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं," महिल अवेक्षक ने उत्तर दिया। "बड़ी ख़ुशी से। वे यहां अक्सर आते रहते हैं। विनीत, ख़ुशमिज़ाज और प्रतिभाशाली युवक हैं वे।"

"हां, उनमें जन्मजात मौलिक प्रतिभा है। आप, नीना इवानोवना, उन्हें मेरी चिट देना न भूलें।"

"चिन्ता न करें, अलेक्सान्द्र अलेक्सान्द्रोविच, मैं नहीं भूलूंगी।"

बुरहान दो दिन बाद निज़ामी सड़क पर स्थित एक मकान के दरवाज़े को खटखटा रहा था। मकान मालिक मूर्त्तिकार अलेक्सान्द्र अलेक्सान्दोविच बारदिन ने स्वयं दरवाज़ा खोला। आगन्तुक का परिचय प्राप्त होने पर बारदिन उसका हाथ पकड़कर अपने साथ कमरे तक ले

आये। उन्होंने एक-साथ कई प्रश्नों की झड़ी लगा दी। बुरहान अपने साथ अपने चित्रों व चित्रों की रूप-रेखाओं का अलबम लेकर आया था। चित्रों के उस अलबम को देखकर बारदिन ने कहा:

"ओह, तो आप चित्रकार भी हैं? हुं... काफ़ी अच्छे बने हैं... बहुत बढ़िया, आकर्षक... हो सकता है शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से यह अनुचित है कि मैं आपकी प्रशंसा कर रहा हूं, पर मैं छिपाऊंगा नहीं कि आपमें प्रतिभा है। निस्सन्देह प्रतिभा है," बारदिन ने उत्साह से कहा। "कला आपका व्यवसाय है। आपको कला विद्यालय में भरती हो जाना चाहिए। मैट्रिक में कौन-सी श्रेणी थी आपकी? प्रथम? शा-बाश! जल्दी से अपने प्रमाणपत्र वग़ैरह भेज दीजिये, मैं ख़ुद आपका वहां परिचय कराऊंगा। अगर आपके मां-बाप की सहमति की ज़रूरत हो तो भी मैं आपके साथ चला चलूंगा।"

बारदिन ने युवा बुरहान पर जैसे जादू कर दिया। बुरहान ने बारदिन के सुझाव पर अमल किया: उसी दिन पिता को पत्र लिखकर, पौलीटैक्नीक इंस्टीट्यूट से अपने प्रमाणपत्र वापस मंगाये। और रचनात्मक प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त कर कला विद्यालय में प्रवेश किया। बुरहान मूर्त्तिकार बारदिन की वर्कशाप में प्रशिक्षण प्राप्त करने लगा। वह अब उनके श्रेष्ठ छात्रों में से एक था।

तब से अब तक चार साल बीत चुके हैं। आज बुरहान कला विद्यालय के लम्बे कारिडर में चक्कर लगा रहा है। अपनी घबराहट पर नियन्त्रण पाना उसके लिए मुश्किल हो रहा है। वह चिन्तित है कि न जाने सार्वजनिक परीक्षा समिति के सदस्य उसके शोध कार्य – श्वेत संगमरमर से बनायी एक लड़की की मूर्त्ति को किस रूप में देखेंगे।

बुरहान पत्थर का चुनाव करने के लिए स्वयं खान में गया था। उसने अपने काम के लिए एक मॉडल देख लिया था। पर उस लड़की को, जिसे उसने मॉडल चुना था, इस बारे में कुछ पता तक नहीं था।

बुरहान हर रोज़ अपने छात्रावास से ट्रालीबस में कला विद्यालय जाता था। हर रोज़ उसी ट्रालीबस में अगले स्टाप से छरहरे बदन की एक लम्बी सी लड़की चढ़ती थी। उसके सिर के बाल सुनहरे थे और तरतीब से नन्हे-नन्हे कटे हुए थे। उसका माथा ऊंचा था। आंखें निर्मल, बड़ी-बड़ी और गहरे नीले रंग की थीं। चेहरा सुगढ़, सुन्दर, गोल और गुलाबी था। उसका पूरा व्यक्तित्व सौन्दर्य से परिपूर्ण था, उसकी देहाकृति और वस्त्रों में एक सामंजस्य था। उसकी देह में वसन्त के फूलों की ताज़गी अनुभव होती थी।

लड़की को अपनी लम्बी, पतली और नाज़ुक गुलाबी उंगलियों से धातु के हैण्डिल को मज़बूती से पकड़कर पायदान पर खड़े-खड़े ही यात्रा करनी पड़ती थी।

हर रोज़ भीड़ में से रास्ता बनाते हुए निर्गम द्वार की ओर बढ़ता हुआ बुरहान रास्ते में खड़े हुए हर व्यक्ति से पूछता: "आप यहां उतरेंगे?" रास्ते में खड़ी उस लड़की से भी वह यही प्रश्न करता। "नहीं," लड़की संक्षेप में उत्तर देती और एक तरफ़ को सिमटकर उसके लिए रास्ता छोड़ देती।

प्रतिदिन की इस प्रभातकालीन भेंट ने उन्हें एक तरह से परस्पर परिचित करा दिया। अक्सर वे अनायास ही आपस में अभिवादन करते। एक दिन जब बुरहान ट्रालीबस से उतर रहा था, उसे लड़की की आवाज़ सुनाई दी। "फिर मिलेंगे," उसने कहा था। बुरहान ने देखा कि इन शब्दों को कहते समय उसके सुर्ख़ होंठों पर एक मधुर स्नेहिल मुसकान झलक आयी थी। उसके गालों पर उभरनेवाली हलकी-सी लाली ने बुरहान को पर्वतीय प्रदेश के वसन्ती अरुणोदय की याद दिला दी।

उसी दिन बुरहान ने लड़की का चित्र बनाने का निश्चय किया। उसने सोचा कि मैं अपने चित्र को "वसन्ती अरुणोदय" नाम दूंगा।

खचाखच भरी ट्रालीबस चित्रों की रूपरेखा बनाने के लिए कोई उपयुक्त जगह तो नहीं। अतएव बुरहान चुपचाप उसकी तरफ़ नज़रें चुराकर देख लेता और चेहरे की एक-एक रेखा को अपने मस्तिष्क में क़ैद कर लेता। छात्रावास में पहुंचकर उस रूप-रेखा को काग़ज़ पर उतारता। उसे कोई जल्दी नहीं थी। उसका उद्देश्य सिर्फ़ मूल से मिलती-जुलती आकृति का निर्माण करना ही नहीं था (सम्भवतः यह सबसे सरल कार्य होता)। वह चाहता था, रमणीयता व ताज़गी की उस भावना को साकार करना, जो उसके मन को उद्वेलित कर रही थी। उसकी इच्छा थी कि उस चित्र को देखकर दर्शक को वसन्ती प्रभात की शीतलता और वसन्ती पुष्पों की सौंधी प्यारी-सी गन्ध की अनुभूति हो।

अन्ततः चित्र तैयार हो गया। बुरहान ने तय किया कि वह सुबह थोड़ा पहले उठकर पैदल ही उस स्टाप पर पहुंच जायेगा, जहां से वह लड़की ट्रालीबस में चढ़ती है। इस उद्देश्य से ताकि उसे एक कोने में चुपचाप खड़े होकर अपने चित्र की मूल प्रारूप से तुलना करने का अवसर मिल सके। पर लड़की उस सुबह आयी ही नहीं। दूसरे दिन, तीसरे व चौथे दिन भी वह नहीं आयी। बुरहान ने सोचा कि सम्भवतः वह लड़की हमेशा खचाखच भरी रहनेवाली ट्रालीबस से उकताकर बस से यात्रा करने लगी होगी।

अब बुरहान हर सुबह मुंह अंधेरे ही छात्रावास से कला विद्यालय के लिए पैदल निकल पड़ता, और पैदल ही वापस लौटता। उसने उस स्टाप से लगी सड़कों व गलियों के कई चक्कर लगाये, दूकानों में झांककर देखा, पर वह सुन्दर लड़की उसे फिर कभी नहीं दिखाई दी। वह स्वप्न की तरह अदृश्य, कोहरे की तरह विलय और प्रभात की प्रथम किरणों की तरह विलीन हो चुकी थी।

बुरहान की रातों की नींद हराम हो गयी, उसका चैन खो गया।

है गरचे रूपोश, तू हमेशा मेरी निगाहों के सामने है
तेरे तसव्वुर में सब है, पर तुझसे मिलने की लज़्ज़तें कहां हैं।

तब से बुरहान के सारे सपने, उसके सारे भाव उस लड़की से बंधकर रह गये थे। उसका रूप बुरहान की आंखों के सामने उसी तरह तैरने लगा, जैसे कभी बचपन में उसके पिता की कार्यरत मूर्त्ति उसकी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख तैरा करती थी। चित्र को देखकर बुरहान को लगता कि वह उस लड़की के स्वच्छ सौन्दर्य का शतांश भी अंकित नहीं कर पाया है।

"हर वस्तु को ध्यान से देखो और हृदय में उतार लो," बारदिन ज़ोर देकर कहा करते थे। "तुम्हें उसका अंकन नहीं करना है, उन भावनाओं का अंकन करना है, जो उस वस्तु ने तुम्हारे मन में जगा दी हैं। वस्तु को इस तरह प्यार करो कि तुम्हारा हृदय धड़कने लगे, तुम्हारे हृदय में संगीत की वह गूंज छाने लगे कि तुम कह उठो: 'मुझे याद है वह सुन्दर क्षण।' तभी तुम दूसरों का भी हृदय धड़का सकते हो।"

बुरहान द्वारा अंकित लड़की के चित्र को देखकर कोई भी अप्रभावित नहीं रह सकता था। पर अब स्वयं बुरहान अपनी कृति को एक दूसरी ही नज़र से देखने लगा था। अतएव उसे ऐसा लगता था कि वह अपनी भावनाओं का पूरी तरह अंकन नहीं कर सका। उसकी इच्छा हो उठी कि वह एक नये चित्र का सृजन करे, और इस बार संगमरमर में उसे अंकित करे। उसे लड़की की गोरी-गोरी संगमरमरी-सी बांहें याद आने लगीं, याद आने लगी उसके चेहरे की स्वच्छता और उसकी लम्बी, हलकी-से एक ओर को झुकी हुई, हंसिनी जैसी गोरी गरदन। वह सोचने लगा: "संगमरमर की... संगमरमर की मूर्त्ति... रंग उसके अंकन के लिए कुछ ज़्यादा ही रूखे, कुछ ज़्यादा तेज़ ही हैं..."

उसने अपनी भावी मूर्त्ति का पेन्सिल से बनाया रेखाचित्र बारदिन को दिखाया। अपनी मूंछों के भीतर मुसकराते हुए बारदिन ने उससे पूछा: "क्या नाम रखोगे अपनी इस मूर्त्ति का? प्रेम की आधुनिक देवी?"

"संगमरमर की लड़की," बुरहान ने धीरे-से उत्तर दिया।

"हुं... हुं..." बारदिन ने अपना चश्मा आंखों के ऊपर चढ़ाते हुए उसकी ओर देखा। "मेरे प्रिय, यह तो बताओ कि क्या तुम उसके भावहीन शांत रूप का अंकन करोगे?"

"नहीं..."

"ओह... नहीं। तो फिर उसमें गति होगी, जीवन होगा, खिंचाव होगा, आवेग होगा, यही ना?"

बुरहान ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"तुम्हारी यह मूर्त्ति यौवन की प्रतिमूर्त्ति होनी चाहिए," बारदिन ने कहा। "'यौवन'—यही विषय होना चाहिए इसका। मत भूलो कि यह तुम्हारा उपाधि प्राप्ति के लिए किया जानेवाला शोध-कार्य है," बारदिन हंसा और अपनी प्रिय पंक्ति गुनगुना उठा: "मुझे याद है वह सुन्दर क्षण..."

बुरहान लगभग पांच महीने तक संगमरमर में अपने प्रेम व अपने स्वप्न को मूर्त्त करता रहा। इन दिनों वह पूरी तरह भूल चुका था कि कब दिन होता है और कब रात। मूर्त्ति का निर्माण सफलतापूर्वक पूरा हो गया। जिसने भी उसे देखा, उसकी प्रशंसा की। कुछ तो यहां तक कहते थे कि यह मूर्त्ति किसी भी प्रदर्शनी की शोभा बढ़ा सकती है।

पर मूर्त्ति निर्माण के इन दिनों में निष्ठुर न्यायाधीश, कठोर शिक्षक और उदार प्रशिक्षक बारदिन, जिनकी राय उसके लिए बहुमूल्य होती थी और जिनके शब्दों को वह अंतिम न्यायिक फ़ैसले की

तरह मान्यता देता था, उसके निकट उपस्थित नहीं रहा। विदेश से लौटते समय बारदिन रास्ते में बीमार पड गये थे। उस समय वह मास्को के एक चिकित्सालय में भर्ती थे। यों कला विद्यालय के निर्देशक ने बताया था कि उन्हें चिकित्सालय से छुट्टी मिल गयी है और वे अब लौटने ही वाले हैं। पर कल वे नहीं आ सके, न दिन की उड़ान से, और न शाम की। और आज शोध-कार्य पर वाद-विवाद का दिन था, और जैसा कि उसके सहपाठी कहते थे, "पाप-मोचन" मे गुज़रे बिना ही उन्हें अपने शोध-कार्य के परीक्षकों की आपत्तियों का उत्तर देना था। यही मुख्य कारण था बुरहान की अनियंत्रित घबराहट का।

कारिडर में सम्भवतः एक हज़ार बार चक्कर लगाने के बाद बुरहान ने सड़क की ओर खुलनेवाली खिड़की से बाहर आंखें गड़ाकर देखा। सहसा उसका हृदय तेज़ी से धड़कने लगा। उसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं आया।

"बाप रे बाप, किसको देख रहा हूं मैं? नहीं हो सकता यह," उसके मुंह से निकल पड़ा।

"क्या? किसको देख लिया तुमने?" साथियों ने तीव्रता से उससे प्रश्न किया।

"वो... उधर, टैक्सी का बिल दे रहे हैं।"

"हां, हैं तो वे ही।"

"कैसा चमत्कार है!"

"हां, भाइयो, वे हवाई अड्डे से सीधे यहीं चले आ रहे हैं," अन्य साथियों के स्वर को दबाता हुआ बुरहान का एक सहपाठी इसलाम बाज़ारोव बीच में ही बोल उठा।

बुरहान समेत सभी छात्र बारदिन से भेंट करने के लिए दौड़ पड़े। पर ठीक इसी क्षण सभा-भवन का, जिसमें शोध-कार्य पर वाद-विवाद

हो रहा था, द्वार खुला और उसमें से बाहर झांकते हुए एक स्त्री ने ऊंची तीव्र आवाज़ में घोषणा की:

"फ़ैज़ुल्लायेव!"

बुरहान की टांगों में जैसे ताक़त ही नहीं रह गयी। उसे ऐसा लगा जैसे किसी ने उसकी टांगों में बर्फ़ीला पानी उंडेल दिया हो। पर क्या किया जाये, जाना तो था ही। वह दिल पर पत्थर रखकर सभा-भवन के अन्दर गया, पर जब दस मिनट बाद वह वहां से लौटा तो उसका चेहरा प्रसन्नता से चमक रहा था। बाहर आते ही वह तेज़ी से दौड़कर अलेक्सान्द्र अलेक्सान्द्रोविच बारदिन के आलिंगन में बंध गया।

"देख रहा हूं, तुम्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई है। शाबाश। बधाई। तुम पर मेरा हमेशा से विश्वास है। ओह, बीच में परेशान करना अच्छा नहीं लग रहा है..." बारदिन ने घड़ी देखी। "पर कोई बात नहीं, मध्यांतर होने ही वाला है। आइये, सोफ़े पर बैठकर बातें करें, समय बड़ी जल्दी बीत जायेगा।"

अंतिम कक्षा के छात्र बारदिन के चारों ओर एकत्रित हो गये। सभी उन्हें देखकर प्रसन्न थे। वे हर एक के प्रति शुभ कामना प्रकट कर रहे थे और जिनके कार्य की समीक्षा अभी होनी शेष थी, तरह-तरह का विनोद कर उनका साहस बढ़ा रहे थे। कारिडर में रह-रहकर अट्टहास की ऊंची आवाज़ गूंज जाती थी। ...

"श... स..." होंठों पर उंगली रखकर वे स्वयं ही सभी को शांत भी कर रहे थे। "परीक्षा-समिति के सदस्यों को शोर से परेशान न करें।" बुरहान को उन्होंने अपनी बग़ल में बिठा लिया था। वे अधैर्य के साथ उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे जब वे मूर्त्ति को देख पायेंगे। बुरहान भी यही बात सोच रहा था।

"कमज़ोर हो गये हो तुम, मेरे प्रिय," बारदिन बोले। "बहुत काम किया क्या?"

"हां, बहुत।"

"हां, समझा, अंतिम वर्ष की परीक्षा जो है। इसके अलावा घबराहट, चिन्ता, ढेर सारी परेशानियां..."

"हां, जैसा परीक्षाओं से पहले अक्सर होता ही है..."

"सिर्फ़ परीक्षा की ही वजह से?" बुरहान के कन्धे को अपनी ओर खींचते हुए बारदिन मुसकराये।

सौभाग्य से इसी क्षण मध्यांतर हो गया। परीक्षा-समिति के सदस्य बाहर आये और बारदिन को देखकर उनके चारों ओर एकत्रित हो गये। बुरहान एक तरफ़ खिसक गया। 'ओह, उस्ताद,' उसने एक गहरी सांस ली। 'काश, आप सब कुछ जानते। प्यार में तड़प रहा हूं, यह तो आपने अनुमान लगा ही लिया, पर इसमें नाउम्मीदी ही नाउम्मीदी है, यह मैं किसी को नहीं बताऊंगा।'

पर ऐसा हुआ भी और नहीं भी। बारदिन ने जैसे ही संगमरमर की लड़की को देखा, वे उमंग से चिल्ला उठे:

"शाबाश!"

विभिन्न कोणों व विभिन्न दिशाओं से मूर्त्ति का अवलोकन करते हुए वे उसके चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वे मूर्त्ति के रचना-सौष्ठव, कलात्मकता और मन को उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण करनेवाली उसकी विशिष्टता को देखकर आनन्द का अनुभव कर रहे थे। बोले, प्राचीन यूनानवासियों ने अपनी पौराणिक कथाओं में प्रेम के कारण ही विश्व को गतिमान माना है। उनका यह कथन शत-प्रशित सही है, और यह कहकर बारदिन हंस पड़े।

"अब समझ में आया उसकी बीमारी का कारण!" वे उमंग में भरकर बोले। "कितना परेशान किया तुमने उसे?"

"किसे?" बुरहान समझ नहीं पाया।

"लो, अब ख़ुद ही पूछ भी रहा है। वाल्या को, और किसको?"

"कौन-सी वाल्या को?"

"अरे भाई, अपनी पोती की सहेली को मैं बचपन से जानता हूं। उसे कोई और समझ बैठूं, ऐसी भूल मैं नहीं कर सकता।"

"और मैं... और मैं..."

बुरहान के स्वर के कंपन ने उसका रहस्य खोल दिया। पर अब चकित होने की बारदिन की बारी थी। उन्होंने बुरहान का हाथ पकड़कर कुर्सी पर बिठाया और खुद उसके सामने बैठ गये।

"हां, अब बताओ, क्या हुआ तुम्हारे साथ?" उन्होंने पूछा।

बुरहान अपने विचारों को तुरन्त ही एक सूत्र में बांध नहीं सका। वह घबराहट का अनुभव कर रहा था। न जाने क्यों उसे विश्वास ही नहीं आ रहा था कि संगमरमर की लड़की का वस्तुतः कोई अस्तित्व भी है, और सम्भवतः उसकी उससे भेंट भी हो सकती है। पर अपने शिक्षक को मूर्त्ति-निर्माण का विचार उत्पन्न होने की गाथा सुनाते समय उसने अपनी भावनाओं का कोई ज़िक्र नहीं किया। किसी स्पष्ट बात को स्पष्ट करने की ज़रूरत ही नहीं होती।

बारदिन की आनन्द से थिरकती आंखें बुरहान के चेहरे पर ही टिकी रहीं।

"वाल्या बीमार हो गयी थी। उसकी रीढ़ की हड्डी में कुछ तकलीफ़ थी," बारदिन ने कहा। "पर अब स्वस्थ है। अब वह फिर से ट्रालीबस में जाना शुरू कर देगी। पर मेरे भाई, हम उससे आज ही मिलेंगे। हां, हां, आज ही शाम को। वाल्या के यहां जन्मदिन मनाया जा रहा है उसका। वाल्या को उसका चित्र उपहार-स्वरूप दे देना, और हां, उसे अपनी संगमरमर की मूर्त्ति को देखने का निमन्त्रण देना मत भूलना। क्यों, ठीक है ना?"

बुरहान ने सिर हिलाकर अपनी सहमति प्रकट की। उसके गाल लाल भभूके हो उठे थे।



सारबान

प्रस्तुत कथाकार का जन्म सन् १९४० में अमानदर्रा नामक गांव में एक सामूहिक किसान के परिवार में हुआ था। सन् १९६३ में उन्होंने व्ला० इ० लेनिन ताजिकिस्तान राजकीय विश्वविद्यालय के भाषाशास्त्र संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। उनकी रचनाएं सन् १९६५ से प्रकाशित हो रही हैं। कथाकार सारबान का प्रथम कहानी-संग्रह "अभी कुछ कहना बाक़ी है" सन् १९६९ में प्रकाशित हुआ। उनके लघु उपन्यास "पहली घण्टी" (महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के दौरान एक ताजिक नारी की जीवन्त जीवन-गाथा), "ज़िरह-बख़्तर", "जिप्सी" (ग्राम्य जीवन के बारे में), "एक थी..." (ज़रफ़शान घाटी में सोवियत शासन की स्थापना से संबंधित विषयवस्तु पर आधारित), "ग्रेटकोट" (एक ऐसे बालक की जीवन-गाथा, जिसका पिता युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ था) और अनेक दूसरी कहानियां पाठकों में शीघ्र ही लोकप्रिय हो गयीं और उन्हें सातवें दशक के ताजिक गद्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

चिड़ीमार

चिरप्रतीक्षित समय आ पहुंचा : चिड़ियों के बच्चों ने अपने घोंसले छोड़ दिये थे। माता-पिता के निरीक्षण में उन्होंने उड़ना सीख लिया था।

वह चिड़ियों के बच्चों को पकड़ने के लिए पहाड़ों पर जाता और उन्हें घर लाकर तीन-तीन, चार-चार की संख्या में पिंजड़ों में बन्द कर देता। वह असली चिड़ीमार था, पर पकड़ता केवल तीतरों को ही था। तीतरों से उसे प्यार था, उनका गाना उसे अच्छा लगता था। उनके दीप्तिहीन पर सुकुमार पंख उसे बड़े भले लगते थे।

इन दिनों उसका घर चिड़िया-बाज़ार लगता था : लाल चोंचवाले बंदियों से युक्त पिंजड़ों की क़तारें ही क़तारें लग जाती थीं। उन्हें देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता होती। वह उनका बहुत ध्यान रखता, उनके लिए पहाड़ी ढलानों की घास में से टिड्डों को पकड़कर लाता। जैसे ही वह उनके पिंजड़ों में ऊपर से टिड्डा छोड़ता, तीतरों के मुंह चौड़े खुल जाते, शिकार के लिए छीना-झपटी होने लगती। जिस सौभाग्यशाली के पल्ले शिकार का बड़ा टुकड़ा पड़ जाता, वह सिर उठाकर दूसरों से अपना हिस्सा दृढ़तापूर्वक बचाता। इस तरह वे पोटे हर रोज़ परस्पर लड़ते-झगड़ते हुए बड़े होते रहे। अन्ततः उनके लिए पिंजड़ों में स्थान छोटा पड़ता गया। सबसे शक्तिशाली लड़ाकू तीतरों को चिड़ीमार ने दूसरे पिंजड़ों में रख दिया, पर जो कमज़ोर निकले, उन्हें उसने अपने सम्बन्धियों व मित्रों को बेच दिया।

चिड़ीमार को एक हृष्ट-पुष्ट एड़ीदार तीतर ख़ास तौर से पसन्द आ गया था। उस तीतर की टांगें उक़ाब की टांगों जैसी छोटी थीं,

चोंच सीधी और मज़बूत थी। उसका गठा शरीर नदी के गोल पत्थर जैसा लगता था। वह अपनी पूरी शक्ति से लड़ता और जब थककर चूर हो जाता तो चोंच को पूरा खोलकर भारी सांसें लेता हुआ तब तक अपने स्थान पर खड़ा रहता, जब तक उसका स्वामी उसे पिंजड़े में हांक न देता। इसके अतिरिक्त यह बांका (चिड़ीमार उसे प्यार में और थोड़े व्यंग्य से इसी नाम से पुकारता था) दिन भर गा सकता था। लेकिन वहां शिकार पर कुमकी गायक के रूप में इसका व्यवहार कैसा रहता होगा?

चिड़ीमार चिड़ियों को फंसाने के लिए नौरोज़ के त्योहार के हफ़्ते भर पहले से ही फन्दा लगाना शुरू कर देता था। हर शाम वह तीतर के पिंजड़े को पीठ पर लादता, चोग़े के पल्लों को कमर पर लपेटता, फन्दों की अंटी, चाक़ू और पतली टहनियों के गट्ठर को साथ लेकर पहाड़ी की ओर रवाना हो जाता।

सुबह सवेरे ही फन्दे फैलाने शुरू कर देता। सर्वप्रथम पिंजड़े को रखने के लिए ज़मीन साफ़ करता, उसके निकट ही एक खूंटी गाड़ता, फन्दे के छोर को उससे बांधता और छल्लों के रूप में सारी अंटी को खोलकर फैला देता और ज़मीन में गड़ी हुई पतली टहनियों से हर फ़न्दे को मज़बूती से जकड़ देता। इस तरह एक विशाल वृत्ताकार जाल तैयार हो जाता। फन्दे के नीले छल्ले घास तथा झाड़ियों के स्तर से थोड़ा ऊपर रखे जाते। जाल के मध्य में चिड़ीमार तीतर के पिंजड़े को छिपा देता और स्वयं भी झाड़ियों में छिप जाता। कुमकी तीतर के चुप रहने पर अपने सूखे होंठों को हलके से हिलाते हुए वह उसे उकसाता: "गा भई, गा, तेरा क्या जाता है? मैंने सारा इन्तज़ाम कर लिया है। अपने भाई-बंदों को बुला। गा, सुन्दर गाना गा, ज़ोर से गा।"

प्रतीक्षा की मीठी बेचैनी में वह अनजाने ही अपने जीभ को तालू

से लगा लेता और मादा तीतर से मिलती-जुलती गाने की आवाज़ निकालने लगता। जीभ की नोक को थोड़ा बायीं ओर घुमाकर वह नर की आवाज़ की भी नक़ल कर सकता था। और तभी पिंजड़े में बंधक तीतर की आवाज़ गूंजने लगती। सम्मोहित-सा वह तीतर उत्तेजित होकर गाने लगता।

पर लगता था इस बार वे जल्दी कर गये। चिड़ीमार ने श्श... की आवाज़ कर बांके को चुप करा दिया। थोड़े समय बाद दूर घाटी से किसी तीतर के गाने की आवाज़ आने लगी। मज़े की बात यह थी कि यह जवाबी आवाज़ कहीं नीचे बायीं तरफ़ से, जहां नदी का शोर सुनाई देता है, आ रही थी।

पर्वत के ऊपर प्रकाश फैल गया था, साथ ही फैल गयी थी पक्षियों की उत्तेजित आवाज़ें। उनकी आवाज़ें परस्पर मिलकर किसी वैवाहिक संगीत समारोह का दृश्य उपस्थित कर रही थीं। मादाएं इस समय नर तीतर की पुकार पर कुड़कुड़ाती हुई तीर की तरह भागती हैं, कुछ इस तरह कि उसकी प्रतिध्वनि चारों ओर दूर-दूर तक फैल जाती है। यदा-कदा चिड़ीमार की नज़र बांके की आवाज़ पर सब कुछ भूलकर भागती तीतरी पर पड़ जाती। तीव्रता से भागकर आती तीतरी फन्दे में फंस जाती और भयभीत होकर पंख फड़फड़ाने लगती। तब चिड़ीमार अपने छिपने के स्थान से खांसते हुए बाहर निकलता ताकि बांका डरे नहीं और फिर बंदी को फन्दे से छुड़ाकर बग़ल में दबा लेता। तदुपरान्त फन्दे को पुनः ठीक करके अपने पूर्व स्थान में लौट आता।

वह समय, जब मादाएं अण्डों पर बैठती हैं, निकट आ रहा था। इन दिनों चिड़ीमार शिकार के लिए अपने साथ तीतरी को ले जाता था। इस वक्त नर तीतर असाधारण रूप से लड़ाकू व उत्तेजित हो जाते हैं। आमन्त्रण का स्वर सुनकर वे उस दिशा में सिर नीचा किये व अपने कंपकंपाते गले को फुलाते हुए दौड़ पड़ते हैं। उनकी आंखें

नशीली हो जाती हैं और उनमें ख़ून उतर आता है। चिड़ीमार को सिर्फ़ यही ख़याल रखना होता था कि फंदे उलझने न पायें।

फिर भी चिड़ीमार बांके के साथ शिकार पर जाना ज़्यादा पसन्द करता था। बांका सबसे ज़्यादा सतर्क पंछियों को भी प्रलोभित कर धोखे से जाल में फंसाने में निपुण था। जाड़ों के मौसम में चिड़ीमार बांके को किशमिश, भीगे चने और अख़रोट की गिरी का चूरा खिलाता और ताज़ा पानी पीने को देता। वसन्त का मौसम निकट आने पर चिड़ीमार उसके लिए दर्रों में उन पौधों के डंठल ढूंढ़ता, जो इनसानों के लिए विषैले होते हैं पर न जाने तीतरों को क्यों प्रिय होते हैं, रेतीली मकड़ी ढूंढ़ता और पहाड़ियों के ढलानों में हिमसुमन व डैंडेलियन की जड़ें इकट्ठी करता।

उसने अपने प्रिय तीतर की आवाज़ टेप कर रखा था। अतिथियों के आने पर वह अनजाने ही टेपरिकार्डर का बटन दबा देता और पूरा घर तीतर के गायन से भर जाता।

अगले मौसम में चिड़ीमार ने जाल लगाने का टंटा मोल नहीं लिया, उसने इस बार बांके को बन्दूक़ की आवाज़ से भयभीत न होना सिखा दिया था। चिड़ीमार का निशाना सामान्यतः अचूक रहता था। कभी-कभी तो उसके निशाने पर दुर्लभ दुहेरी एड़ीदार तीतर भी आ जाते थे।

एक बार चिड़ीमार ने बांके के तारों से निर्मित पिंजड़े को आर्चा की शाखा पर टांग दिया और स्वयं पास के एक पेड़ के कोटर में छिप गया। रात भर पानी बरसने के बाद आसमान साफ़ हो गया था। वृक्षों की शाखाओं से पानी की भारी-भारी बूंदें टपक रही थीं। सिर को एक ओर झुकाते हुए बांका कुछ देर तक बूंदों की आवाज़ सुनता रहा। तत्पश्चात अपनी चोंच से ख़ाली कठौते पर ठक-ठक करते हुए धीरे से आवाज़ देने लगा। उसकी आवाज़ का उत्तर देते हुए तत्क्षण

उसकी ओर एक मादा उड़ आयी और एक गोल पत्थर पर बैठ गयी। चिड़ीमार ने निशाना साधा, पर मादा निशाने की मार से बहुत दूर थी।

बांका अपने पिंजड़े में चक्कर काटता हुआ प्रसन्नता से नाचने-कूदने लगा। लगता था जैसे वृक्ष, उसकी शाखाएं तथा स्वयं प्रभात ही गायन कर रहा था। चिड़ीमार के कानों में घंटियां बजने लगीं। मादा पंख फड़फड़ाती हुई निकट उड़ आयी थी, पर अब सेवती की झाड़ियों ने उसे ढक लिया था।

सहसा गोली चलने की आवाज़ सुनाई दी। मादा पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गयी। चिड़ीमार ने अचकचाकर अपनी बंदूक़ की ओर देखा। ठीक इसी समय उसकी निगाह पिंजड़े में रक्तरंजित बांके पर पड़ी। वह उस वृक्ष की ओर, जिसमें पिंजड़ा लटका हुआ था, दौड़ पड़ा। सहसा उसे अपने पीछे झाड़ियों के बीच से रास्ता बनाते हुए किसी के आने की आवाज़ सुनाई दी। चिड़ीमार ने धीरे-से बंदूक़ उठायी और उस अपरिचित के सिर का निशाना साध लिया। पर उसके हाथ कांप उठे, बंदूक़ की नली ऊपर उठ गयी। एक धमाका हुआ। अपरिचित अपने स्थान पर गड़-सा गया। उसके मुंह से चीख़ निकल पड़ी।

"लानत हो तुम पर!" वृक्ष के पीछे से निकलते हुए चिड़ीमार क्रोध से बोला। "मेरे सिर पर तुम कहां से आ धमके?"

बांके का हत्यारा वह व्यक्ति शर्म से अपने स्थान पर जड़ हो गया।

"देखिये... मुझे पिंजड़ा दिखाई ही नहीं दिया था।"

"तुम क्या अन्धे हो गये थे?"

"दूर से पिंजड़े के तार बिलकुल नज़र नहीं आ रहे थे," असफल निशानेबाज़ ने अपनी सफ़ाई देते हुए कहा। "मैं आपको दूसरा तीतर दे दूंगा। इससे उन्नीस नहीं होगा।"

"भाड़ में जाये तुम्हारा तीतर! मेरे इस तीतर की जोड़ का कहीं ढूंढ़े नहीं मिलेगा..."

चिड़ीमार ने वृक्ष से पिंजड़ा उतारा, तली की डोरियां खोलीं और बांके को बाहर निकाल लिया। पंछी अब तक ठंडा पड़ चुका था। चिड़ीमार ने मृत पक्षी को हथेली पर उठा लिया और कुछ चिन्तनपूर्ण मुद्रा में उस पर हाथ फेरने लगा। तत्पश्चात उसे अपरिचित के पांवों के पास फेंकते हुए बोला:

"ले लो, यह तुम्हारा शिकार है।"

"नहीं, नहीं, ऐसा क्यों? मैं नहीं लूंगा। भगवान की सौगन्ध, नहीं लूंगा।"

पिंजड़े को झाड़ियों में फेंककर चिड़ीमार धीरे-धीरे गांव की ओर बढ़ चला। आज वह पहली बार शिकार से ख़ाली हाथ लौट रहा था।

घर लौटकर उसने टेपरिकार्डर खोल दिया। उसका बांका पुनः अपने पूरे सुर में कुहुक रहा था। चिड़ीमार की आंखों से मन्द-मन्द आंसू बह चले।

सात दिन तक उसने बांके का शोक मनाया। फिर एक दिन टेप-रिकार्डर लेकर वह पहाड़ की ओर रवाना हो गया। आर्चा के वृक्ष के तले जगह इकसार कर उसने वहां पर अपना टेपरिकार्डर रख दिया। बटन दबाते ही उसके प्रिय बांके के गीत का अनवरत स्वर फूट उठा। पर उन यांत्रिक सुरों के अंतराल में भयावह शांति छायी रही।



पाठकों से

रादुगा प्रकाशन, ताशक़न्द, इस पुस्तक के अनुवाद और डिज़ाइन के बारे में आपके विचारों के लिए अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त करके भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। कृपया हमें इस पते पर लिखिये:

रादुगा प्रकाशन
मकान नम्बर ३३, सी – १४
ताशक़न्द – ७०००११
सोवियत संघ